TEXT CROSS WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182771

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—730—28-4-81—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801 W445 Accession No. PG H3744

Author [illegible]

Title [illegible]

This book should be returned on or before the date last marked below

साहित्य-सिद्धान्त

[Theory of Literature]

साहित्य-सिद्धान्त

Theory of Literature

BY

Renè Wellek and Austin Warren

मूल लेखक

रेने वेलेक : आस्टिन वारेन

अनुवादक

बी० एस० पालीवाल

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्रकाशक
लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१

मूल्य : १२.००

मुद्रक
इण्डियन प्रेस, (प्रा०) लिमिटेड
३६, पन्नालाल रोड
इलाहाबाद

आमुख

इस पुस्तक का नामकरण करने में बहुत अधिक कठिनाई पेश आयी थी। इसके लिए उपयुक्त "संक्षिप्त शीर्षक" "साहित्य-सिद्धान्त और साहित्यिक अध्ययन की क्रिया-विधि" हो सकता था, परन्तु वह भी बहुत लम्बा हो जाता। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले इस तरह का शीर्षक रखा जा सकता था, क्योंकि तब आवरणपृष्ठ पर एक पूरा विश्लेषणात्मक शीर्षक देकर पुस्त पर "साहित्य" लिख देने से ही काम चल जाता था।

हम लोगों ने एक ऐसी पुस्तक लिखी है, जिससे मिलती-जुलती कोई दूसरी पुस्तक, हमारी जानकारी मे, नहीं लिखी गयी है। यह ऐसी पाठ्य-पुस्तक नही है जिसमे छात्रों को साहित्यिक मूल्यांकन के तत्वों से परिचित कराया गया हो, न तो यह (मारिज की पुस्तक **एम्स एण्ड मेथड्स** की तरह) सैद्धान्तिक आलोचना में प्रयुक्त प्रविधियों का सर्वेक्षण है। इसका कुछ सिलसिला काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र (जिसकी परम्परा अरस्तू से शुरू होकर ब्लेयर, कैम्पबेल और केम्स तक आयी हुई है), ललित साहित्य की विधाओं और शैलीशास्त्र के व्यवस्थित विवेचनों से, या साहित्यालोचन के सिद्धान्त कही जानेवाली पुस्तकों से जोड़ा जा सकता है। परन्तु हम लोगों ने "काव्यशास्त्र" (या साहित्य-सिद्धान्त) और "आलोचना" (साहित्य का मूल्यांकन) को "पांडित्य" (अनुसंधान) और "साहित्यिक इतिहास" ("सिद्धान्त और आलोचना के रूढ़ पक्ष" के विपरीत, साहित्य के "गतिशील पक्ष") से भी जोड़ना चाहा है। यह पुस्तक वाल्जेल की पुस्तक **गेहाल्ट ऐण्ड गेस्टाल्ट**, या जूलियस पीटर्सन की पुस्तक Die Wissenschaft von der Dichtung या टामशेव्स्की की पुस्तक **लिटरेरी थ्योरी** जैसी कुछ जर्मन और रूसी पुस्तकों के निकट पड़ती है। परन्तु जर्मन लेखकों की पुस्तकों से हमारी पुस्तक का फर्क यह है कि हमने उनकी तरह महज दूसरों के दृष्टिकोणों

का रूपान्तर करने से बचना चाहा है, हालाँकि हमने दूसरे परिप्रेक्ष्यों और पद्धतियों का ध्यान रखा है, एक सुसंगत दृष्टिकोण से लिखा है; टामशेव्स्की से हमारा फर्क यह है कि हमने छंदशास्त्र जैसे विषयों पर परिचयात्मक शिक्षा नहीं देनी चाही है। हम जर्मनों की तरह उदार (सर्वग्राही) या रूसियों की तरह मताग्रही नहीं हैं।

प्राचीन अमरीकी मानकों के अनुसार उन अवधारणाओं का निरूपण करने का प्रयास, जिनको आधार बनाकर साहित्य का अध्ययन किया जाता है (और जिसे करने के लिए व्यक्ति को 'तथ्यों' से परे जाना होता है)। आडम्बरपूर्ण और यहाँ तक कि "अविद्वज्जनोचित", प्रतीत होगा और नितान्त विशेषीकृत क्षेत्रों का सर्वेक्षण और मूल्यांकन करने का हमारा प्रयत्न किंचित् दुस्साहसपूर्ण लगेगा। प्रत्येक विशेषज्ञ अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र के विषय में दिये गये हमारे ब्योरे से निश्चित रूप से असन्तुष्ट रहेगा। परन्तु हमारा लक्ष्य बहुत बारीकी में जाने का नहीं रहा है : जो साहित्यिक उदाहरण दिये गये है वे मात्र उदाहरण है, प्रमाण नहीं; पुस्तकों का उल्लेख करते समय भी कुछ 'चुनी हुई' पुस्तकों का ही उल्लेख किया गया है। हमने जितने प्रश्न उठाये है उन सभी के उत्तर भी नहीं दिये गये हैं। हमारे विचार से स्वयं हमारे लिए और दूसरे लोगों के लिए भी सबसे उपयोगी बात यह है कि हमारा पाण्डित्य अन्तर्राष्ट्रीय हो, हम उपयुक्त प्रश्न उठायें और पद्धति के लिए एक **तर्क शैली** प्रस्तुत कर सकें।

इस पुस्तक के दोनों लेखकों की पहली मुलाकात आयोवा विश्वविद्यालय में सन् १९३९ में हुई थी और इन्होंने तत्काल यह महसूस किया था कि साहित्यिक सिद्धान्त और कार्य-पद्धति के विषय में हमारे विचार एक-दूसरे से काफी मिलते-जुलते हैं।

यद्यपि हमारी पृष्ठभूमियाँ और प्रशिक्षण एक-दूसरे से भिन्न थे, परन्तु हमारा विकास एक जैसे ढंग से हुआ था। ऐतिहासिक अनुसंधान और "विचारों के इतिहास" के क्षेत्र में काम करने के बाद हम दोनों स मान्यता पर पहुँचे थे कि साहित्य का अध्ययन विशिष्ट रूप से साहित्यिक होना चाहिए। दोनों का विश्वास था कि "पाण्डित्य" और "आलोचना" में कोई विरोध नहीं है; दोनों "समकालीन" और विगत साहित्य के बीच फर्क नहीं मानते थे।

हम दोनों ने १९४१ में सहयोगी आधार पर लिखे गये एक ग्रन्थ **लिटरेरी स्कालरशिप** में "इतिहास" और "आलोचना" पर अध्याय लिखे थे, जिसके

प्रेरणा-स्रोत और सम्पादक नार्मन फोएस्टर थे, जिनके विचारों और प्रोत्साहनों के हम बहुत ऋणी हैं। हमने इस पुस्तक को उन्हीं को समर्पित भी किया होता (पर खतरा यह था कि इससे उन्हीं के सिद्धान्त के विषय में भ्रम पैदा होता।)

इस पुस्तक के अध्याय अपनी-अपनी रुचि के अनुसार बाँटे गये थे। श्री वेलेक मुख्यतः अध्याय १-२, ४-७, ९-१४ और १९ के लिए और श्री वारेन अध्याय ३, ८ और १५-१८ के लिए उत्तरदायी हैं; अन्तिम अध्याय दोनों ने मिलकर लिखा था। परन्तु यह पुस्तक ऐसे सहयोग का सच्चा उदाहरण है जिसमें लिखी गयी बातों से दोनों लेखक सहमत हैं। शब्दावली, टोन और बल में निःसन्देह दोनों लेखकों में थोड़ी-बहुत असंगतियाँ रह गयी हैं; परन्तु वे यह भी सोचते हैं कि इस कमी की पूर्ति इस रूप में हो जाती है कि दो व्यक्ति मूलतः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

डा० स्टीवेन्स तथा राकफेलर फाउण्डेशन के ह्यूमैनिटीज डिवीजन को, जिनकी सहायता के बिना यह पुस्तक लिखी ही नहीं गयी होती; और आयोवा विश्वविद्यालय के कुलपति, डीनों और विभागाध्यक्ष को, जिन्होंने अपनी सहायता दी और समय को छूट दी; आर० पी० ब्लैकमूर और जे० सी० रैन्सम को, जिन्होंने प्रोत्साहन दिया; वैलेस फाउली, रोमन जैकबसन, जान मैक गैलियार्ड, जान सी० पोप, और रार्ब पेन वारेन को जिन्होंने सके कुछ अध्यायों को पढ़ने का कष्ट उठाया; और कुमारी एलिसन ह्वाइट को, जिन्होंने इस पुस्तक-लेखन के पूरे दौरान सहयोग बनाये रखा, धन्यवाद देना तो बाकी ही रह गया था।

लेखक कुछ सम्पादकों और प्रकाशकों की उदारता के लिए आभारी हैं जिन्होंने इनके इससे पूर्व लिखे गये लेखों में से कुछ अंश इस पुस्तक में शामिल करने की अनुमति दी : लूसियानिया यूनिवर्सिटी प्रेस और **सदर्न रिव्यू** के भूतपूर्व सम्पादक क्लीन्थ ब्रुक्स ("मोड आफ एक्जिस्टेंस आफ दी लिटरेरी वर्क"); यूनिवर्सिटो आफ नार्थ कैरोलिना प्रेस (**लिटरेरी स्कालरशिप,** सं० फाएस्टर १९४१ में प्रकाशित "लिटरेरी हिस्ट्री" के एक अंश के लिए) कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस ("पीरियड्स एण्ड मूवमेण्ट्स इन लिटरेरी हिस्ट्री" और "द पैरलैलिज्म बिटवीन लिटरेचर एण्ड आर्ट्स" के अंशों के लिए जो **इंग्लिश इंस्टीट्यूट एनुअल्स**, १९४० और १९४१ में प्रकाशित हुए थे); फिलासफिकल लाइब्रेरी

(**ट्वेण्टिएथ सेंचरी इंग्लिश**, सं० निकरबोकर, १९४६ में प्रकाशित "रिवोल्ट अगेंस्ट पाजिटिविज़्म" और "लिटरेचर एण्ड सोसायटी" के अंशों के लिए); और जान पामर, संपादक सेवानी रिव्यू "द ग्रेजुएट स्टडी आफ लिटरेचर" के लिए।

—रेने वेलेक

—आस्टिन वारेन

साहित्य-सिद्धान्त

विषय-सूची

आमुख

खण्ड एक : परिभाषाएँ और विभेद

साहित्य और साहित्यिक अध्ययन .. . १७
साहित्य का प्रकृति २४
साहित्य का प्रयोजन ३६
साहित्य-सिद्धान्त, आलोचना तथा इतिहास ५०
सामान्य, तुलनात्मक तथा राष्ट्रीय साहित्य .. . ६१

खण्ड दो : प्रारम्भिक कार्रवाई ७३
सामग्री की क्रम-व्यवस्था और स्थापना ७५

खण्ड तीन : साहित्येतर दृष्टियों से साहित्य का अध्ययन

प्रस्तावना ९५
साहित्य और जीवनी ९८
साहित्य और मनोविज्ञान १०६
साहित्य और समाज १२४
साहित्य और विचार १४७
साहित्य तथा अन्य कलाएँ १६७

खण्ड चार : साहित्य का अंतरंग अध्ययन

साहित्यिक कला-कृति का विश्लेषण १८५
यूफोनी, रिद्म और छन्द .. . २०६

पृष्ठ

शैली और शैलीशास्त्र २२६
बिम्ब, रूपक, प्रतीक, मिथ २४२
आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार २७७
साहित्यिक विधाएँ २९७
मूल्यांकन ३१४
साहित्य का इतिहास ३३४

खण्ड पाँच : अकादमिक स्थिति

कालेजों में साहित्य का अध्ययन ३६१

———

खण्ड एक

परिभाषाएँ और विभेद

एक

साहित्य और साहित्यिक अध्ययन

सबसे पहले हमें यह समझ लेना होगा कि साहित्य और साहित्य विषयक अध्ययन में क्या फर्क है। ये दोनों दो भिन्न क्रियाएँ हैं—इनमें से एक सृजनात्मक है, कला है; दूसरी यदि ठीक-ठीक एक विज्ञान नहीं है तो भी ज्ञान या विद्या का ही एक प्रकार है। इस भेद को मिटाने के लिए निश्चय ही अनेक प्रयत्न किये गये हैं। जैसे यह तर्क दिया गया है कि जो व्यक्ति साहित्य न लिखता हो वह इसे समझ भी नहीं सकता, कि हीरोइक कप्लेट (एक छन्द-विशेष) लिखने का थोड़ा-बहुत अभ्यास किये बिना पोप का, या मुक्त छन्द में नाटक लिखे बिना एलिजबेथ-युगीन नाटक का अध्ययन न तो कोई व्यक्ति कर सकता है और न उसे करना ही चाहिए। साहित्य-सृजन का अनुभव साहित्य के अध्ययनकर्ता के लिए उपयोगी तो है किन्तु फिर भी उसका काम सर्वथा भिन्न है। उसे साहित्य-विषयक अपने अनुभव को बौद्धिक स्तर पर लाना होता है, उसे एक सुसम्बद्ध योजना का रूप देना होता है, जो तर्कनापरक होने पर ही ज्ञान का रूप ले सकती है। संभव है, उसके अध्ययन की विषय-वस्तु तर्कशून्य हो, या कम-से-कम उसमें कुछ ऐसी बातें पाई जायें जो बिल्कुल तर्कहीन हों, परन्तु इसी लिए उसकी स्थिति चित्रकला के इतिहासकार, या संगीतशास्त्री से, या इस विषय में समाजशास्त्री या शरीर-विज्ञानी से भिन्न नहीं हो जाती।

जाहिर है कि इस सम्बन्ध-स्थापन के कारण कुछ कि न समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। इनके अनेक तरह के समाधान सुझाए गए हैं। कुछ विद्वान् साहित्यिक अध्ययन को ज्ञान मानने से साफ इन्कार करते हैं और इसे एक दूसरा सृजन बताते हैं पर इसका परिणाम हमें अर्थहीन मालूम होता है—पेटर द्वारा किया गया मोनालिसा का वर्णन या साइमण्ड्स या साइमन्स की कृतियों में पाये जाने-

वाले लच्छेदार अंश इसके अच्छे उदाहरण हैं। स तरह की 'सृजनात्मक आलोचना' में प्रायः एक व्यर्थ की पुनरावृत्ति की जाती थी, या अधिक-से-अधिक यों कह सकते हैं कि किसी एक कलाकृति का दूसरी कृति में परिवर्तन किया जाता था जो पहली से निकृष्ट हुआ करती थी। साहित्य और साहित्य के अध्ययन के बीच हमने जो अन्तर किया है उससे अन्य विद्वान् बिल्कुल भिन्न संशयपूर्ण अर्थ निकालते हैं—वे कहते हैं कि साहित्य का 'अध्ययन' तो बिल्कुल हो ही नहीं सकता। हम इसे केवल पढ़ सकते हैं, सका आनन्द ले सकते हैं, इसे सराह सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि कुछ किया जा सकता है तो वह है साहित्य के 'विषय में' तरह-तरह की सूचनाओं का संग्रह। इस तरह का संशयवाद उससे कहीं अधिक व्यापक है जितना हम इसे समझते हैं। व्यावहारिक स्तर पर इसमें परिवेश से सम्बन्धित तथ्यों पर बल दिया जाता है और इन तथ्यों के दायरे से बाहर जाने के समस्त प्रयासों के प्रति उपेक्षा दिखाई जाती है। कहा जाता है कि सराहना, आस्वाद और उत्कण्ठा का सम्बन्ध निजी आसक्ति से है और गहन पाण्डित्य के लिए जिस कठोर साधना की आवश्यकता होती है, ये उससे निश्चित रूप से एक पलायन हैं, हालांकि यह पलायन अत्यन्त खेदजनक है पर साहित्यिक अध्ययन को 'पाण्डित्य' और 'सराहना' में बाँट देने से साहित्य के सच्चे अध्ययन की ऐसी भूमिका तैयार नहीं हो पाती जो 'साहित्यिक' होने के साथ ही साथ 'व्यवस्थित' भी हो।

समस्या यह है कि कला और विशेषतः साहित्यिक कला का बौद्धिक विवेचन कैसे किया जाये। क्या ऐसा करना संभव है ? यदि 'हाँ', तो कैसे ? इसका एक उत्तर यह दिया जाता रहा है कि ऐसा प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा विकसित पद्धतियों से किया जा सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि साहित्य के अध्ययन में भी इन पद्धतियों का व्यवहार किया जाये। इस तरह की अनेक पद्धतियों का व्यवहार साहित्य के क्षेत्र में किया भी गया है और इन्हें साफ पहचाना भी जा सकता है। इनमें से एक है वस्तुनिष्ठता, निर्वैयक्तिकता और निश्चितता के वैज्ञानिक आदर्शों की बराबरी करने का प्रयास—वह प्रयास जो कुल मिला कर निरपेक्ष तथ्यों के संकलन का समर्थन करता है। दूसरा है कार्य-कारण परम्परा और मूल स्रोतों के अध्ययन के माध्यम से प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों का अनुकरण करने का प्रयास। असल में होता यह है कि इस 'जनन पद्धति' में कालक्रम के आधार पर किसी तरह का सम्बन्ध सिद्ध करने को उचित ठहराया जाता है। वैज्ञानिक कार्य-कारण सम्बन्ध को जब अधिक कठोरता से लागू किया

जाता है तब इसका प्रयोग सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों को ही मुख्य कारण मानकर साहित्यिक तत्वों की व्याख्या के लिए होने लगता है। इनके अतिरिक्त परिमाणात्मक पद्धतियों को भी साहित्य के अध्ययन में स्थान दिया गया है, जिनका समुचित उपयोग सांख्यिकी, चार्ट और ग्राफ जैसे कुछ ही विज्ञानों में किया जाता है। और अन्तिम है साहित्य के विकास का पता लगाने के लिए जीव-वैज्ञानिक संकल्पनाओं के प्रयोग का प्रयास।

आज लगभग सभी लोग यह मानेंगे कि इन पद्धतियों को जिन प्रत्याशाओं से अपनाया गया था उन्हें ये पूरा नहीं कर सकीं। कभी-कभी वैज्ञानिक प्रणालियाँ किसी नितान्त सीमित क्षेत्र में, या किसी सीमित प्रविधि के बल पर मूल्यवान सिद्ध हुई हैं, जैसे पाठालोचन की कुछ पद्धतियों में या छन्द के अध्ययन में सांख्यिकी का प्रयोग। लेकिन साहित्यिक अध्ययन में वैज्ञानिक हस्तक्षेप के समर्थकों में से अधिकांश ने या तो हार मान ली है और संशयवादी बन गये हैं या यह भ्रम पाल कर अपने मन को सन्तोष दे लिया है कि वैज्ञानिक पद्धति भविष्य में सफल सिद्ध होगी। इन्हीं लोगों में से एक हैं आई० ए० रिचर्ड्स जो प्रायः यह कहा करते हैं कि भविष्य में तंत्रिका-विज्ञान के बल पर समस्त साहित्यिक समस्याओं का सुनिश्चित समाधान निकाला जा सकेगा।

अब हमें उन समस्याओं की ओर लौटना होगा जो साहित्यिक अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञानों के इस व्यापक प्रयोग से उत्पन्न हुई हैं। इन समस्याओं को हँसकर टालना संभव नहीं है, और इसमें सन्देह नहीं कि काफी बड़ा क्षेत्र ऐसा है जिसमें ये दोनों प्रविधियाँ एक-दूसरे को छूती, या यहाँ तक कि एक-दूसरे को आच्छादित तक करती हैं। आगम, निगमन, विश्लेषण, संश्लेषण और तुलना जैसी पद्धतियाँ हर प्रकार के व्यवस्थित ज्ञान में पाई जाती हैं। लेकिन जाहिर है कि दूसरा समाधान भी अपने-आप में काफी प्रशंसनीय है—साहित्यिक अध्ययन की भी अपनी प्रामाणिक पद्धतियाँ हैं जो हर सूरत में प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियाँ न होते हुए भी बौद्धिक पद्धतियाँ तो हैं ही। सत्य की बहुत संकीर्ण धारणा में ही मानविकी की उपलब्धियों को ज्ञान के क्षेत्र से बहिष्कृत किया जा सकता है। आधुनिक विज्ञान के विकास से बहुत पहले ही दर्शन, इतिहास, विधिशास्त्र, धर्मशास्त्र और भाषा-विज्ञान तक ने ज्ञान की प्रामाणिक पद्धतियों का विकास कर लिया था। संभव है इनकी उपलब्धियाँ आधुनिक भौतिक विज्ञानों की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक सफलताओं के कारण धूमिल पड़ गयी हों; किन्तु इसके बावजूद ये उपलब्धियाँ सच्ची और स्थायी हैं और इन्हें

किंचित् परिष्कार के साथ बड़ी आसानी से फिर से जिलाया और स्थापित किया जा सकता है। पर प्राकृतिक विज्ञानों और मानविकी की पद्धतियों और लक्ष्यों में अन्तर है, इसे तो स्वीकार करना ही होगा।

यह एक जटिल समस्या है कि इस अन्तर की व्याख्या किस तरह की जाये। आज से बहुत पहले सन् १८८३ में ही विल्हेम डिल्थे ने कहा था कि प्राकृतिक विज्ञानों और इतिहास की पद्धतियों में वैसा ही अन्तर पाया जाता है जैसा व्याख्या और अर्थग्रहण में पाया जाता है। डिल्थे के मतानुसार विज्ञान किसी घटना को कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर देखता है, जब कि इतिहासकार इसका अर्थ समझने का प्रयत्न करता है। समझने की यह प्रक्रिया अनिवार्य रूप से व्यक्तिगत और कहें आत्मपरक होती है। इसके एक साल बाद दर्शन के विख्यात इतिहासकार विल्हेम विण्डेलबैण्ड ने भी ऐतिहासिक विज्ञानों द्वारा प्राकृतिक विज्ञानों के अनुकरण की जोरदार भर्त्सना की। प्राकृतिक वैज्ञानिकों का लक्ष्य सामान्य नियम स्थापित करना होता है, जब कि इतिहासकार ऐसे तथ्यों को उजागर करने का प्रयत्न करता है जो अनूठे और अनावर्ती हुआ करते हैं। इस मत का विस्तृत विवेचन और परिष्कार हेनरी रिकर्ट, ने किया है। उन्होंने सामान्यीकरण और विशेषीकरण की पद्धतियों में उतनी स्पष्ट भेद-रेखा नहीं खींची जितनी प्राकृतिक विज्ञानों और सांस्कृतिक विज्ञानों के बीच खींची। उनका तर्क था कि सांस्कृतिक विज्ञानों की रुचि मूर्त और विशिष्ट में हुआ करती है। पर विशिष्ट को किसी मूल्य-प्रणाली के संदर्भ में ही खोजा और समझा जा सकता है, और मूल्य-प्रणाली भी संस्कृति का ही दूसरा नाम है। फ्रांस में ए० डी० जेनोपोल ने प्राकृतिक विज्ञानों को इतिहास से अलग करते हुए लिखा कि प्राकृतिक विज्ञान 'बार-बार घटित होनेवाले' तथ्यों का अध्ययन करते हैं जब कि तिहास ऐसे तथ्यों का अध्ययन करता है जो एक बार आकर सदा के लिए गुजर जाते हैं। इटली में क्रोचे ने अपने दर्शन को ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित किया जो प्राकृतिक विज्ञानों से सर्वथा भिन्न है।

इन समस्याओं का सम्यक् विवेचन करें तो विज्ञानों के वर्गीकरण, इतिहास-दर्शन और ज्ञान के सिद्धान्त जैसी समस्याओं में उलझना पड़ेगा। फिर भी एक-दो ठोस उदाहरणों से ही यह पता चल जायेगा कि साहित्य का अध्ययन करनेवाले को एक बहुत महत्वपूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है। हम शेक्सपियर को क्यों पढ़ते हैं? जाहिर है कि हमारी रुचि का कारण शेक्सपियर की वे विशेषताएँ नहीं हैं जो दूसरे लोगों में भी पाई जाती हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो हम किसी

भी दूसरे व्यक्ति का अध्ययन कर सकते थे। हम शेक्सपियर में उन बातों के कारण भी रुचि नहीं लेते हैं जो सभी अंग्रेजों में, पुनर्जागरण काल के सभी लोगों में, एलिज़बेथयुगीन सभी व्यक्तियों में, सभी कवियों में, सभी नाटककारों में, या मात्र एलिज़बेथकालीन सभी नाटककारों में पाई जाती हैं, क्योंकि ऐसी स्थिति में हम शेक्सपियर के स्थान पर डेकर या हेवुड का भी अध्ययन कर सकते थे। वस्तुतः हम यह पता लगाना चाहते हैं कि शेक्सपियर की अपनी विशेषता क्या है, वह कौन-सी चीज है जो शेक्सपियर को शेक्सपियर बनाती है। स्पष्ट है कि यह वैशिष्ट्य और मूल्य की समस्या है। यहाँ तक कि किसी काल या आन्दोलन या किसी राष्ट्र के साहित्य का अध्ययन करनेवाला भी उसमें केवल इसलिए रुचि लेगा कि उसकी अपनी एक विशिष्टता है, अपने स्वाभाविक लक्षण और गुण हैं जो उसे अपने जैसे अन्य वर्गों से अलग करते हैं।

वैशिष्ट्य का समर्थन एक और आधार पर किया जा सकता है कि साहित्य में सामान्य नियम ढूँढ़ने के अब तक के सारे प्रयत्न असफल रहे हैं। लुई कज़ामिया ने अंग्रेजी साहित्य के विषय में यह नियम दिया है कि अंग्रेजों का राष्ट्रीय मानस भावना और विवेक के दो छोरों के बीच दोलायमान है और इसके साथ उन्होंने यह दावा भी किया है कि ज्यों-ज्यों हम आधुनिक युग की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों यह दोलन तेज होता जाता है। पर उनका यह दावा या तो महत्वहीन है या बिल्कुल गलत। विक्टोरिया युग पर जब हम इस नियम को लागू करते हैं तो यह खण्डित हो जाता है। इस तरह के अधिकांश नियम क्रिया और प्रतिक्रिया, रूढ़ि और विद्रोह जैसे मनोवैज्ञानिक कठघरे बनकर रह जाते है जो यदि सन्देह से परे भी हों तो भी साहित्य की प्रक्रिया के विषय में हमें सचमुच कोई महत्वपूर्ण बात नही बता पाते। जहाँ भौतिकी किसी ऐसे सामान्य सिद्धान्त की स्थापना को, जिसमें बिजली, ताप, गुरुत्वाकर्षण और प्रकाश को किसी एक फार्मूले मे उतारा जा सके, अपनी महान् सिद्धि समझ सकती है वहाँ साहित्य के अध्ययन का उद्देश्य किसी तरह का सामान्य नियम स्थिर करना नहीं हो सकता। यह जितना ही अधिक सामान्य होगा उतना ही अधिक अमूर्त होगा और इसलिए उतना ही अधिक खोखला प्रतीत होगा। इसी के अनुपात में कलाकृति के ठोस उद्देश्य हमारे हाथ से खिसकते जायेंगे।

इस तरह हमारी समस्या के दो अतिवादी समाधान हैं। इनमें से एक, जो प्राकृतिक विज्ञानों की प्रतिष्ठा के कारण प्रचलित हो गया है, वैज्ञानिक और ऐतिहासिक पद्धतियों को अभिन्न मानता है और इसके फलस्वरूप या तो निरे तथ्य

संग्रह को बढ़ावा मिलता है, या बढ़ावा मिलता है अत्यन्त सामान्य ऐतिहासिक नियमों की स्थापना को। दूसरे में साहित्यिक अध्ययन को विज्ञान मानने से इन्कार किया जाता है और यह दम भरा जाता है कि साहित्यिक बोध की अपनी प्रकृति और विशिष्टता होती है और यहाँ तक कि हर साहित्यिक कृति अपने में अनन्य हुआ करती है। लेकिन विज्ञान-विरोधी समाधान को सीमा पर पहुँचा देना भी खतरे से खाली नहीं है। वैयक्तिक 'अन्तःप्रज्ञा' की परिणति विशुद्ध भावुकतापूर्ण सराहना और कोरी आत्मनिष्ठता में हो सकती है। प्रत्येक कलाकृति की विशिष्टता और यहाँ तक कि 'अनन्यता' पर बल देना यद्यपि सतही सामान्यीकरण के विरुद्ध एक स्वस्थ प्रतिक्रिया है तथापि ऐसा करते समय हम प्रायः यह भूल जाते हैं कि कोई कलाकृति सर्वथा अनन्य नहीं हुआ करती, क्योंकि वैसी दशा में उसका अर्थ समझ पाना बिल्कुल असंभव होगा। इसमें सन्देह नहीं कि **हैमलेट** नाम की केवल एक ही कृति है या ज्वायस किल्मर की **ट्रीज** भी एक ही कृति है। परन्तु इस दृष्टि से तो कूड़े की एक ढेरी भी अनन्य हुआ करती है कि इसके परिमाण, स्थिति और रासायनिक सम्मिश्रण को यथातथ्य कूड़े की दूसरी ढेरी में नहीं पाया जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कलाकृति के सभी शब्द अपनी प्रकृति से विशेष न होकर सामान्य हुआ करते हैं। साहित्य में सार्वदेशिकता और विशिष्टता के बीच उसी समय से झगड़ा चला आ रहा है जब अरस्तू ने यह घोषणा की थी कि कविता इतिहास की अपेक्षा, जिसका सम्बन्ध केवल विशेष से हुआ करता है, अधिक सार्वदेशिक और इसलिए अधिक दार्शनिक हुआ करती है, और जब जानसन ने यह घोषणा की थी कि 'कवि का काम फूल की धारियाँ गिनना नहीं है'। स्वच्छन्दतावादी कवि और अधिकांश आधुनिक आलोचक कविता की विशिष्टता पर इसके विन्यास व मूर्तता पर बल देते नहीं थकते, लेकिन यह मानना होगा कि प्रत्येक साहित्यिक कृति सामान्य और एकदेशीय, या अधिक उचित रहेगा यदि हम कहें कि विशिष्ट और सामान्य, दोनों हुआ करती है। विशिष्टता, एकदेशीयता और अनन्यता में फर्क किया जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य की तरह प्रत्येक साहित्यिक कृति की अपनी निजी विशेषताएँ हुआ करती हैं; किन्तु इसमें दूसरी कलाकृतियों से मिलती-जुलती कुछ बातें भी पाई जाती हैं, जैसे हर मनुष्य में मनुष्यता के कुछ ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जो उसके अपने सेक्स, राष्ट्र, वर्ग और व्यवसाय आदि के समान होते हैं। इस तरह हम कलाकृतियों का सामान्यीकरण करने में समर्थ होते हैं, जैसे एलिज़बेथकालीन नाटक, समस्त नाटक, समस्त साहित्य, समस्त

कला। साहित्य की आलोचना और इतिहास दोनों में ही किसी कृति-विशेष, लेखक-विशेष, काल-विशेष या राष्ट्र-विशेष के साहित्य की विशिष्टता का विवेचन करने का यास किया जाता है। लेकिन इस तरह का प्रकृति-निरूपण केवल सार्वदेशिकता को ध्यान में रखकर साहित्यिक सिद्धान्त के आधार पर ही किया जा सकता है। साहित्यिक सिद्धान्त, जो पद्धतियों का एक निकाय है, आज साहित्यिक अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक हो गया है।

हमारे ज्ञान की, और सलिए साहित्यिक चिन्तन की पहली शर्त है व्यवस्थित बोध तथा रसास्वादन और उपर्युक्त आदर्श से इनका महत्व तनिक भी कम नहीं होता। लेकिन ये हैं मात्र शर्तें ही। यह कहना कि साहित्यिक अध्ययन मात्र पठन-कला में उपयोगी होता है, व्यवस्थित ज्ञान के आदर्श को गलत समझना है, चाहे साहित्य का अध्ययन करनेवाले के लिए यह कितना भी अपरिहार्य क्यों न हो। यदि पढ़ने को इतने व्यापक अर्थ में लें कि इसमें आलोचनात्मक बोध और संवेदनशीलता को भी समेटा जा सके तो भी पढ़ने की कला मात्र व्यक्तिगत संस्कार के लिए ही आदर्श हो सकती है। इस रूप में यह नितान्त वांछनीय है और व्यापक साहित्यिक संस्कार का आधार बनती है। साहित्यिक अध्ययन को एक अतिवैयक्तिक परम्परा माना जाता है, ज्ञान, अन्तर्दृष्टि और निर्णय का एक विकासमान निकाय माना जाता है, और पठन-कला स पूरी अवधारणा का स्थान नहीं ले सकती।



दो

साहित्य की प्रकृति

सबसे पहले हमारे सामने जो समस्या आती है वह है साहित्यिक अनुसंधान की विषय-वस्तु। क्या चीज साहित्य है? क्या चीज साहित्य नहीं है? साहित्य की प्रकृति क्या है? यद्यपि ये प्रश्न देखने में बहुत सरल प्रतीत होते हैं लेकिन इनका ठीक-ठीक उत्तर शायद ही कभी दिया जाता हो। साहित्य की एक परिभाषा तो यह की जाती है कि समस्त मुद्रित वाङ्मय 'साहित्य' है। इस तरह हम 'चौदहवीं शताब्दी में चिकित्सा व्यवसाय' या 'मध्यकाल के प्रारंभ में ग्रहीय गति' या 'पुराने और नए इंग्लैंड में जादू-टोना' का अध्ययन करने में समर्थ होते हैं। जैसा कि एडविन ग्रीनलाॅ ने कहा है, 'सभ्यता के इतिहास से सम्बन्धित कोई भी चीज हमारी विषय-सीमा से बाहर नहीं है,' हम 'किसी काल को या सभ्यता को समझने के लिए साहित्यिक कृतियों या मुद्रित या हस्तलिखित अभिलेखों तक ही सीमित नहीं रह सकते', और हमें 'अपनी कृति को इस दृष्टि से देखना चाहिए कि संस्कृति के इतिहास में इसका क्या योगदान हो सकता है।' ग्रीनलाॅ के सिद्धान्त और अनेक विद्वानों की आलोचना के अनुसार साहित्य का अध्ययन न केवल सभ्यता के इतिहास के बहुत निकट चला गया है अपितु इन दोनों में कोई भेद ही नहीं रह गया है। इस तरह का अध्ययन यदि साहित्यिक है तो केवल इसी अर्थ में है कि इसका संबंध मुद्रित या लिखित सामग्री से है, जो अधिकांश इतिहास का मूल स्रोत होती है। इस तरह के दृष्टिकोण के पक्ष में निश्चय ही यह तर्क दिया जा सकता है कि इतिहासकार इन समस्याओं की उपेक्षा कर जाते हैं, उनके सिर पर राजनयिक, सैनिक और आर्थिक इतिहास का ही भूत सवार रहता है, और इसलिए साहित्य का अध्येता अपने पड़ोसी क्षेत्र में प्रवेश करके उस पर

कब्जा जमा लेता है तो उसका ऐसा करना सर्वथा उचित है। इसमें कोई संन्देह नहीं कि यदि कोई किसी क्षेत्र में प्रवेश करना चाहता है तो उसे ऐसा करने से रोका नहीं जाना चाहिए, और इसमें भी सन्देह नहीं कि सभ्यता का व्यापक-से-व्यापक इतिहास तैयार करने के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। किन्तु फिर भी, इस प्रकार का अध्ययन साहित्यिक नहीं रह जाता। यह आपत्ति कि यह तो सिर्फ शब्दावली को लेकर एक खिलवाड़ है, बिल्कुल निराधार है। वास्तविकता यह है कि जब हम सभ्यता से संबंधित हर बात का अध्ययन करने लगते हैं तो शुद्ध साहित्यिक अध्ययन को दरकिनार कर देते हैं। सभ्यता और साहित्य के बीच के सारे भेद मिट जाते हैं, साहित्य में विजातीय मानदंड स्थान पा जाते हैं, और इसका परिणाम यह होता है कि साहित्य को केवल उतने ही अंशों में मूल्यवान समझा जाता है जितने अंशों में वह अपने समीपस्थ इस या उस विषय के लिए उपयोगी होता है। साहित्य और सभ्यता के इतिहास में फर्क न करने का अर्थ है साहित्यिक अध्ययन के अपने विशिष्ट क्षेत्र और विशिष्ट पद्धति को अस्वीकार करना।

साहित्य की परिभाषा करने का एक दूसरा तरीका वह है जिसमें साहित्य को 'महान् ग्रन्थों' तक सीमित कर दिया जाता है। ये ग्रन्थ चाहे जिस भी विषय के हों, शिल्प और अभिव्यंजना की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने चाहिए। यहाँ या तो उनके सौन्दर्यात्मक मूल्य को ही मानदंड माना जाता है या सौन्दर्यात्मक महत्व के साथ सामान्य बौद्धिक विशिष्टता को भी इनकी कसौटी बनाया जाता है। गीतिकाव्य, नाटक और कथा-साहित्य में से महान् कृतियाँ सौन्दर्यशास्त्रीय आधार पर चुनी जाती हैं; अन्य पुस्तकें अपनी प्रसिद्धि या बौद्धिक श्रेष्ठता और बहुत संकीर्ण किस्म के सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य के आधार पर चुनी जाती हैं: इनमें जिन विशिष्टताओं की ओर संकेत किया जाता है वे हैं शैली, संपुंजन (कम्पोजीशन) और प्रस्तुतीकरण की सामान्य शक्ति। यह साहित्य का भेद समझाने या इसके विषय में बात करने का सामान्य तरीका है। जब हम कहते हैं कि 'यह साहित्य नहीं है' तब हम इसी तरह का एक मूल्य-निर्णय प्रकट करते हैं। इसी तरह का निर्णय हम तब भी कर रहे होते हैं जब हम इतिहास, दर्शन या विज्ञान की किसी पुस्तक को 'साहित्य' के अन्तर्गत बताते हैं।

साहित्य के अधिकांश इतिहासों में दार्शनिकों, इतिहासकारों, धर्मशास्त्रियों, आचारशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और यहाँ तक कि कुछ वैज्ञानिकों को भी स्थान

दिया गया है। उदाहरण के लिए, अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैंड के ऐसे साहित्यिक इतिहास की कल्पना करना भी कठिन है, जिसमें बार्कली, ह्यूम, बिशप ब्लर, गिबन, बर्क और यहाँ तक कि ऐडम स्मिथ की भी चर्चा न की गई हो। न लेखकों की चर्चा यद्यपि कवियों, नाटककारों और उपन्यासकारों की अपेक्षा काफी संक्षिप्त है, किन्तु यह उनकी सौन्दर्यशास्त्रीय विशेषताओं तक ही कदापि सीमित नहीं है। व्यावहारिक स्तर पर देखें तो हमें इन लेखकों की अपनी विशेष उपलब्धियों का अनावश्यक और मोटा ब्योरा ही मिलेगा। यह ठीक है कि ह्यूम के विषय में एक दार्शनिक के अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप में विचार नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार, गिबन पर एक इतिहासकार, बिशप बटलर पर एक ईसाई सुधारक और नैतिकतावादी, ऐडम स्मिथ पर एक नैतिकतावादी और अर्थशास्त्री के रूप में ही विचार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु अधिकांश साहित्यिक इतिहासों में इन विचारकों की चर्चा बिना उचित प्रसंग के—उनके विवेच्य विषय का इतिहास दिए बिना—अर्थात् दर्शन, नैतिक सिद्धान्त, तिहास-दर्शन, और आर्थिक सिद्धान्त के इतिहास की सही समझ के बिना ही छिट-पुट रूप में कर दी गई है। साहित्य का इतिहासकार स्वतः ही ठीक इन-इन विषयों का इतिहासकार तो हो नहीं जाता। वह निरा एक संकलनकर्त्ता, जानते-बूझते अनधिकार प्रवेश करने वाला बन कर रह जाता है।

अध्ययन-अध्यापन के कार्य के लिए छिट-पुट 'महान् ग्रन्थों' का अध्ययन अत्यन्त श्लाघ्य हो सकता है। हमें इस विचार का समर्थन तो करना ही चाहिए कि छात्रों को—और विशेषतः अपना अध्ययन आरंभ करने वाले छात्रों को—संकलनों और ऐतिहासिक उत्सुकता जगाने वाले ग्रन्थों की अपेक्षा महान् ग्रन्थों का, या कम से कम, अच्छी पुस्तकों का अध्ययन करना चाहिए। फिर भी हम इस विषय में शंका कर सकते हैं कि यह सिद्धान्त अपने शुद्ध रूप में विज्ञान, इतिहास, या किसी भी अन्य संग्रहमूलक और विकासोन्मुख विषय के लिए भी स्वीकार किया जाना चाहिए। ललित साहित्य के इतिहास को यदि महान् ग्रन्थों तक ही सीमित कर दिया जाए तो इससे साहित्यिक विधाओं के विकास को, और सच कहें तो साहित्यिक प्रक्रिया को भी समझा नहीं जा सकता। इससे सामाजिक, भाषाई, वैचारिक पृष्ठभूमि और ऐसी दूसरी परिस्थितियाँ तो धुँधली हो ही जाती हैं जिनके अनुकूल साहित्य की रचना की जाती है, साथ ही होता यह है कि इसमें इतिहास, दर्शन और ऐसे ही दूसरे विषयों

में घोर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को स्थान दे दिया जाता है। यदि हम अंग्रेजी के अन्य सभी वैज्ञानिकों में से एक मात्र टॉमस हक्सली को ही पढ़ने योग्य ठहराते हैं तो स्पष्ट है कि प्रतिपादन 'शैली' और गठन पर बल देने के अतिरिक्त सका अन्य कोई कारण नहीं हो सकता। इस मानदंड को मानें तो कुछ अपवादों को छोड़कर मौलिक चिन्तकों की अपेक्षा, ऐसे लोगों को महत्व देना होगा जिन्होंने उनके विचारों को लोकप्रिय बनाया। ऐसी दशा में न्यूटन के स्थान पर हक्सली को और कांट के स्थान पर बर्गसां को चुना जाएगा।

'लिटरेचर' (साहित्य) शब्द को साहित्य की कला अर्थात् ललित साहित्य तक सीमित रखना ही अधिक उपयुक्त मालूम होता है। इस शब्द का इस रूप में प्रयोग करने के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ हैं। अंग्रेजी में इसके स्थान पर संभवतः 'फिक्शन' (कथा) या 'पोएट्री' (कविता) जैसे शब्दों का प्रयोग किया जा सकता था, परन्तु ये पहले ही से अपने संकीर्ण अर्थों में प्रयुक्त होते आ रहे हैं, या इसके लिए 'इमैजिनेटिव लिटरेचर' (कल्पना साहित्य) या 'बैल लेतर' (ललित साहित्य) का प्रयोग हो सकता था, पर ये दोनों शब्द भद्दे और भ्रामक हैं। लिटरेचर के विरुद्ध एक आपत्ति तो यह है कि इससे यह ध्वनित होता है कि यह मात्र लिखित साहित्य तक ही सीमित है, क्योंकि इसका मूल शब्द 'लिटरा' लिखने का वाचक है—पर इतना तो स्पष्ट ही है कि साहित्य की कोई भी ऐसी संगत संकल्पना नहीं की जा सकती जिसमें मौखिक साहित्य भी न शामिल किया गया हो। इस दृष्टि से अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द की तुलना में इस शब्द का जर्मन पर्याय वोर्टकुन्स्ट और रूसी पर्याय स्लोवेस्नोस्त अधिक उपयुक्त हैं।[1]

इस प्रश्न को सुलझाने का सबसे सरल तरीका है इस भेद को समझ लेना कि साहित्य में भाषा का क्या विशेष प्रयोग किया जाता है। भाषा उसी तरह साहित्य का उपकरण है जैसे पत्थर मूर्तिकला का, रंग चित्रकला का, या नाद संगीत का। लेकिन यह बात समझ रखनी होगी कि भाषा पत्थर की तरह जड़ पदार्थ नहीं है, बल्कि यह स्वयं मनुष्य की सृष्टि है और इस तरह यह किसी एक भाषा-भाषी समूह की सांस्कृतिक विरासत से अनुप्राणित रहती है।

---

१. भारतीय शब्द काव्य इसके लिए सर्वोत्तम प्रतीत होता है। परन्तु पश्चिम के अनुकरण पर इसे भी आजकल कविता तक ही सीमित कर दिया गया है।—अनुवादक

भाषा के साहित्यिक, रोजमर्रा के, और वैज्ञानिक प्रयोगों के बीच के भेद को हमें स्पष्ट कर लेना चाहिए। इस प्रश्न पर टामस क्लार्क पॉलक ने 'नेचर आफ लिटरेचर' (साहित्य की प्रकृति) पुस्तक में जो विवेचन किया वह काफी सही होते हुए भी पूरी तरह संतोषजनक नहीं है। साहित्यिक भाष और रोजमर्रा की भाषा में उन्होंने जो भेद किया है वह तो विशेष रूप असन्तोषजनक है। यह समस्या बहुत महत्व की है और अपने व्यवहार सरल भी नहीं है, क्योंकि अन्य कलाओं से साहित्य का एक अन्तर यह है कि इसका अपना कोई माध्यम नहीं है; इसका एक कारण यह भी है कि बहु से मिश्रित रूप और सूक्ष्म संक्रमण इसमें निश्चित रूप से विद्यमान रहते हैं विज्ञान की भाषा और साहित्य की भाषा में भेद कर लेना बहुत आसा है। तो भी मात्र 'विचार' और 'आवेग' या 'भावना' की पृथकता को सम लेना ही पर्याप्त नहीं है। साहित्य में भी विचार तत्व होता है और भावात्म भाषा भी केवल साहित्य तक ही सीमित नहीं रहती। दो प्रेमियों की बातची या किसी सामान्य झगड़े की भाषा पर गौर कीजिए। फिर भी आदर्श वैज्ञ निक भाषा शुद्धतः अभिधात्मक होती है। इसमें प्रत्येक निर्देश्य के लिए ए अलग चिह्न होता है। चिह्न पूर्णतः यादृच्छिक होता है और इसका स्था इसके समानार्थी चिह्न ले सकते हैं। यह चिह्न पारदर्शी भी होता है; अर्थ ध्यान इसकी ओर न जाकर असन्दिग्ध रूप से इसके निर्देश्य की ओ जाता है।

वैज्ञानिक भाषा कुछ इसी तरह की एक चिह्न-प्रणाली की ओर प्रवृ होती है और हम इसे गणित या प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में पाते हैं। इसक आदर्श उसी तरह की सार्वभौम प्रतीक भाषा हुआ करती है जिसकी योज लाइबनिट्स सत्रहवीं शताब्दी में ही बनाने लगे थे। वैज्ञानिक भाषा की तुल में साहित्यिक भाषा कुछ अर्थों में त्रुटिपूर्ण मालूम होगी। इसमें तमाम अस्पष ताएँ भरी रहती हैं; किसी भी अन्य ऐतिहासिक भाषा की तरह यह अनेकार्थ शब्दों से व्याकरण के लिंग जैसी मनमानी और तर्कहीन श्रेणियों से भ होती है। यह ऐतिहासिक संयोगों, स्मृतियों और साहचर्यों से ओतप्रोत हो है। एक शब्द में कहें तो यह नितान्त 'व्यंजनात्मक' होती है। इसके अति रिक्त साहित्यिक भाषा मात्र अभिधात्मक तो कभी होती ही नहीं है। इसक अभिव्यंजना-पक्ष भी होता है; यह वक्ता या लेखक के टोन और भावना क भी ध्वनित करती है। और यह जो कुछ कहती है उतना कहना और व्यंजि

करना ही इसका प्रयोजन नहीं होता; यह अपने पाठक की भावना को प्रभावित करना चाहती है, उसे प्रेरित करना चाहती है और अन्ततः उसे बदलना चाहती है। साहित्यिक और वैज्ञानिक भाषा में एक और महत्त्वपूर्ण भेद होता है: साहित्यिक भाषा में, स्वयं चिह्न को, शब्द के ध्वन्यात्मक प्रतीक-विधान को उभारा जाता है। इसकी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की युक्तियाँ निकाली गयी हैं, जैसे छन्द, अनुप्रास, नाद-योजना।

साहित्य की विभिन्न कलाकृतियों में वैज्ञानिक भाषा से यह भिन्नताएँ, भिन्न-भिन्न मात्राओं में ढूंढ़ी जा सकती हैं: उदाहरण के लिए नाद-योजना जिसका सन्तोषजनक अनुवाद कर पाना असंभव है, गीतों की अपेक्षा किसी उपन्यास में कम महत्वपूर्ण रहेगी। 'वस्तुप्रधान उपन्यास' में, जिसमें लेखक की भावना प्रच्छन्न या बिल्कुल लुप्त रह सकती है, 'आत्मपरक' गीति की अपेक्षा व्यंजनात्मक अंश बहुत कम पाए जाएँगे। 'शुद्ध' कविता में तथ्यात्मकता बहुत कम पाई जाएगी, लेकिन यह सोद्देश्य उपन्यास में या व्यंग्यात्मक कविता में, या उपदेशात्मक कविता में अधिक पायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त भाषा में बौद्धिकता की मात्रा भी बहुत अलग-अलग हो सकती है: कुछ दार्शनिक और उपदेशात्मक कविताएँ ऐसी हैं जिनमें कम-से-कम कुछ स्थलों पर भाषा का प्रयोग वैज्ञानिक स्तर को छूने लगता है। फिर भी ठोस साहित्यिक कलाकृतियों की निकट से परीक्षा करने पर उनमें चाहे जितने भी मिश्रित रूप क्यों न दिखाई दें, साहित्यिक प्रयोग और वैज्ञानिक प्रयोग के बीच भेद स्पष्ट मालूम होता है: साहित्यिक भाषा भाषा की ऐतिहासिक संरचना से बहुत अधिक ग्रस्त रहती है; यह स्वयं चिन्ह, अर्थात् शब्द की विशेषता पर बल देती है; इसका अपना ही व्यंजनात्मक भार तथ्यात्मक पक्ष होता है जिसे वैज्ञानिक भाषा यथासंभव कम करना चाहेगी। रोजमर्रा की भाषा और साहित्यक भाषा में फर्क कर पाना कुछ अधिक कठिन है। रोजमर्रा की भाषा में एकरूपता नहीं होती: उसमें विविध प्रकार के अंश मिले रहते हैं, जैसे बोलचाल की भाषा, वाणिज्य की भाषा, दफ्तरों की भाषा, धर्म की भाषा और छात्रों के बीच प्रचलित वर्गभाषा। लेकिन इतना तो जाहिर ही है कि जो कुछ साहित्यिक भाषा के विषय में कहा गया है वह वैज्ञानिक प्रयोग को छोड़कर अन्य प्रकार के प्रयोग पर भी घटित होता है। रोजमर्रा की भाषा का व्यंजनात्मक उपयोग भी हो सकता है, यद्यपि बेजान सरकारी ऐलान से लेकर भावात्मक विक्षोभ के क्षणों में फूटे हुए आवेशपूर्ण उद्गार तक इसके

अनेक रूप हो सकते हैं। रोजमर्रा की भाषा ऐतिहासिक भाषा की तर्कहीनता और सन्दर्भ के परिवर्तनों से भरी रहती है, यद्यपि कुछ ऐसे क्षण भी होते हैं जब यह लगभग वैज्ञानिक भाषा की शुद्धता तक पहुँचने का यत्न करती है। रोजमर्रा की बातचीत में स्वयं चिन्हों के प्रति सजगता बहुत कम अवसरों पर ही देखने में आती है। हाँ, कभी-कभी नामों और क्रियाओं के ध्वनि-प्रतीकों में इस तरह की सतर्कता देखने में आती ही है। इसमें सन्देह नहीं कि रोजमर्रा की भाषा प्रायः किसी इच्छित फल के लिए प्रयोग की जाती है। वह लोगों की क्रियाओं और भावनाओं को प्रभावित करना चाहती है। लेकिन इसे निरे संप्रेषण तक सीमित करना गलत होगा। बच्चे के बिना किसी श्रोता के घंटों बातें करते रहने से, और एक वयस्क आदमी की लगभग व्यर्थ की सामाजिक बतकही से यह प्रकट होता है कि भाषा के ऐसे अनेक प्रयोग हैं जो ठीक-ठीक, या कम से कम प्रधानतः प्रेषणात्मक नहीं हैं।

अतः सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा और रोजमर्रा के विविध प्रयोगों के बीच परिमाप के आधार पर भेद किया जा सकता है। साहित्यिक भाषा के सामर्थ्य का उपयोग बहुत सुविचारित और सुव्यवस्थित ढंग से किया जाता है। एक आत्मनिष्ठ कवि की कृति में हम एक ऐसे 'व्यक्तित्व' का दर्शन करते हैं जो उन लोगों से बहुत अधिक सुसंगठित और सर्वव्यापी दिखायी देता है जिन्हें हम रोजमर्रा के जीवन में देखते हैं। कुछ प्रकार की कविताओं में जान-बूझकर विरोधाभास और द्रव्यर्थकता का प्रयोग किया जाता है, अर्थ का सन्दर्भ बदल दिया जाता है, और यहाँ तक कि लिंग और काल जैसी व्याकरण की श्रेणियों के युक्तिहीन साहचर्यों का भी जानबूझकर प्रयोग किया जाता है। काव्य-भाषा रोजमर्रा की भाषा की शक्तियों को संगठित करती है, उन्हें कसती है, और कभी-कभी हमें सचेत करने और हमारा ध्यान आकर्षित करने को इसे तोड़ती-मरोड़ती भी है। इनमें से अनेक शक्तियाँ तो लेखक को अनेक पीढ़ियों की शान्त और नामहीन प्रक्रिया द्वारा बनी-बनाई और व्यवहृत मिल जाती हैं। कुछ बहुत उन्नत साहित्यों में और विशेषतः कुछ कालों में कवि केवल स्थापित रूढ़ियों का ही प्रयोग करते हैं; कहें भाषा उनके लिए स्वयं काव्यमय हो उठती है। इसके बावजूद हर कलाकृति अपनी सामग्री को एक व्यवस्था में, एक विन्यास-विशेष में, एक अन्विति में जमाती है। कभी-कभी यह अन्विति बहुत शिथिल मालूम होती है, जैसा कि कुछ रेखाचित्रों और साहसिक कहानियों में देखने में आता है। लेकिन यह निरन्तर अधिक जटिल

होती जाती है और अन्त में यह अत्यन्त सुगठित कविताओं का रूप ले लेती है जिसमें से एक भी शब्द को, समूचे प्रभाव को क्षति पहुँचाए बिना, निकाल पाना या इधर से उधर बदल पाना असम्भव सा होता है।

साहित्यिक भाषा और रोजमर्रा की भाषा के बीच व्यावहारिक भेद बहुत स्पष्ट है। जो हमें किसी निश्चित बाह्य क्रिया के लिए प्रेरित करती है उसे हम या तो कविता मानने से इन्कार कर देते हैं या मात्र तुकबंदी कह बैठते हैं। सच्ची कविता हमें बहुत सूक्ष्म रीति से प्रभावित करती है। कला के साथ किसी-न-किसी तरह का ढाँचा लगा रहता है जो कृति का कथ्य विश्व की वास्तविकता से ग्रहण करता है। अपने शब्दार्थ विश्लेषण में हम सौन्दर्यशास्त्र की कुछ सामान्य संकल्पनाएँ प्रस्तुत कर सकते हैं: 'निर्लेप चित्रण', 'सौन्दर्यात्मक दूरी', 'ढाँचा'। फिर भी हमें यह समझ रखना होगा कि कला और अ-कला, साहित्य और गैर साहित्यिक उद्‌गार के बीच भेद इतना स्थिर नहीं है। सौन्दर्यात्मक उपयोग भाषा विषयक विविध कथनों में पाया जा सकता है। यदि हम समस्त प्रचारात्मक कला को, या उपदेशात्मक और व्यंग्यात्मक कविता को साहित्य से बाहर कर दें तो यह साहित्य की एक संकीर्ण धारणा होगी। हमें निबन्ध, जीवनी, और अधिकांश आलंकारिक साहित्य जैसे मध्यवर्ती रूपों को भी स्वीकार करना होगा। इतिहास के विभिन्न कालों में सौन्दर्यात्मक कार्य का क्षेत्र फैलता या सिकुड़ता हुआ मालूम होता है: व्यक्तिगत पत्र किसी समय कला का एक रूप माना जाता था और यही हाल धर्मोपदेशों का था जबकि आज कला-विधाओं के घालमेल के विरुद्ध समकालीन प्रवृत्ति को मानकर चलें तो सौन्दर्यात्मक उपयोग का क्षेत्र संकीर्ण होता जा रहा है, कला की शुद्धता पर अधिक बल दिया जाने लगा है, सर्व-सौन्दर्यवाद और उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों के सौन्दर्यशास्त्रियों द्वारा इसके लिए किए गये दावों के विरुद्ध प्रतिक्रिया जाग रही है। फिर भी, सबसे अच्छा यही है कि केवल उन कृतियों को साहित्य माना जाए जिनमें सौन्दर्यात्मक प्रयोजन प्रधान होता है, जब कि इसी के साथ हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि वैज्ञानिक पुस्तकों, दार्शनिक निबन्धों, राजनैतिक पैम्फलेटों, और धार्मिक प्रवचन-ग्रंथों जैसी कृतियों में, जिनका प्रयोजन सर्वथा भिन्न होता है, और जिन्हें सौन्दर्य से कोई सरोकार नहीं होता, शैली और संपुंजन जैसे कुछ ललित तत्व हो सकते हैं।

किन्तु साहित्य का स्वरूप अपने प्रसंगात्मक पहलू में सर्वाधिक स्पष्ट होकर प्रकट होता है। स्पष्ट है कि साहित्यिक कला का केन्द्र विन्दु गीति, महाकाव्य

तथा नाटक आदि परम्परागत विधाओं में पाया जा सकता है। इन सबमें एक कल्पना-लोक की बातें की जाती हैं। किसी उपन्यास, कविता या नाटक में जो कुछ कहा जाता है, वह शब्दशः सत्य नहीं होता; ये तार्किक प्रस्थापनाएँ (लाजिकल प्रोपोजीशन) नहीं होती हैं। यहाँ तक कि एक ऐतिहासिक उपन्यास या बॉल्जक के एक उपन्यास में जो वास्तविक घटनाओं की 'जानकारी' देता प्रतीत होता है, और इतिहास या समाजशास्त्र की एक पुस्तक में प्राप्त होनेवाली उसी जानकारी के बीच भी एक मूलभूत और महत्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। यहाँ तक कि आत्मपरक गीतों में भी, कवि का 'मैं' एक काल्पनिक, नाटकीय 'मैं' होता है। उपन्यास का पात्र किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या वास्तविक जीवन के व्यक्ति से भिन्न होता है। उसकी रचना उसका वर्णन करनेवाले या लेखक द्वारा उसके मुँह में डाले गये वाक्यों द्वारा होती है। उसका न तो कोई अतीत होता है, न भविष्य और कभी-कभी तो उसके जीवन में निरन्तरता भी नहीं होती। इस बुनियादी विमर्श से विटनबर्ग द्वारा हैम्लेट की आलोचना की बहुत-सी बातें, 'हैम्लेट के पिता का अपने पुत्र पर प्रभाव', 'छरहरा और लम्बा फालस्टाफ', 'शेक्सपियर की नायिकाओं का बचपना', 'लेडी मैकबेथ के बच्चों की संख्या' का सवाल, अपने-आप खत्म हो जाते हैं। उपन्यास के देशकाल वास्तविक जीवन के देशकाल नहीं हैं। यहाँ तक कि ऊपरी तौर पर नितान्त यथार्थवादी उपन्यास, प्रकृतिवादी उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत किया जानेवाला 'जीवन का टुकड़ा' भी कुछ कला-रूढ़ियों के अनुसार ही गढ़ा जाता है। विशेषतः कुछ बाद के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम यह देखते हैं कि अपनी विषय-वस्तु के चुनाव में, चरित्र-चित्रण के प्रकार में, घटनाओं के चयन या स्वीकार में, वार्तालाप के निर्वाह में प्रकृतिवादी उपन्यास परस्पर कितने एक जैसे हैं। इसी तरह नितान्त प्रकृतिवादी नाटक में भी हम घोर रूढ़िवादिता का दर्शन करते हैं। यह रूढ़िवादिता केवल दृश्य-चयन में ही नहीं पाई जाती, अपितु देश और काल के निर्वाह में, उस वार्तालाप के चयन और संचालन में, जिसे यथार्थवादी माना जाता है, और पात्रों के मंच पर प्रवेश और वहाँ से प्रस्थान करने के ढंग में भी पाई जाती है। टैम्पेस्ट और ए डाल्स हाउस में और चाहे जो भेद हों, पर ये दोनों नाटक की इन रूढ़ियों के सहभागी तो हैं ही।

यदि हम 'कथात्मकता', 'उद्भावना' या 'कल्पना' को साहित्य का भेदक लक्षण मानें तो हम साहित्य को होमर, दान्ते, शेक्सपियर, बाल्जक, और कीट्स के अर्थ में ग्रहण करते हैं न कि सिसरो, या माण्टेन, बोसो, या एमर्सन के अर्थ में।

यह भी मानना होगा कि प्लेटो के 'रिपब्लिक' जैसी कुछ ऐसी कृतियाँ भी हैं जो इन दोनों के बीच में पड़ेंगी जिनके विषय में, और कम-से-कम महान् कथाओं के विषय में, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इनमें कथात्मकता या उद्भावना पाई जाती है, जब कि इसके साथ ही ये मुख्यतः दर्शन की रचनाएँ हैं। साहित्य की यह संकल्पना मूल्यपरक नहीं है अपितु वर्णनात्मक है। किसी महान् या प्रभावशाली कृति को अलंकृत रचना, दर्शन, राजनैतिक पैम्फ्लेटबाजी की श्रेणी में ला खड़ा करने से उस कृति को कोई क्षति नहीं पहुँचती। इनमें से सभी के साथ सौन्दर्यशास्त्रीय विश्लेषण की, शैली शास्त्र और निरूपण की वैसी ही समस्यायें उठ खड़ी हो सकती हैं जो साहित्य के साथ उपस्थित होती हैं, लेकिन यहाँ कल्पना का केन्द्रीय गुण नहीं पाया जाएगा। इस तरह की अवधारणा में कल्पना-प्रधान साहित्य के सभी रूप आ जायेंगे, यहाँ तक कि रद्दी-से-रद्दी कविता, रद्दी-से-रद्दी उपन्यास, रद्दी-से-रद्दी नाटक भी। कला के रूप में रचनाओं का वर्गीकरण करते समय मूल्यांकन को अलग रखा जाना चाहिए।

एक सामान्य भ्रान्ति का परिहार यहाँ कर लेना चाहिए। 'कल्पना-प्रधान' साहित्य में बिम्बों का प्रयोग हो ही, यह आवश्यक नहीं है। साधारण से साधारण अलंकारों से लेकर ब्लेक और येट्स की पूर्ण और समन्वयकारी पौराणिक पद्धति तक काव्य की पूरी भाषा बिम्ब-विधान से ओतप्रोत है। लेकिन कल्पित आख्यान के लिए और इसलिए अधिकांश साहित्य के लिए, बिम्ब-विधान अनिवार्य चीज नहीं है। ऐसी कविताएँ भी हैं जो बिम्बों से सर्वथा शून्य होते हुए भी अच्छी कविताएँ हैं, यहाँ तक कि 'शुद्ध तथ्यकथन की कविताएँ' भी हैं। इसके अतिरिक्त बिम्ब-विधान को असली, इन्द्रिय-ग्राह्य दृष्टि-संवेद्य बिम्ब-निर्माण नहीं समझ लेना चाहिए। हेगेल के प्रभाव में विस्कर और एडवर्ड फान हार्टमैन जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के सौन्दर्यशास्त्रियों ने यह मान लिया कि कला 'विचारों का इन्द्रिय-संवेद्य उद्घाटन है, जब कि एक दूसरे सम्प्रदाय के लोगों (फीडलर, हाइल्डब्राण्ड, रीएल) ने समस्त कला को 'शुद्ध रूप से .दृष्टिगम्य' माना। परन्तु महान साहित्य का काफी बड़ा अंश ऐसा है जो इन्द्रिय-संवेद्य बिम्ब जाग्रत नहीं करता और यदि ऐसा करता भी है तो संयोगवश, कभी-कदा और वह भी बीच-बीच में ही। यहाँ तक कि एक कल्पित पात्र के चित्रण में भी लेखक किसी तरह का चाक्षुस बिम्ब नहीं जगा सकता। हम दोस्ताएव्स्की या हेनरी जेम्स के किसी पात्र का खाका अपने मन में शायद ही उतार सकें, जब कि हम उनकी मनो-

दशाओं, उनके प्रेरक मूल भावों, मूल्यांकनों, भावनाओं और इच्छाओं से पूर्णतः अवगत हो जाते हैं।

अधिक से अधिक एक लेखक कुछ निश्चित रूप-रेखा या किसी एक ही शारीरिक लक्षण की ओर संकेत करता है—ताल्स्ताय और टामस मान इसका प्रायः प्रयोग करते हैं। यह तथ्य कि हमलोग अधिक चित्रों पर, चाहे ये अच्छे चित्रकार द्वारा और कुछ मामलों में (जैसे थैकरे के मामले में) स्वयं लेखक द्वारा बनाये गये हों, आपत्ति करते हैं, इस बात को प्रकट करता है कि लेखक हमारे सामने केवल कुछ निश्चित और मोटी-मोटी बातों को रखता है, जिनको पूरा भरने का उसका इरादा नहीं होता।

यदि कविता में प्रयुक्त हर रूपक को हम दृष्टिगम्य कर पावें तो हम बिल्कुल चकित और स्तब्ध रह जाएँगे। हालांकि ऐसे पाठक हैं जो दृष्टिगम्यता के प्रति अधिक सजग होते हैं, और साहित्य के कुछ अंश ऐसे होते हैं, जिनके शब्दों के कारण इस तरह की कल्पना करना आवश्यक प्रतीत होता है, लेकिन कवि के अलंकार-विधान के विश्लेषण को मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं मान लिया जाना चाहिए। ये अलंकार-विधान मुख्यतः मानसिक प्रक्रमों के गठन पर आधारित होते हैं और ये मानसिक प्रक्रम साहित्य के बाहर भी घटित होते हैं। इस तरह हमारी बहुत सारी रोजमर्रा की भाषा में बहुत सारे रूपक अस्फुट रूप में प्रयुक्त होते हैं, जब कि वर्ग भाषाओं और लोकोक्तियों में यह बिल्कुल स्पष्ट होकर आते हैं। अलंकार-योजना से नितान्त अमूर्त शब्दों में भी भौतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। कविता जब हमारी सभ्यता के (ग्रीक-लातिनी, ट्यूटानिक, केल्ट, और ईसाई) प्रतीकों और पुराण-कथाओं का प्रयोग करती है तो यह भाषा की इस लाक्षणिक प्रकृति को पुनरुज्जीवित करती है और हमें इसके प्रति सचेत बनाती है।

साहित्य और अ-साहित्य के बीच जिन भेदों की चर्चा अभी हमने की है—वैयक्तिक अभिव्यक्ति, माध्यम का चयन और इसका भरपूर उपयोग, व्यावहारिक अभाव, और इनके साथ ही कथात्मकता (या गल्प-तत्व)—ये सभी शब्दार्थ विश्लेषण के दायरे में 'अनेकता में एकता', 'तटस्थ चिन्तन', 'सौन्दर्यात्मक दूरी', 'योजना', और 'नवोन्मेष', 'कल्पना', और 'सृजन' जैसे युगों पुराने शब्दों के ही नये रूप हैं। इनमें से प्रत्येक किसी साहित्यिक कृति की एक विशेषता का वर्णन करता है, इसकी अर्थपरक दिशा के एक विशिष्ट लक्षण को प्रकट करता है। इनमें से कोई भी शब्द अकेले ही पर्याप्त नहीं है। इनमें से कम-से-कम एक

नतीजे पर तो हमें पहुँचना ही चाहिए—कोई कलाकृति एक सादी वस्तु नहीं होती है, यह एक बहुत जटिल गुम्फन है, जिसकी प्रकृति के अनेक स्तर हुआ करते हैं, अनेक अर्थ और सम्बन्ध हुआ करते हैं। सामान्य भाषा में इसे एक सजीव पिण्ड कहा जाता है, परन्तु यह भी भ्रामक है क्योंकि इसमें 'अनेकता में एकता' के मात्र एक ही पक्ष पर बल दिया जाता है, और क्योंकि इसमें हर स्थल पर जीव-वैज्ञानिक साम्य ढूंढ़ने का प्रयास किया जाता है, जो सर्वदा संगत नहीं होता। इसके अतिरिक्त साहित्य में 'वस्तु और शिल्प की अभिन्नता' के मुहाविरे में यद्यपि किसी कलाकृति के भीतर निकट अन्तःसम्बन्धों की ओर ध्यान आकर्षित होता है, फिर भी यह आवश्यकता से अधिक सीधा होने के कारण भ्रामक है। इससे इस भ्रम को प्रोत्साहन मिलता है कि किसी कलावस्तु का, चाहे उसका विषय या तकनीक कैसी भी क्यों न हो, विश्लेषण समान रूप से उपयोगी हो सकता है, और इस तरह हमें किसी कृति को उसकी समग्रता में देखने से छुटकारा-सा मिल जाता है। 'वस्तु' और 'शिल्प' का प्रयोग इतने विभिन्न अर्थों में किया जाता है कि इन्हें एक-दूसरे के साथ रखने मात्र से किसी तरह की सहायता नहीं मिल पाती। सचाई तो यह है कि बहुत सावधानी से परिभाषा करने पर भी ये किसी कलाकृति को दो टुकड़ों में बाँट देते हैं। कलाकृति का आधुनिक विश्लेषण अधिक जटिल प्रश्नों के साथ प्रारम्भ करना होगा : इसके अस्तित्व के रूप, इसकी परतों का विन्यास।



तीन

साहित्य का प्रयोजन

साहित्य के किसी भी सुसंगत विवेचन में साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन दोनों का अन्योन्याश्रित होना जरूरी है। कविता का उपयोग इस बात पर निर्भर करता है कि कविता की अपनी प्रकृति क्या है। प्रत्येक वस्तु या वस्तु-समूह का सबसे अच्छा और विवेकसम्मत उपयोग यह जानने के बाद किया जाता है कि वह वस्तु स्वयं क्या है, या उसका आन्तरिक स्वरूप क्या है। जब इसका मुख्य प्रयोजन समाप्त हो जाता है तभी जाकर इसका उपयोग गौणरूप से होना शुरू होता है। पुराना चर्खा एक सजावटी सामान बन जाता है या संग्रहालय में रखने की चीज हो जाता है। चौकोर पियानो जब संगीत के काम का नहीं रह जाता है तो उसका मेज बना लिया जाता है। इसी तरह किसी वस्तु के स्वरूप का पता हमें इस बात से चलता है कि इसका उपयोग क्या है, यह किस काम आती है। किसी शिल्प वस्तु की बनावट उसके कार्य के अनुरूप होती है, पर साथ ही इसके रूप और आकार पर इस बात का भी प्रभाव पड़ता है कि यह किस पदार्थ की है, और किस युग में बनी है, और उस युग के लोगों की रुचि कैसी थी। किसी भी साहित्यिक कृति में बहुत कुछ ऐसा पाया जा सकता है जो इसके साहित्यिक प्रयोजन की दृष्टि से अनावश्यक हो, पर जो अन्य दृष्टियों से आकर्षक हो और इसलिए जिसकी हिमायत की जा सके।

क्या इतिहास के दौरान साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन में कोई परिवर्तन हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है। यदि हम बहुत पीछे की ओर लौट जाएँ तो इसके उत्तर में 'हाँ' कह सकते हैं; हम एक ऐसे युग में पहुँच सकते हैं जिसमें साहित्य, दर्शन और धर्म एक-दूसरे में मिले हुए दिखाई देंगे—यूनानियों में इसके उदाहरण एस्कलीज और हीसियड हो सकते हैं। लेकिन

प्लेटो की चर्चा से पता चलता है कि कवियों और दार्शनिकों के बीच बहुत पुराने जमाने से झगड़ा चला आ रहा है, और इसका आश्रय हमारी समझ में स्पष्ट रूप में आ सकता है। लेकिन दूसरी ओर हमें उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्रचारित 'कला कला के लिए' या अभी कुछ वर्ष पहले उछाले गए विशुद्ध काव्य के सिद्धान्तों द्वारा किए गए भेद को अतिरंजित करके नहीं देखना चाहिए। कविता को उपदेश का साधन मानने को पो ने 'उपदेशात्मक पाखण्ड' कहा है, पर उपदेशात्मक कविताओं की तुलना पुनर्जागरण के इस परम्परागत सिद्धान्त से नहीं करनी चाहिए कि कविता मनोरंजन करने के साथ ही साथ शिक्षा भी देती है, या मनोरंजन करने के द्वारा ही शिक्षा भी देती है।

कुल मिलाकर कहें तो सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र का इतिहास पढ़ने पर हमारे मन पर यह छाप पड़ती है कि यदि हम साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन की एक सामान्य धारणा बनाएँ, और इसकी तुलना अन्य मानवीय क्रियाओं और मूल्यों से करें तो पायेंगे कि इनमें कोई आधारभूत अन्तर नहीं आया है।

सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास का सार एक द्वन्द्वात्मक रूप में उपस्थित किया जा सकता है, जिसके पक्ष, और प्रतिपक्ष को होरेस के शब्दों में **माधुर्य** और **उपयोगिता** माना जा सकता है और इस तरह हम कह सकते हैं कि कविता मधुर और उपयोगी होती है। यदि इनमें से किसी एक ही विशेषण का प्रयोग किया जाए तो इससे कविता के विषय में घोर भ्रान्ति उत्पन्न हो जाएगी। यदि हम **माधुर्य और उपयोगिता** को कविता के स्वरूप से न जोड़ कर इसके प्रयोजन से जोड़ें तो यह संभवतः अधिक आसान होगा। यह दृष्टिकोण कि कविता (किसी भी अन्य आनन्द के समान) आनन्द है, इस दृष्टिकोण का जवाब है कि कविता (किसी पाठ्यपुस्तक की तरह) उपदेश है। जो लोग यह मानते हैं कि कविता का लक्ष्य प्रचार करना है, उनका उत्तर यह दृष्टिकोण है कि कविता शुद्ध ध्वनि और बिम्ब है, मानवीय भावनाओं की दुनिया से बहुत दूर की कला है, या इसे ऐसा होना चाहिए। इन परस्पर-विरोधी मान्यताओं की सबसे सूक्ष्म परिणति संभवतः इन विचारों में मिलती है जिनमें क्रमशः कला को 'लीला' या 'खेल' और 'कारीगरी' (कथा का 'शिल्प', कला 'कृति') माना जाता है। इनमें से कोई भी विचार सर्वथा पृथक् रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता। जब हमसे कहा जाता है कि कविता 'लीला या खेल' है, एक स्वतः स्फूर्त मनोरंजन है तो हमें कुछ ऐसा लगता है कि ऐसा कहते समय न तो कलाकार के यत्न,

कौशल और आयोजना के साथ न्याय किया गया है, न ही कविता की गंभीरता और महत्व के साथ; लेकिन जब हमसे कहा जाता है कि यह एक 'कारीगरी' है, एक 'शिल्प' है तो हमें लगता है कि इसकी रंजकता की, उस विशेषता की हत्या कर दी गई है जिसे काण्ट ने इसकी 'उद्देश्य विहीनता' कहा है। हमें कला के प्रयोजन का वर्णन इस रूप में करना होगा जिससे इसके **माधुर्य** और उपयोगिता दोनों के साथ न्याय हो सके।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि आलोचनात्मक शब्दावली के प्रयोग में शुद्धता पिछले कुछ ही दिनों से बरती जाने लगी है, यदि हम होरेस की शब्दावली को इतने व्यापक अर्थ में ग्रहण करें कि इसमें रोमन और पुनर्जागरण-कालीन कलाकृतियों को समेटा जा सके तो हम होरेस के इस सूत्र से ही अपनी बात आरंभ कर सकते हैं। बोमो का कहना है कि होमर ने **ईलियड** इसलिए लिखी थी कि वह इसके माध्यम से नैतिक शिक्षा देना चाहते थे। हेगेल की सबसे प्रिय पुस्तक थी **एण्टीगान**, और यह भी उन्हें नैतिक शिक्षा से ओत-प्रोत मालूम होती है। लेकिन कला की उपादेयता इस तरह की नैतिक शिक्षा देने में नहीं मानी जानी चाहिए। 'उपयोगी' का अर्थ है जिसमें 'समय की बर्बादी न हो' जो 'कालयापन का बहाना मात्र न हो,' 'महज एक फर्ज न हो', 'जो स्वयं अपना प्रतिफल भी हो।'

क्या हम इस दुहरे मानदण्ड को साहित्य की परिभाषा का आधार बना सकते हैं, या यह सिर्फ महान साहित्य का ही मानदण्ड हो सकता है? प्राचीन काल में साहित्य को लेकर जो चर्चाएँ की गई हैं उनमें उत्तम, मध्यम और अधम साहित्य के बीच कोई फर्क शायद ही देखने में आएगा। इस विषय में सन्देह करने की काफी गुंजायश है कि अधिकांश घटिया साहित्य (घटिया पत्रिकाओं का साहित्य) 'उपयोगी' या 'शिक्षाप्रद' होता है या नहीं। सामान्यतः तो यही समझा जाता है कि ये 'कालयापन' या 'मनोरंजन' के लिए पढ़ी जाती हैं। लेकिन इस प्रश्न का उत्तर 'अधम साहित्य' के पाठकों की दृष्टि से दिया जाना चाहिए न कि 'उत्तम साहित्य' के पाठकों को दृष्टि में रख कर। कम-से-कम मार्टिमर ऐडलर तो यह मानते हैं कि निरे बौद्धिकतारहित उपन्यासों के पाठकों में भी ज्ञान की लालसा अपने बीज रूप में पाई जाती है। और जहाँ तक कालयापन या 'पलायन' का प्रश्न है, केनेथ बर्क ने हमें इस बात की चेतावनी दी है कि यह आरोप निरा मनही है। उनका कहना है कि पलायन का स्वप्न पाठक को अपने वर्तमान वातावरण के प्रति अपनी अरुचि का रूप स्पष्ट करने

में सहायता दे सकता है। कलाकार...बड़ी मासूमियत से मिसीसिपी के किनारे एकान्तवास की हिमायत मात्र करके भी, बहुत 'ध्वंसकारी' हो सकता है।

हमारे प्रश्न का उत्तर संभवतः यह हो सकता है कि प्रत्येक कला उन लोगों के लिए 'मधुर' और 'उपयोगी' दोनों हो सकती है, जो उसका उपयोग करते हैं, कि इससे जो कुछ मुखरित होता है वह उनके मन में स्वतः उठने वाले दिवास्वप्नों और विचारों से उत्कृष्टतर होता है, कि उनके, दिवा-स्वप्नों और विचारों को यह जिस कौशल से अभिव्यक्त करती है, और इस अभिव्यक्ति से उन्हें जो मुक्ति महसूस होती है, उसी से उन्हें आनन्दानुभूति होती है।

कोई साहित्यिक कृति अपने उद्देश्य में तभी सफल होती है, जब कि उसमें आनन्द और उपयोगिता के ये दोनों "स्वर" न केवल एक साथ विद्यमान हों, अपितु ये दोनों एक-दूसरे में मिलकर अभिन्न हो जाएँ। हमें यह मानना होगा कि साहित्य का आनन्द समावित आनन्दों की एक लम्बी सूची में से किसी एक का चुनाव नहीं है, बल्कि यह एक 'उच्चतर आनन्द' है, क्योंकि यह एक ऊँची किस्म की क्रिया में, अर्थात् अपरिग्रही चिन्तन में आनन्द लेना होता है। और साहित्य की उपयोगिता—गंभीरता और शिक्षा—एक आनन्ददायक गंभीरता है, अर्थात् यह किसी कर्तव्य की गंभीरता नहीं है, जिसे करना हर हालत में जरूरी हो, या यह किसी पाठ की गंभीरता नहीं है जिसे पढ़ना जरूरी हो, बल्कि यह एक सौन्दर्यात्मक गंभीरता है, प्रत्यक्ष अनुभूति की गंभीरता है। कोई ज्ञानमीमांसावादी व्यक्ति, जो आधुनिक काल की जटिल कविताओं को पसन्द करता है, अपनी निजी पसंद को श्रेष्ठ मानकर सौन्दर्यशास्त्रीय परख करने से सीधे इन्कार कर सकता है, और गंभीरता शब्द को पहेली या शतरंज के स्तर पर ला कर रख सकता है। एक शिक्षाशास्त्री कविता या उपन्यास की गंभीरता को झूठ-मूठ इस बात से मान सकता है कि इसमें कितना ऐतिहासिक ज्ञान भरा हुआ है, या यह हमें नैतिक शिक्षा देने में कितना सहायक होता है।

एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि साहित्य का कोई एक प्रयोजन है या इसके अनेक प्रयोजन है। बाम ने अपनी पुस्तक **प्राइमर फार क्रिटिक्स** में बड़े सुन्दर ढंग से यह बताया है कि साहित्य में लोग कितने विविध कारणों से रुचि लेते है और इस तरह आलोचना के कितने भिन्न-भिन्न प्रकार हो जाते हैं। एलियट ने अपनी पुस्तक **द यूस आफ पोएट्री एण्ड द यूस आफ क्रिटिसिज्म**

में कुछ निराशा या कम-से-कम खीझ के साथ इस बात पर बल दिया है कि 'कविता अनेक प्रकार की होती है' और यह बताया है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की कविताएँ भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न काम कर सकती हैं। परन्तु ये अपवाद की स्थितियाँ हैं। यदि हम कला या कविता या साहित्य के विषय में गंभीरता से विचार करना चाहते हैं, तो हमें इसका उपयोग किसी ऐसी बात में मानना होगा जो इसके सर्वथा अनुरूप हो। अर्नाल्ड का कहना था कि कविता धर्म और दर्शन का स्थान ले सकती है। उनके इस मत पर विचार करते हुए ईलियट लिखते हैं.... 'इस लोक या परलोक में कोई भी चीज ठीक किसी दूसरी चीज का स्थान नहीं ले सकती। अर्थात् किसी भी प्रकार के सच्चे मूल्य का कोई सच्चा समानधर्मा नहीं मिल सकता। कोई भी चीज हर मानी में किसी दूसरे के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकती। अपने व्यावहारिक रूप में साहित्य अनेक दूसरी चीजों का स्थान ले सकता है, जैसे भ्रमण या विदेशों का पर्यटन, प्रत्यक्ष अनुभव, जीवन का प्रतिरूप, और इतिहासकार इसका उपयोग एक सामाजिक लेख के रूप में कर सकते हैं। लेकिन क्या साहित्य का कोई ऐसा प्रयोजन या उपयोग भी है जिसे दूसरा कोई उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकता? या यह सिर्फ दर्शन, इतिहास, संगीत, और बिम्बविधान का एक मिला-जुला रूप है जिन्हें आज की सच्ची अर्थव्यवस्था में अलग अलग बँटा रहना चाहिए? हमारे सामने बुनियादी सवाल यही है।

साहित्य के हिमायती यह मानेंगे कि यह किसी आदिम रूप का जीवित बचा हुआ अंशमात्र नहीं है, बल्कि एक स्थायी चीज है, और यही विचार ऐसे तमाम लोगों का होगा जो न तो कवि हैं न ही कविता के अध्यापक और इसलिए जिनमें अतिजीविता के प्रति उस रुचि का अभाव है जो साहित्यजीवी लोगों में होती है। यदि मूल्यों के स्वरूप के विषय में कोई सिद्धान्त गढ़ा जाए तो इसके लिए साहित्य में किसी विशिष्ट मूल्य का अनुभव होना जरूरी होगा। आज हमारे साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों में निरन्तर परिवर्तन आता जा रहा है और लगता है हमारे अनुभव के प्रति पहले से अधिक न्याय हो रहा है।

हमारे समसामयिक सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त यह मानता है कि कविता ज्ञान का, एक विशेष प्रकार के ज्ञान का, सम्प्रेषण करती है और इस आधार पर यह दावा करता है कि कविता का अपना उपयोग है और इसमें गंभीरता होनी चाहिए। कविता ज्ञान का ही एक प्रकार है। अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त-वाक्य में जब कहा था कि कविता में इतिहास से अधिक दार्शनिक

पुट हुआ करता है तब लगता है उन्होंने भी कुछ ऐसी बात कही थी, क्योंकि उनकी दृष्टि में इतिहास में उन बातों का वर्णन होता है जो घटित हो चुकी हैं, जब कि कविता में उन चीजों का वर्णन होता है जो घटित हो सकती हैं, जो सामान्य और संभाव्य होती हैं। परन्तु आज जब इतिहास की धारणा भी उतनी ही शिथिल है और उसकी परिभाषा भी उतनी ही अस्पष्ट है जितनी साहित्य की, और जब इतिहास की तुलना में साहित्य का अधिक बड़ा प्रतिद्वन्द्वी विज्ञान बन गया है, यह दावा किया जाने लगा है कि साहित्य हमें उन विशेष बातों की जानकारी देता है जिनसे दर्शन और विज्ञान का कोई सरोकार नहीं है। जहाँ नव्य-क्लासिकी सिद्धान्त के डा० जानसन जैसे हिमायती कविता को 'सामान्य कथनों की गरिमा' मान सकते थे, वहाँ अनेक सम्प्रदायों के आधुनिक सिद्धान्तकार (जैसे बर्गसां, गिल्बी, रैन्सम, स्टेम) कविता की विशिष्टता पर बल देते हैं। स्टेम का कहना है कि ओथेलो नाटक की रचना ईर्ष्या को लेकर नहीं, बल्कि ओथेलो की ईर्ष्या को लेकर की गई है, यानी उस विशेष ईर्ष्याभाव को लेकर जो वेनिस की किसी लड़की से विवाहित किसी मूर के मन में पैदा होगा।

यह प्रश्न आने पर कि साहित्य में सामान्यता होती है या विशिष्टता, साहित्य के सिद्धान्त और इनके पक्षधर इन दोनों में से किसी एक पर बल दे सकते हैं। इनमें से कोई तो कहेगा कि इसका कारण यह है कि साहित्य इतिहास और जीवनी की तुलना में अधिक सामान्य रूपों को लेकर चलता है लेकिन मनोविज्ञान या समाजशास्त्र की तुलना में अधिक विशेषित होता है। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हो जाती कि साहित्य के सिद्धान्तों में इन दोनों पक्षों पर कम या अधिक जोर दिया जाता रहता है। व्यावहारिक रूप में देखें तो सामान्यता और विशिष्टता की मात्रा प्रत्येक कृति में और प्रत्येक युग में अलग-अलग हुआ करती है। पिलग्रिम और एवीमैन ('पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' के दो प्रतीकात्मक पात्र) का चित्रण कुछ इस तरह किया गया है मानो उन में समूची मानव-जाति सिमट आई हो। लेकिन जानसन के एपिकोन का विदूषक मोरोस निहायत अजीबोगरीब और शक्की किस्म का जीव है। साहित्य में चरित्र-चित्रण के सिद्धान्त की परिभाषा सदा से यह की जाती रही है कि इसमें 'व्यष्टि' और 'वर्ग' (या 'टाइप') दोनों का समन्वय होना चाहिए ताकि व्यष्टि में वर्ग की और वर्ग में व्यष्टि की झलक मिल सके। इस सिद्धान्त के और इससे निःसृत मतों के अर्थ करने के जो प्रयत्न हुए हैं वे लाभकर नहीं सिद्ध

हुए। साहित्य में चरित-भेदों का आरंभ होरेस के शिष्टाचार के सिद्धान्त और रोमन कामदियों में पाये जाने वाले असंख्य टाइपों (हेकड़ीबाज सिपाही, कंजूस, फिजूलखर्च और मनचला पुत्र, आत्मविश्वासी नौकर) से होता है। इसके बाद हमें वर्ग-चरित्र का दर्शन सत्रहवीं शताब्दी की पुस्तकों में और मॉलियर की कामदियों में मिलता है। लेकिन इस परिकल्पना को अधिक सामान्य बना कर कैसे लागू किया जा सकता है? क्या **रोमियो एण्ड जूलियट** की नर्स एक वर्गपात्र या टाइप है? यदि हाँ तो किसका? क्या हैम्लेट एक टाइप है? एलिज़बेथयुगीन दर्शकों की नजर में तो वह अवश्य एक विषाद रोगी रहा होगा, बहुत कुछ वैसा ही जैसा डा० टाइमाथी ब्राइट ने उसका वर्णन किया है। लेकिन उसमें इसके साथ ही अन्य भी कई चीजें पाई जाती हैं, और उसके विषाद को एक विशेष ढंग से उत्पन्न दिखाया गया और एक विशेष प्रसंग में प्रस्तुत किया गया है। वह चरित्र जो टाइप होने के साथ ही साथ एक व्यष्टि भी है, इस तरह का बना है कि उस अकेले में ही कई टाइप दिखाये जा सकते हैं, अर्थात् हैम्लेट एक प्रेमी या विगत प्रेमी है, पण्डित है, नाट्य-मर्मज्ञ है, और तमंचाबाज भी है। हर आदमी, यहाँ तक कि सीधे-से-सीधा आदमी भी टाइपों का एक मिश्रण होता है। तथाकथित चरित्र-भेदों में लोगों को सीधा सपाट दिखाया जाता है, हम लोगों का जिन व्यक्तियों से सिर्फ एक ही प्रकार का सम्बन्ध रहता है, वे सब लोगों को इसी तरह देखते हैं। बहुमुखी चरित्रों में दृष्टियों और सम्बन्धों का समन्वय होता है, और उन्हें सामाजिक जीवन, निजी जीवन, विदेश आदि विविध सन्दर्भों में दिखाया जाता है।

नाटकों और उपन्यासों में एक संज्ञानात्मक (कॉग्निटिव) मूल्य मनोवैज्ञानिक प्रतीत होगा। यह एक लोकविदित दावा है कि 'उपन्यासकार हमें मानव-प्रकृति के बारे में जितना कुछ बता सकता है उतना मनोवैज्ञानिक भी नहीं बता सकता।' 'हार्नी ने दोस्तोएव्स्की, शेक्सपियर, इब्सन और बाल्ज़क को मनोवैज्ञानिक ज्ञान का अनन्त स्रोत बताया है। ई० एम० फास्टर (**एस्पेक्ट्स आफ नावेल**) ने ऐसे कुछ थोड़े से व्यक्तियों की ओर ध्यान देने की चर्चा की है जिनके आन्तरिक जीवन और प्रेरणास्रोतों का हमें पता रहता है। उनके विचार में, उपन्यास सबसे बड़ा काम यह करते हैं कि वे चरित्रों के अन्तर्मुखी जीवन का उद्घाटन करते हैं। लगता है, उनके चरित्रों का आन्तरिक जीवन उनकी अचूक अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम है। हम यह कह सकते हैं कि महान् उपन्यास मनोवैज्ञानिकों के लिए स्रोतग्रन्थों का काम देते हैं, या वे व्यष्टि-

वृत्त या केसहिस्ट्री (अर्थात् टाइपों के खुले दृष्टान्त) होते हैं, लेकिन लगता है यहाँ हम फिर उसी तथ्य की ओर लौट आए हैं कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास का उपयोग इसके सामान्यकृत टाइप सम्बन्धी मूल्य के कारण करेंगे— वे पेर गोरियों के चरित्र को उसके पूरे परिवेश से और चरित्रों के सन्दर्भ से अलग कर लेंगे।

मैक्स ईस्टमैन, जो स्वयं एक छोटे-मोटे कवि भी हैं, इस दावे को अस्वीकार करते हैं कि साहित्यकार विज्ञान के इस युग में सत्य के उद्घाटन का कोई दावा कर सकता है। साहित्यकार तो विज्ञान से पहले के युग का सिर्फ एक अविशेषित, शौकिया व्यक्ति है जो आज भी अपना अस्तित्व बनाये रखने के प्रयत्न में लगा हुआ है, और भाषा की सुविधा का लाभ उठाकर हमारे मस्तिष्क पर यह छाप छोड़ना चाहता है कि वह सचमुच कुछ महत्वपूर्ण सत्यों की बात कर रहा है। साहित्य के भीतर का सत्य साहित्य के बाहर के सत्य से अलग नहीं होता। वह हर जगह एक जैसा ही है, अर्थात् सुव्यवस्थित ज्ञान जिसकी सत्यता की छान-बीन खुले ढंग से की जा सके। उपन्यासकार के पास कोई ऐसी जादू की छड़ी नहीं होती जिससे वह सामाजिक विज्ञानों से पाये जाने वाले समूचे ज्ञान को सहज ही प्राप्त कर सके, जिनसे ही सत्य का वह रूप उभरता है जिसकी तुलना में रख कर साहित्यकार द्वारा रचित 'संसार', उसके कल्पित सत्य की जांच की जा सकती है। ईस्टमैन का विश्वास है कि कल्पनाशील लेखक—विशेषतः कवि—यदि यह समझता है कि उसका मुख्य काम ज्ञान का उद्घाटन और सम्प्रेषण है तो वह बहुत बड़ी भूल कर रहा है। हम लोग जिन बातों को देखते हैं, जिनकी कल्पना करते हैं, जिन्हें सकल्पना के स्तर पर या व्यावहारिक स्तर पर जानते हैं उनका साक्षात्कार कराना ही कवि का असल काम है।

कविता के विषय में प्रचलित इन दोनों दृष्टियों—यथार्थ का साक्षात्कार और 'कलात्मक अन्तर्दृष्टि'—के बीच भेद-रेखा खींच पाना कठिन है। कलाकार हमें उन चीजों की याद दिलाता है, जिनका प्रत्यक्ष अनुभव करना हमने छोड़ दिया है या उन चीजों को दिखाना चाहता है जो सदा से विद्यमान थीं पर जिन्हें अब तक हम देख नहीं सके थे? इस प्रसंग में हमें स्याही से बने हुए उन चित्रों की याद हो आती है जिनमें टूटी रेखाओं के पीछे बिन्दुओं से बनी आकृतियाँ छिपी रहती हैं। ये इस चित्र में तो सदा से विद्यमान थीं पर हम उन्हें डिजाइनों के रूप में पूरी तरह देखने में असमर्थ थे। आस्कर वाइल्ड ने

अपने इंटेन्शन्स में ह्विस्लर द्वारा कोहरे के सौन्दर्यात्मक मूल्य की खोज और राफेल (१४८३-१५२०) पूर्व के चित्रकारों द्वारा इस तरह की औरतों में सौन्दर्य की खोज का उल्लेख किया है जिन्हें इससे पहले सुन्दर समझा ही नहीं जाता था और जिन्हें पहले एक टाइप के रूप में देखा ही नहीं गया था। हम निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि ये 'ज्ञान' के उदाहरण हैं या 'सत्य' के। हम कहते हैं कि ये नये 'ऐन्द्रयिक मूल्यों', 'सौन्दर्य के नए पहलुओं' की खोजें हैं।

अब यहाँ यह देखा जा सकता है कि सौन्दर्यवादी 'सत्य' को कला की अपनी विषय-वस्तु और मानदण्ड मानने से इन्कार करते हुए सामान्यतः झिझकते क्यों हैं? इसका कुछ कारण तो यह है कि यह एक सम्मानित शब्द है, और इस शब्द को कला से जोड़कर व्यक्ति कला के प्रति अपना सम्मानभाव प्रकट करता है, और इस तरह यह भी जाहिर करता है कि वह इसे एक उत्कृष्ट मूल्य मानता है; और इसका कुछ कारण यह है कि हमें अकारण ही यह भय बना रहता है कि यदि कला 'सच्ची' न हो तो जैसा कि प्लेटो ने इस पर आक्षेप करते हुए कहा था, यह 'मिथ्या' होगी। कल्पनाप्रधान साहित्य 'गल्प' है, जीवन का एक कलात्मक शाब्दिक अनुकरण। 'गल्प' का विपरीतार्थक शब्द 'तथ्य' या 'दिक्-काल-आबद्ध अस्तित्व' है, न कि 'सत्य'। साहित्य का सम्बन्ध 'तथ्य' से होता है जो सम्भावना की अपेक्षा अधिक विलक्षण होता है।

कलात्मक दृष्टि से प्रत्येक संगत कृति में जीवनदृष्टि पाई जाती है, और सभी कलाओं में साहित्य विशेष रूप से इस जीवन-दृष्टि के माध्यम से ही सत्य का भी दावा करता है। दार्शनिक या आलोचक को इन 'दृष्टियों' में से कुछ को शेष से अधिक सत्य मानना होता है (जैसा कि ईलियट ने दान्ते को शैले या शेक्सपियर की अपेक्षा अधिक सच्चा माना है); लेकिन किसी भी परिपक्व जीवनदर्शन में सत्य का कुछ अंश तो होना ही चाहिए--किसी न किसी रूप में यह इसका दावा तो करता ही है। हम लोग साहित्य के सत्य पर जिस रूप में विचार कर रहे हैं उस दृष्टि से साहित्य का सत्य साहित्य में पाया जाने वाला सत्य हुआ करता है अर्थात् वह दर्शन जो साहित्य के बाहर व्यवस्थित प्रत्ययात्मक रूप में विद्यमान होता है लेकिन जिसे साहित्य में घटित किया जा सकता है, या साहित्य में उजागर या रूपायित किया जा सकता है। इस दृष्टि से दान्ते की कृतियों में पाया जाने वाला सत्य कैथोलिक धर्मशास्त्र और शैक्षणिक दर्शन का सत्य है। 'सत्य' के विषय में ईलियट की दृष्टि मूलतः

इसी प्रकार की मालूम होती है। सत्य व्यवस्थित चिन्तन करने वाले व्यक्तियों का अपना क्षेत्र है, और कलाकार इस प्रकार के चिन्तक नहीं होते, यद्यपि यदि इस प्रकार के दार्शनिकों का अभाव हो जिनकी कृतियों को वे पूरी तरह पचा सकें, तो वे ऐसा होने की कोशिश कर सकते हैं।

यह पूरा विवाद बहुत दूर तक 'अर्थ विज्ञान' से सम्बन्धित मालूम होता है। 'ज्ञान', 'सत्य', 'संज्ञान' और 'बोध' से हम क्या मतलब समझते हैं? यदि सभी सत्य प्रत्ययात्मक और तर्क वाक्य पर आधारित है तो कलाएँ—यहाँ तक कि साहित्य की कला भी—सत्य के रूप नहीं हो सकतीं। परन्तु यदि प्रत्यक्षवादियों की परिभाषा को लिया जाए, जिसमें सत्य केवल उसे ही माना जाता है जिसकी सत्यता की कोई विधिवत पुष्टि कर सके, और इस तरह सत्य की परिभाषा को कुछ नीचे उतारने की कोशिश की जाती है, तो कला प्रायोगिक दृष्टि से सत्य का रूप नहीं हो सकती। इसका एक अवान्तर रूप कोई द्विरूपी या बहुरूपी सत्य मालूम होता है। हम यह स्वीकार करके चलें कि 'सत्य को जानने के कई तरीके हैं।' हम यह कहें कि सत्य के दो बुनियादी रूप हैं, और इन दोनों में ही एक सांकेतिक भाषा पद्धति का प्रयोग होता है। इनमें एक हैं विज्ञान जो 'प्रवचन' पद्धति का प्रयोग करते हैं और दूसरी हैं कलाएँ जो 'प्रस्तुतीकरण की' रीति अपनाती हैं। क्या ये दोनों ही सत्य हैं? सत्य से दार्शनिकों का आशय इस पहले प्रकार से ही रहा है, दूसरा कविता के साथ-ही-साथ धार्मिक 'पुराण कथाओं' को भी अपनी परिधि में समेटता है। इस दूसरे को हम 'सत्य' कहने के स्थान पर 'सच्चा' कह सकते हैं। इसके विशेषण होने का भाव ही यह जाहिर कर देता है कि इन दोनों के सन्तुलन-केन्द्र में अन्तर है। कला में 'सुन्दर' विशेष्य है और 'सच्चा' विशेषण (अर्थात् सत्य के साथ इसका कोई विरोध खड़ा नहीं होता)। मैक्लीश ने अपनी पुस्तक आर्स पोएटिका में साहित्यिक सौन्दर्य और दर्शनशास्त्र के दावों का सूत्र रूप में ताल-मेल बैठाते हुए लिखा है कि कविता 'सच्ची नहीं होती; सत्य के समकक्ष होती है' कविता उतनी ही गंभीर और महत्वपूर्ण होती है जितना दर्शनशास्त्र (विज्ञान, ज्ञान और बोध) और यह सत्य के समकक्ष होती है, सत्यवत् होती है।

श्रीमती लैंजर प्रस्तुत प्रतीकविधान को भी ज्ञान का एक रूप मानती हैं और इसके लिए तर्क देती हुई साहित्य की अपेक्षा प्लास्टिक या सुघट्य कलाओं (मूर्ति और स्थापत्य) पर, और उनसे भी अधिक, संगीत पर बल देती हैं। स्पष्ट है कि वे साहित्य को किसी-न-किसी रूप में प्रवचन और प्रस्तुतीकरण

का मिश्रित रूप मानती हैं। लेकिन साहित्य के मिथक तत्व या आद्यरूपी बिम्ब उनके प्रस्तुत्य सत्य ही तो हैं।

अब हमें इन दो दृष्टियों में भेद करना होगा कि कला सत्य का उद्घाटन या अन्तर्दृष्टि है, या कला—विशेषतः साहित्य—प्रचार है, जिसमें लेखक को सत्य का खोजी नहीं माना जाता, बल्कि उसका आग्रहशील प्रसारक माना जाता है। प्रचार शब्द काफी शिथिल है और इसकी छान-बीन कर लेना जरूरी है। आम बोलचाल में यह उन सिद्धान्तों पर लागू होता है जिन्हें हम घातक समझते हैं और जिनका विस्तार करने वालों पर हम विश्वास नहीं करते। इस शब्द में पूरी नाप-तौल और आशय का भाव निहित है और यह आमतौर पर विशिष्ट, या कहें कठोर सिद्धान्तों और कार्यक्रमों पर लागू होता है। अतः इस शब्द के अर्थ को सीमित करते हुए कहा जा सकता है कि कुछ कला (बिल्कुल निम्न स्तर की) प्रचार होती है, परन्तु कोई भी महान् कला, या श्रेष्ठ कला, या कला प्रचारात्मक नहीं हो सकती। परन्तु यदि हम इस शब्द के अर्थ को अधिक उदार बनाकर इसे 'जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण से जाने या अनजाने अपने पाठकों को प्रभावित करने या उसमें उन्हें भागीदार बनाने के प्रयास' के अर्थ में लें तो इस दावे में काफी जान है कि सभी कलाकार प्रचारवादी हुआ करते हैं, या उन्हें प्रचारवादी होना चाहिए, या (पिछले वाक्य में बताई गई स्थिति के बिल्कुल विपरीत) सभी सच्चे और उत्तरदायी कलाकार नैतिक रूप से प्रचारवादी होने को बाध्य होते हैं।

माण्टगोमरी बेल्जियन के कथनानुसार, साहित्यिक कलाकार एक 'गैर-जिम्मेदार प्रचारक' होता है। अर्थात् हर लेखक एक जीवन-दृष्टि या सिद्धान्त अपनाता है....। उसकी कृति सदा पाठकों को वह दृष्टि या सिद्धान्त स्वीकार करने को प्रेरित करती है। यह आग्रह सदा अनुचित होता है। कहने का मतलब यह कि पाठक को सदा किसी बात पर विश्वास करने की ओर प्रवृत्त किया जाता है और यह सहमति सम्मोहन जैसी होती है—प्रस्तुतीकरण की कला पाठक को अपने साथ बहा ले जाती है।....

बेल्जियन का यह अंश ईलियट ने उद्धृत किया है और इसका उत्तर देते हुए उन्होंने 'उन कवियों को जिन्हें प्रचारवादी मानते हुए दिमाग पर काफी जोर देना पड़ता है' गैरजिम्मेदार प्रचारवादी कवियों के एक दूसरे वर्ग से और लूक्रिटस और दान्ते की तरह 'विशेष रूप से सतर्क और जिम्मेदार' प्रचारवादी कवियों के एक तीसरे वर्ग से अलग किया है। ईलियट जिम्मेदारी का निर्णय

लेखक के इरादे और ऐतिहासिक प्रभाव, इन दोनों ही आधारों पर करते हैं। अधिकांश लोगों को 'जिम्मेदार प्रचारवादी' शब्द अन्तरविरोध से भरा लगेगा, लेकिन यदि इससे हम यह अर्थ लें कि इन दोनों में लेखक का खिचाव किस ओर अधिक है तो इस बात में कुछ सार्थकता अवश्य नजर आएगी। गंभीर कला में एक जीवन-दृष्टि होती है, जिसको दार्शनिक शब्दावली में और यहाँ तक कि पद्धतियों के रूप में भी बयान किया जा सकता है। कलात्मक संगति (जिसे कभी-कभी कलात्मक तर्क कहा जाता है) और दार्शनिक संगति में किसी-न-किसी तरह का अन्तःसम्बन्ध होता अवश्य है। जिम्मेदार कलाकार भाव को विचार से, आवेग को बुद्धितत्व से, अनुभूति की सच्चाई को अनुभव और अनुचिन्तन की पर्याप्तता से अलग ही समझता है। जिम्मेदार कलाकार जिस जीवन दृष्टि का इन्द्रियगोचर रूप में वर्णन करता है, वह उन तमाम दृष्टियों जैसी सरल नहीं होती जिन्हें शुद्ध 'प्रचार' के रूप में लोकप्रियता प्राप्त होती है। और कोई भी ऐसी जीवनदृष्टि जिसमें कुछ जटिलता पाई जाए, केवल हिप्नोटिज्म से किसी को अधकचरी या अविचारित क्रिया की प्रेरणा नहीं दे सकती।

साहित्य का एक प्रयोजन कैथार्सिस या रेचन माना जाता है और अभी तक हम इस शब्द से लगी-जुड़ी सकल्पनाओं पर विचार नहीं कर सके हैं। ग्रीक भाषा के इस शब्द का इतिहास—जिसका प्रयोग अरस्तू ने **पोएटिक्स** में किया था—बहुत लम्बा है। अरस्तू ने इस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया था यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है, परन्तु अरस्तू का इस शब्द से क्या तात्पर्य रहा होगा यह अर्थनिर्धारण की एक रोचक समस्या है। परन्तु हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस शब्द का प्रयोग जिस समस्या के लिए होता आ रहा है, वही आशय इस शब्द से अरस्तू का भी था। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य का प्रयोजन हमें—चाहे हम लेखक हों या पाठक—भावों के दबाव से मुक्ति देना है। भावों की अभिव्यक्ति का अर्थ है उनसे मुक्ति और कहा जाता है कि गेटे ने **द सारोज़ आफ वर्थर** की रचना करके स्वय अपनी भावनाओं से मुक्ति पाई थी। लोगों का कहना है कि किसी नाटक के दर्शक या उपन्यास के पाठक को भी इसी तरह की मुक्ति और राहत मिलती है। उसकी भावनाओं क एक संगम-विदु मिल जाता है और इसके कारण अपने सौन्दर्यानुभव के अन्त तक आते-आते उसका चित्त शान्त और निरुद्वेग हो जाता है।

का मिश्रित रूप मानती हैं। लेकिन साहित्य के मिथक तत्व या आद्यरूपी बिम्ब उनके प्रस्तुत्य सत्य ही तो हैं।

अब हमें इन दो दृष्टियों में भेद करना होगा कि कला सत्य का उद्घाटन या अन्तर्दृष्टि है, या कला—विशेषतः साहित्य—प्रचार है, जिसमें लेखक को सत्य का खोजी नहीं माना जाता, बल्कि उसका आग्रहशील प्रसारक माना जाता है। प्रचार शब्द काफी शिथिल है और इसकी छान-बीन कर लेना जरूरी है। आम बोलचाल में यह उन सिद्धान्तों पर लागू होता है जिन्हें हम घातक समझते हैं और जिनका विस्तार करने वालों पर हम विश्वास नहीं करते। इस शब्द में पूरी नाप-तौल और आशय का भाव निहित है और यह आमतौर पर विशिष्ट, या कहें कठोर सिद्धान्तों और कार्यक्रमों पर लागू होता है। अतः इस शब्द के अर्थ को सीमित करते हुए कहा जा सकता है कि कुछ कला (बिल्कुल निम्न स्तर की) प्रचार होती है, परन्तु कोई भी महान् कला, या श्रेष्ठ कला, या कला प्रचारात्मक नहीं हो सकती। परन्तु यदि हम इस शब्द के अर्थ को अधिक उदार बनाकर इसे 'जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण से जाने या अनजाने अपने पाठकों को प्रभावित करने या उसमें उन्हें भागीदार बनाने के प्रयास' के अर्थ में लें तो इस दावे में काफी जान है कि सभी कलाकार प्रचारवादी हुआ करते हैं, या उन्हें प्रचारवादी होना चाहिए, या (पिछले वाक्य में बताई गई स्थिति के बिल्कुल विपरीत) सभी सच्चे और उत्तरदायी कलाकार नैतिक रूप से प्रचारवादी होने को बाध्य होते है।

माण्टगोमरी बेल्जियन के कथनानुसार, साहित्यिक कलाकार एक 'गैर-जिम्मेदार प्रचारक' होता है। अर्थात् हर लेखक एक जीवन-दृष्टि या सिद्धान्त अपनाता है....। उसकी कृति सदा पाठकों को वह दृष्टि या सिद्धान्त स्वीकार करने को प्रेरित करती है। यह आग्रह सदा अनुचित होता है। कहने का मतलब यह कि पाठक को सदा किसी बात पर विश्वास करने की ओर प्रवृत्त किया जाता है और यह सहमति सम्मोहन जैसी होती है—प्रस्तुतीकरण की कला पाठक को अपने साथ बहा ले जाती है।....

बेल्जियन का यह अंश ईलियट ने उद्धृत किया है और इसका उत्तर देते हुए उन्होंने 'उन कवियों को जिन्हें प्रचारवादी मानते हुए दिमाग पर काफी जोर देना पड़ता है' गैरजिम्मेदार प्रचारवादी कवियों के एक दूसरे वर्ग से और लूक्रिटस और दान्ते की तरह 'विशेष रूप से सतर्क और जिम्मेदार' प्रचारवादी कवियों के एक तीसरे वर्ग से अलग किया है। ईलियट जिम्मेदारी का निर्णय

लेखक के इरादे और ऐतिहासिक प्रभाव, इन दोनों ही आधारों पर करते हैं। अधिकांश लोगों को 'जिम्मेदार प्रचारवादी' शब्द अन्तरविरोध से भरा लगेगा, लेकिन यदि इसमें हम यह अर्थ लें कि इन दोनों में लेखक का खिंचाव किस ओर अधिक है तो इस बात में कुछ सार्थकता अवश्य नजर आएगी। गंभीर कला में एक जीवन-दृष्टि होती है, जिसको दार्शनिक शब्दावली में और यहाँ तक कि पद्धतियों के रूप में भी बयान किया जा सकता है। कलात्मक संगति (जिसे कभी-कभी कलात्मक तर्क कहा जाता है) और दार्शनिक संगति में किसी-न-किसी तरह का अन्तःसम्बन्ध होता अवश्य है। जिम्मेदार कलाकार भाव को विचार से, आवेग को बुद्धितत्व से, अनुभूति की सच्चाई को अनुभव और अनुचिन्तन की पर्याप्तता से अलग ही समझता है। जिम्मेदार कलाकार जिस जीवन दृष्टि का इन्द्रियगोचर रूप में वर्णन करता है, वह उन तमाम दृष्टियों जैसी सरल नहीं होती जिन्हें शुद्ध 'प्रचार' के रूप में लोकप्रियता प्राप्त होती है। और कोई भी ऐसी जीवनदृष्टि जिसमें कुछ जटिलता पाई जाए, केवल हिप्नोटिज्म से किसी को अधकचरी या अविचारित क्रिया की प्रेरणा नहीं दे सकती।

साहित्य का एक प्रयोजन कैथार्सिस या रेचन माना जाता है और अभी तक हम इस शब्द से लगी-जुड़ी संकल्पनाओं पर विचार नहीं कर सके है। ग्रीक भाषा के इस शब्द का इतिहास—जिसका प्रयोग अरस्तू ने **पोएटिक्स** में किया था—बहुत लम्बा है। अरस्तू ने इस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया था यह आज भी विवाद का विषय बना हुआ है, परन्तु अरस्तू का इस शब्द से क्या तात्पर्य रहा होगा यह अर्थनिर्धारण की एक रोचक समस्या है। परन्तु हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस शब्द का प्रयोग जिस समस्या के लिए होता आ रहा है, वही आशय इस शब्द से अरस्तू का भी था। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य का प्रयोजन हमें—चाहे हम लेखक हों या पाठक—भावों के दबाव से मुक्ति देना है। भावों की अभिव्यक्ति का अर्थ है उनसे मुक्ति और कहा जाता है कि गेटे ने **द सारोज़ आफ़ वर्थर** की रचना करके स्वयं अपनी भावनाओं से मुक्ति पाई थी। लोगों का कहना है कि किसी नाटक के दर्शक या उपन्यास के पाठक को भी इसी तरह की मुक्ति और राहत मिलती है। उसकी भावनाओं का एक संगम-विंदु मिल जाता है और इसके कारण अपने सौन्दर्यानुभव के अन्त तक आते-आते उसका चित्त शान्त और निरुद्वेग हो जाता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि साहित्य हमें भावों से मुक्ति देता है या उल्टे उन्हें उत्तेजित करता है ? प्लेटो के विचार से 'हमें चाहिए तो यह कि हम अपने भावों को निर्मूल कर दें, लेकिन त्रासदी और कामदी दोनों ही हमारे भावों को पोषण प्रदान करती हैं। यदि साहित्य हमें अपने भावों से मुक्ति देता भी है तो क्या इनको कवि की कल्पना पर उँडेलना इनका एक गलत ढंग का विसर्जन नहीं है? सन्त आगस्टाइन ने स्वीकार किया है कि जब वह नौजवान थे तो वह भयानक पापकर्म में लिप्त थे, फिर भी 'मैं इस पर रोया-कलपा नहीं था जब कि डायडो के कत्ल पर मुझे भी रुलाई आ गई थी...' क्या हमें यह मानना होगा कि कुछ साहित्य उत्तेजक होता है और शेष रेचक या हमें पाठकों के अलग-अलग समूहों में और उनकी अनुक्रिया के स्वरूप में भेद करना होगा ? इसके अतिरिक्त क्या समस्त साहित्य को रेचक होना ही चाहिए ? इन समस्याओं पर 'साहित्य और मनोविज्ञान' और 'साहित्य और समाज' शीर्षक के अन्तर्गत विचार किया जाएगा, लेकिन इन्हें भूमिका के रूप में यहाँ उठा देना जरूरी था।

निष्कर्ष यह कि साहित्य के प्रयोजन से सम्बन्धित प्रश्न बहुत पुराना है। पश्चिमी जगत में यह प्रश्न प्लेटो से लेकर आज तक बार-बार उठाया जाता रहा है। यह प्रश्न ऐसा नहीं है जिसे कवि या काव्यप्रेमी लोग स्वाभाविक प्रवृत्तिवश उठाते रहे हों, ऐसे लोगों की दृष्टि में तो जैसा कि एमर्सन ने एक बार कहा था, 'सौन्दर्य के लिए किसी बाहरी हिमायत की जरूरत नहीं है।' इन लोगों की बजाय, इस प्रश्न को उपयोगितावादी और नैतिकतावादी लोग, या राजमर्मज्ञ और दार्शनिक अर्थात् अन्य विशेष मूल्यों के प्रतिनिधि या दूसरे सभी मूल्यों के विचारशील मध्यस्थ जन उठाते रहे हैं। वे पूछते हैं कि आखिर कविता की उपयोगिता क्या है? और वे यह प्रश्न समस्त सामाजिक और मानवीय पहलुओं को ध्यान में रखते हुए उठाते हैं। चूँकि कवि और काव्य-प्रेमी जन नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से जिम्मेदार नागरिक होते है अतः इस तरह की चुनौती का सामना होने पर वे एक तर्कसम्मत उत्तर देने की लाचारी अनुभव करते हैं। ऐसा करने के लिए वे एक कला-सिद्धान्त गढ़ने लगते हैं। वे कविता के समर्थन या मंडन में लेख लिखने लगते हैं : यह धार्मिक अपराध-स्वीकार का साहित्यिक समकक्षी है। इस ध्येय से अपने संभावित पाठकों को ध्यान में रख कर अपनी बात कहते हुए वे साहित्य में 'आनन्द' की अपेक्षा 'उपयोगिता' पर अधिक बल देने लगते हैं। अतः अर्थविज्ञान की दृष्टि से

आज साहित्य के 'प्रयोजन' को बड़ी आसानी से उसके बाह्य सम्बन्धों की समकक्षता में रखा जा सकता है। लेकिन स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के बाद से जब भी समाज ने कवियों को चुनौती दी है, उन्होंने प्रायः इसका एक ही उत्तर दिया है और यह वही उत्तर है जिसे ए० सी० ब्रैडली ने 'कविता के लिए' कहा है और सिद्धान्तकार 'उपयोगिता' शब्द को बड़ी खुशी से मंडन की सीमा में आने वाले पूरे साहित्य तक ही सीमित रखते हैं। इस रूप में इस शब्द का प्रयोग करते समय हम कहते हैं कि 'कविता के अनेक प्रयोजन हो सकते हैं।' इसका सबसे पहला और मुख्य काम है अपने स्वरूप के प्रति सच्चा बना रहना।



चार

साहित्य-सिद्धान्त, आलोचना तथा इतिहास

चूंकि हमने साहित्य के अध्ययन का एक तर्कसंगत आधार खड़ा कर लिया है, इसलिए हम यह कह सकते हैं कि साहित्य का व्यवस्थित और अखंड अध्ययन करना संभव है। इस प्रकार के लिए अंग्रेजी में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिसे बहुत अधिक सन्तोषजनक कहा जा सके। जो शब्द सबसे अधिक प्रयोग में आते हैं वे हैं 'लिटरेरी स्कालरशिप' (साहित्यिक पाण्डित्य) और 'फिलालजी' (साहित्य और भाषातत्व का अध्ययन)। पहला शब्द तो केवल इसलिए आपत्ति-जनक है कि इससे ऐसा लगता है जैसे 'आलोचना' को इसके क्षेत्र से बाहर रखा जा रहा है और अध्ययन के सैद्धांतिक रूप पर जोर दिया जा रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि कोई 'स्कालर' शब्द का एमर्सन की तरह व्यापक अर्थ करे जिसमें आलोचक को भी समेटा गया हो तो यह शब्द सर्वथा स्वीकार्य होगा। दूसरे शब्द 'फिलालजी' से तो अनेक तरह की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अब तक इसका जिस अर्थ में प्रयोग होता आया है उसमें न केवल साहित्यिक और भाषा-विषयक अध्ययनों को समेटा गया है, अपितु ऐसे सभी अध्ययनों को स्थान दिया गया है जो मानव-मस्तिष्क की उपज हैं। हालांकि यह शब्द सबसे अधिक लोकप्रिय उन्नीसवीं सदी में जर्मनी में हुआ था, लेकिन **'मार्डर्न फिलालजी'**, **'फिलालाजिकल क्वार्टरली'** और **'स्टडीज इन फिलालजी'** जैसी पत्रिकाओं के शीर्षकों के रूप में यह शब्द आज भी प्रयोग में चला आ रहा है। वेक जिसने फिलालजी पर बुनियादी ज्ञानकोश लिखा था (यह पुस्तक १८७७ में प्रकाशित हुई थी परन्तु इसका कुछ अंश ऐसे व्याख्यानों के आधार पर लिखा गया था जिनमें से कुछ १८०९ में ही दिये गये थे) 'फिलालजी' की परिभाषा करते हुए इसे **'ज्ञात का ज्ञान'** कहा था और इसलिए इसमें भाषा और साहित्य, कला

और राजनीति, धर्म और सामाजिक रीति-रिवाज सभी के अध्ययन को समेटा था। असल में देखें तो बेक की फिलालजी और ग्रीनलाव के 'साहित्यिक इतिहास' में कोई फर्क नहीं है, और इतना तो साफ ही है कि इसकी प्रेरणा के मूल में क्लासिकी अध्ययनों की आवश्यकता रही है, जिसके लिए इतिहास और पुरातत्व की सहायता खास तौर से आवश्यक प्रतीत होती है। बेक की दृष्टि में फिलालजी समूची सभ्यता का विज्ञान, और विशेषतः उस चीज का विज्ञान है जिसे उसने जर्मन स्वच्छन्दतावाद की शब्दावली में 'राष्ट्रीय भावना' कहा था, और साहित्यिक अध्ययन इसकी एक शाखा मात्र है। आज अपनी व्युत्पत्ति के कारण और विशेषज्ञों के बहुत सारे वास्तविक काम के कारण, फिलालजी को अक्सर भाषा-विज्ञान के अर्थ में, और विशेषतः ऐतिहासिक व्याकरण और भाषाओं के पुरातन रूपों के अध्ययन के अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

साहित्य के अध्येता के काम के लिए एक अन्य शब्द का भी प्रयोग किया जाता है और वह है 'शोध या अनुसंधान'। लेकिन यह शब्द खास तौर से अनुपयुक्त लगता है, क्योंकि इसमें सिर्फ सामग्री की प्राथमिक खोज पर बल दिया जाता है और इसमें सहज सुलभ सामग्री और 'अनुसंधेय' सामग्री में असंगत फर्क किया जाता है, या किया जाना मालूम होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई किसी दुर्लभ ग्रन्थ को पढ़ने के लिए ब्रिटिश म्यूजियम में जाता है तो यह अनुसंधान हुआ, लेकिन यदि वह अपने घर पर कुर्सी पर बैठा उसी पुस्तक की पुनर्मुद्रित प्रति पढ़ता है जो जाहिर है कि उसे एक भिन्न मानसिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा। 'अनुसंधान' शब्द से अधिक से अधिक इतना ही ध्वनित होता है कि इस-इस तरह के कुछ प्राथमिक कार्य करने होते हैं जिनकी सीमा और स्वरूप बहुत दूर तक इस बात पर निर्भर हैं कि समस्या किस ढंग की है। परन्तु इससे अर्थनिर्णय, प्रवृत्तिनिरूपण, और मूल्यांकन जैसी सूक्ष्म बातों की कुछ गन्ध नहीं आती, जो साहित्यिक अध्ययन की अपनी निजी विशेषताएँ है।

इतना तो जाहिर ही है कि हमारे इस अध्ययन के प्रसंग में साहित्य-सिद्धान्त, आलोचना और इतिहास के बीच भेद कर लेना नितान्त महत्वपूर्ण है। साहित्य को दो दृष्टियों से देखा जाता है। एक तो समूचे साहित्य को एक साथ अपने सामने रख कर, और दूसरे, इसे कालक्रम में व्यवस्थित करके और ऐतिहासिक प्रक्रिया का अभिन्न अंग मान कर। सबसे पहले तो इन दोनों में ही भेद हो जाता है। फिर साहित्य के सिद्धान्तों और मानदण्डों के अध्ययन और ठोस साहित्यिक कलाकृतियों के अध्ययन के बीच फर्क आ जाता है, चाहे हम इन्हें

अलग छाँट कर अध्ययन करें या कालक्रम में रख कर। यदि हम साहित्यिक अध्ययन के नियमों, वर्गीकरणों और मानदण्डों को 'साहित्य-सिद्धान्त' मान कर चलें, और इसे ठोस कलाकृतियों के अध्ययन से अलग करते हुए इस दूसरे को 'साहित्यालोचन' (जो मुख्यतः अध्ययन की एक रूढ प्रणाली है) या साहित्यिक इतिहास कहें तो हमारे लिए अधिक सुभीते की बात होगी। इसमें शक नहीं कि 'साहित्यालोचन' शब्द का प्रयोग अक्सर इस तरह किया जाता है मानो इसमें सारा साहित्य-सिद्धान्त समेट लिया गया हो; लेकिन इस तरह का प्रयोग करते समय एक उपयोगी भेद-रेखा की उपेक्षा कर दी जाती है। अरस्तू सिद्धान्त-रचयिता थे; सेण्ट व्यूव मुख्यतः आलोचक थे। केनेथ बर्क काफी हद तक एक सिद्धान्तकार हैं, जब कि आर० पी० ब्लैकमूर साहित्यालोचक। 'साहित्य-सिद्धान्त' शब्द में इसी तरह 'साहित्यिक आलोचना के सिद्धान्त' और 'साहित्यिक इतिहास का सिद्धान्त-पक्ष' भी शामिल किया जा सकता है—जैसा कि इस पुस्तक में किया गया है।

ये भेद-रेखाएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं और इन्हें अधिकांश लोग स्वीकार भी करते हैं। परन्तु यह बोध बहुत कम लोगों में पाया जाता है कि इन पद्धतियों का प्रयोग एक-दूसरी से अछूता रह कर नहीं किया जा सकता, और इनमें से हर एक दूसरों को इस तरह समेट हुई है कि बिना आलोचना और इतिहास के साहित्य-सिद्धान्त की, या बिना साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना के इतिहास की, या बिना इतिहास और साहित्य-सिद्धान्त के आलोचना की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जाहिर है कि ठोस साहित्यिक कृतियों के अध्ययन को आधार बनाए बिना साहित्य-सिद्धान्त गढ़ पाना असंभव है। बिना किसी आधार के मानदण्ड, श्रेणीभेद और विधाभेद नहीं हो सकता। लेकिन इसी तरह, बिना कुछ प्रश्नों, अवधारणाओं, सन्दर्भों और सामान्य नियमों के, साहित्यालोचन और इतिहास भी सम्भव नहीं हो सकता। बेशक यह कोई ऐसी दुविधा नहीं है जिसे दूर न किया जा सके; हम जब भी पढ़ते हैं, अपने मन में कुछ निश्चित धारणाएँ बना कर पढ़ते हैं और साहित्यिक कृतियों के विषय में हमारा अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इन धारणाओं में परिवर्तन और संशोधन होते चलते हैं। यह एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है जिसमें सिद्धान्त और व्यवहार दोनों का अर्थ परस्पर खुलता चलता है।

साहित्य के इतिहास को सिद्धान्त और आलोचना से अलग करने के प्रयत्न कई बार हो चुके हैं। उदाहरण के लिए, एफ० डब्ल्यू० बेट्सन ने यह दलील

दी थी कि साहित्य के इतिहास में यह दिखाया जाता है कि 'क' की उत्पत्ति 'ख' से हुई है जबकि आलोचना 'क' को 'ख' से अच्छा ठहराती है। इस मत के अनुसार, इतिहास का सम्बन्ध ऐसे तथ्यों से है जिनकी जाँच हो सकती है; सिद्धान्त और आलोचना का सम्बन्ध मत या राय और विश्वास से है। परन्तु यह भेद बहुत ठोस आधार पर नहीं है। साहित्य के इतिहास में इस तरह की सामग्री का सर्वथा अभाव है जिसे तटस्थ 'तथ्य' कहा जा सके। मूल्यगत निर्णय तो सामग्री के चयन में ही आ खड़ा होता है। यह सवाल तो वहीं आ जाता है जहाँ हम पुस्तकों में और साहित्य में भेद करते हैं, जब हम इस या उस लेखक पर कम या अधिक पृष्ठ लिखने का निश्चय करते हैं। यहाँ तक कि तिथियों या पुस्तक-विशेष का निश्चित पता लगाने में भी यह प्रकट होता है कि हम कुछ निर्णय पहले कर चुके हैं जिसके कारण हम लाखों दूसरी पुस्तकों और घटनाओं के बीच से इस विशेष पुस्तक या घटना का चुनाव करते हैं। यदि हम यह मान भी लें कि तिथियों, पुस्तक-विशेष और जीवन की घटनाओं जैसे कुछ तथ्य दूसरों की तुलना में अधिक तटस्थ होते हैं तो भी इससे हम साहित्य के इतिवृत्तों के ही संकलन की संभावना को मानते हैं। लेकिन इससे थोड़ा सा आगे बढ़ने पर किसी भी सवाल के लिए, यहाँ तक कि पाठालोचन या स्रोतों और प्रभावों के अध्ययन के लिए भी निरन्तर निर्णय का प्रश्न बना रहता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि 'पोप पर ड्राइडन का प्रभाव पड़ा है' तो इसके लिए हमें इनके युग के असंख्य कवियों के बीच से न केवल पोप और ड्राइडन को छाँटना पड़ता है, बल्कि इसके साथ ही ड्राइडन और पोप दोनों ही की अपनी विशिष्टताओं का ज्ञान रखना पड़ता है और इसके बाद इनको तोलने, तुलना करने और चुनाव करने का क्रम चलता है जो अनिवार्यतः आलोचनात्मक होता है। ब्यूमां और फ्लेचर के सहलेखन की समस्या को तब तक नहीं सुलझाया जा सकता जब तक हम इस विषय में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त न स्वीकार कर लें कि अमुक शैलीगत विशेषताएँ (या युक्तियाँ) इन दोनों में से अमुक लेखक की हैं: यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमें शैलीगत भेदों को बिल्कुल मामूली सी बात मानना होगा।

लेकिन आम तौर से साहित्यिक आलोचना को साहित्य के इतिहास से बिल्कुल अलग दिखाने के कुछ दूसरे आधार दिये जाते हैं। इस बात से इन्कार तो नहीं किया जाता कि इसमें निर्णय की आवश्यकता होती है, लेकिन यह तर्क दिया जाता है कि साहित्य के इतिहास के अपने निज के ही कुछ विचित्र मानदण्ड

और कसौटियाँ हैं, अर्थात् दूसरे युगों के मानदण्ड। साहित्यिक पुनर्निर्माण के हामियों का कहना है कि हमें अपनी पूर्वधारणाओं को सोचते-समझते अलग रख कर विगत यगों के लोगों के दिलों और दिमागों में पैठना चाहिए और उनके मानकों को स्वीकार करना चाहिए। यह दृष्टिकोण जिसे 'इतिहासपरतावाद' (हिस्टारिसिज़्म) कहते हैं, उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी में लगातार प्रतिपादित किया गया था, हालांकि वहाँ भी अर्नेस्ट ट्रेल्श जैसे विख्यात ऐतिहासिक सिद्धान्तकारों ने इसकी आलोचना की थी। अब लगता है इसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य में प्रवेश पा लिया है और हमारे 'साहित्यिक इतिहासकारों' में से कई खुले या दबे स्वर में इसका समर्थन करने लगे हैं। उदाहरण के लिए हार्डिन क्रेग ने कहा था कि पिछले दिनों विद्या के क्षेत्र में जो सबसे नया और अच्छा दौर आया है वह है 'चिन्तन में काल दोष से बचने की प्रवृत्ति।' ई० ई० स्टोल, जिन्होंने इस बात का अध्ययन किया है कि एलिज़बेथ युगीन मंच की रूढ़ियाँ क्या थीं और तत्कालीन दर्शक क्या चाहते थे, यह सिद्धान्त गढ़ा है कि साहित्यिक इतिहास का मुख्य उद्देश्य यह पता लगाना है कि लेखक ने किस आशय से किसी कृति की रचना की थी। एलिज़बेथ युगीन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, जैसे हास्य के तत्व, या कवियों की वैज्ञानिक या अर्ध-वैज्ञानिक अवधारणाओं के अध्ययन के जो प्रयत्न हुए हैं उनमें से अनेक में इसी तरह का कोई सिद्धान्त निहित है। रोजमंड टचर्ड ने आध्यात्मिक बिम्ब-विधान की उत्पत्ति और अर्थ की व्याख्या इस प्रसंग में करने का यत्न किया है कि डन और उसके समकालीनों ने प्रसिद्ध फ्रांसीसी सामाजिक सुधारक रेमस की तर्क-पद्धति की शिक्षा पाई थी।

इस तरह के अध्ययन हमें इस बात से पूरी तरह सहमत कर देते हैं कि हर युग की अपनी अलग आलोचनात्मक मान्यताएँ और रूढ़ियाँ रही हैं, अतः लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हर युग अपने आप में एक स्वतः पर्याप्त इकाई है जिसे उसने अपनी बिलकुल खास ढंग की कविता के माध्यम से व्यक्त किया है, जिसकी तुलना किसी अन्य युग की कविता से नहीं की जा सकती। इस मत का प्रतिपादन ए० पाटल ने अपनी पुस्तक **ईडियम ऑफ पोएट्री** में बड़े जोरदार ढंग से किया है। वह इसे 'आलोचनात्मक सापेक्षतावाद' की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि कविता के इतिहास में 'संवेद्यता में बहुत गहन परिवर्तन' आते रहे हैं, और इसमें 'किसी तरह की एकसूत्रता' नहीं पायी जाती। चूंकि उन्होंने आचार और धर्म के निरपेक्ष मानकों

की स्वीकृति के साथ इसे जोड़ दिया है अतः उनकी स्थापना बहुत मूल्यवान है।

'साहित्यिक इतिहास' की इस अवधारणा की अधिकतम माँग यही हो सकती है कि विगत युग या लुप्त रुचि की कल्पना करने, उसके साथ 'सहानुभूति' बनाने, उससे गहरा सौहार्द अनुभव करने का यत्न किया जाए। अनेक सभ्यताओं की सामान्य जीवन-दृष्टि, भावनाओं, अवधारणाओं, पूर्वाग्रहों और अन्तर्निहित मान्यताओं का सजीव रूप प्रस्तुत करने के अनेक ऐसे प्रयास हो चुके हैं जिनमें काफी सफलता मिली है। यूनानियों के देवताओं, स्त्रियों और गलामों के प्रति क्या भावना थी, इस विषय में आज हमें बहुत सारी बातें मालूम हो चुकी हैं; मध्यकाल में विश्व-रचना के विषय में लोगों के क्या खयाल थे, इसे आज हम काफी विस्तार से बता सकते हैं। और कुस्तुन्तुनिया की (बाइजैंटाइन) और चीन की कलाओं से लोगों के बिल्कुल भिन्न ढंग से देखने या कम से कम बिल्कुल भिन्न कला-परम्पराओं और रूढ़ियों का जो परिचय मिलता है उसे दर्शाने के भी अनेक प्रयत्न किए जा चुके हैं। जर्मनी में खास तौर से इस तरह के अध्ययनों की एक बाढ़-सी आई हुई है, जिनमें से अनेक स्पेंग्लर से प्रभावित हैं। इनमें गाथिक मनुष्य, बैरोक (१५५०-१८०० तक की कलाशैली) मनुष्य का अध्ययन किया जाता है और यह माना जाता है कि इसके सभी अध्येता हमारे अपने युग से एक सर्वथा भिन्न लोक में, अपनी ही एक दुनिया में जी रहे हैं।

साहित्य के अध्ययन में ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के इस प्रयास के कारण लेखक के आशय पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा है और यह माना जाने लगा है कि लेखक के आशय का अध्ययन आलोचना और साहित्य-विषयक रुचि के इतिहास में किया जा सकता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि यदि हम यह निश्चित कर सकें कि लेखक का आशय क्या था और यह देख सकें कि लेखक इसे पूरा करने में सफल हुआ है या नहीं तो हमारा काम आलोचना के बिना भी चल सकता है। लेखक ने एक समकालीन प्रयोजन की पूर्ति की है और इसलिए उसकी कृति की आलोचना करने की जरूरत ही नहीं है, बल्कि कहिए कि इस तरह की आलोचना संभव ही नहीं है। इस तरह यह पद्धति आलोचना के सिर्फ एक मानक को स्वीकार करती है और वह है समकालीन सफलता। इस तरह हम देखते है कि साहित्य की सिर्फ एक या दो ही नहीं, बल्कि सैकड़ों स्वतन्त्र, परस्पर भिन्न और बिल्कुल अलग धारणाएँ हैं। इनमें से हर एक अपने ढंग से 'दुरुस्त' है। कविता के विषय में लोगों के खयाल

इतने अलग-अलग हैं कि अन्ततः कुछ भी पल्ले नहीं पड़ता। इसका नतीजा एक ही हो सकता है और वह है निरी अराजकता या सभी मूल्यों का सफाया। साहित्य के इतिहास की धज्जियाँ उड़ा कर रख दी गई हैं और इसलिए यह तर्कहीन टुकड़ों की एक लड़ी बनकर रह गया है। इससे कहीं अधिक मर्यादित दृष्टिकोण तो वह है जिसमें यह माना जाता है कि काव्यादर्श के अतिवादी छोर हुआ करते हैं जो एक-दूसरे से इतने भिन्न पड़ते हैं कि इन्हें एक ही नाम से नहीं पुकारा जा सकता, जैसे क्लासिकी काव्य और स्वच्छन्दतावादी काव्य, पोप का आदर्श और वर्ड्सवर्थ का आदर्श, व्याच्यार्थप्रधान कविता और व्यंजनाप्रधान कविता।

परन्तु यह धारणा कि लेखक के 'आशय' का अध्ययन करना ही साहित्य के इतिहास का काम है, बिल्कुल गलत मालूम होती है। किसी कलाकृति की अर्थवत्ता उसके आशय के साथ ही नहीं चुक जाती, और न केवल आशय को कलाकृति का अर्थ माना जा सकता है। एक मूल्यप्रणाली के रूप में कलाकृति का अपना एक स्वतंत्र जीवन होता है। किसी कलाकृति का सम्पूर्ण अर्थ मात्र, लेखक या उसके समकालीनों के लिए उसका जो अर्थ था, उसी तक, सीमित नहीं किया जा सकता। यह उत्तराधिकार की प्रक्रिया का अर्थात् अनेक युगों में इसके अनेकानेक पाठकों द्वारा इसकी आलोचना के इतिहास का परिणाम हुआ करता है। ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के दावेदारों की तरह यह घोषणा करना कि यह पूरी प्रक्रिया असंगत है और हमें सिर्फ इसके आरंभ की ओर लौटना चाहिए, अनावश्यक और वस्तुतः असंभव है। हमारे लिए यह असंभव है कि हम अतीत के निर्णय में अपने को इस तरह व्यस्त कर लें कि बीसवीं शताब्दी के आदमी ही न रह जाएँ। हम अपनी भाषा, अपनी नई अर्जित भावनाओं और विगत शताब्दियों के प्रभावों और व्यंजनाओं से अपने लगावों को भूल नहीं सकते। हम होमर या चासर के समकालीन पाठक, या एथेन्स में डायोनीसस या लन्दन में ग्लोब (रंगमंच विशेष) के नाटकों के दर्शक नहीं बन सकते। किसी विगत जीवन-दृष्टि में सचमुच भाग लेने में और कल्पना के आधार पर उसे नये सिरे से खड़ा करने में सदा एक बहुत निर्णायक दूरी बनी रहेगी। यूरीपीडस के बेकी के दर्शक जिस तरह डायोनीसस को वास्तविक मानकर उसकी बातों पर हँसते थे हम उसे उसी तरह सच्चा मानकर नहीं हँस सकते; और हममें से शायद ही कोई ऐसा हो जो दान्ते के नरक के घेरों को, आत्मशुद्धि के पहाड़ों को अक्षरशः सत्य माने। यदि हम इस बात की सजीव कल्पना करने में समर्थ

हों कि हैम्लेट के समकालीनों के लिए इसका क्या अर्थ था तो हम उसके समूचे अर्थ-वैभव को ही नष्ट कर देंगे। हैम्लेट में बाद की पीढ़ियों ने जिन संगत अर्थों की तलाश की थी, उन सबको हम दबा देंगे। हम एक नई व्याख्या की संभावना को ही खत्म कर देंगे। यहाँ मैं यह स्थापना नहीं कर रहा हूँ कि लोग साहित्य का मनमाना ऊटपटांग अर्थ करते रह सकते हैं : साहित्य को ठीक-ठीक समझने और इसका ऊलजलूल अर्थ करने के बीच भेद करने की समस्या हमेशा बनी रहेगी और हर मामले में इसके अलग समाधान की आवश्यकता पड़ती रहेगी। इतिहास का विद्वान् किसी कृति को महज हमारे अपने युग के दृष्टिकोण से ही आंक कर संतुष्ट नहीं हो रहेगा। इसका सुभीता पेशेवर आलोचक को रहता है जो अतीत का मूल्यांकन वर्तमान शैली या आन्दोलन की आवश्यकताओं के अनुरूप करता है। इतिहासकार यदि कला-कृति पर एक तीसरे काल की दृष्टि से देखे, जो न तो उसकी समकालीन हो, न ही लेखक की, या किसी कृति के अर्थनिरूपण और आलोचना के समूचे इतिहास का सर्वेक्षण करे, जो उसकी सम्पूर्ण अर्थवत्ता के लिए निर्देशन का काम करेगा तो यह भी उसके लिए ज्ञान-वर्धक हो सकता है।

व्यावहारिक धरातल पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण और समकालीन दृष्टि के बीच इस तरह का स्पष्ट चुनाव बहुत कम ही संभव हो पाता है। हमें झूठे सापेक्षतावाद और झूठे निरपेक्षतावाद इन दोनों से ही सावधान रहना चाहिए। मूल्यों का विकास मूल्यांकन की ऐतिहासिक प्रक्रिया से होता है लेकिन मूल्यांकन की ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने में हमें इन मूल्यों से ही मदद मिलती है। ऐतिहासिक सापेक्षतावाद का उत्तर मताग्रही निरपेक्षतावाद नहीं है जो "अपरिवर्त्तनशील मानव प्रकृति" या "कला की सार्वजनीनता" के सिद्धान्तों के अनुरूप पड़ता है। हमें एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए जिसके लिए "परिप्रेक्ष्यवाद" सबसे उपयुक्त शब्द प्रतीत होता है। हमें किसी कृति को उसके अपने काल के और उसके बाद के सभी कालों के मूल्यों के सन्दर्भ में रख कर देखना चाहिए। कोई भी कलाकृति "शाश्वत" तो होती ही है (अर्थात् उसका अपना एक निजी रंग तो होता ही है) साथ ही वह "ऐतिहासिक" भी होती है (अर्थात् वह विकास के एक ऐसे क्रम से गुजरती है जिसका ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है)। सापेक्षतावाद साहित्य के इतिहास को विच्छिन्न टुकड़ों की एक कड़ी बना कर रख देता है जब कि अधिकांश निरपेक्षतावाद या तो चिर परिवर्तनशील वर्तमान को प्रस्तुत करते हैं या किसी ऐसे गैर साहित्यिक अमूर्त आदर्श पर

आधारित होते हैं (जैसे नव्य मानवतावादी, मार्क्सवादी और नव्य टामवादी मानक) जो साहित्य के ऐतिहासिक वैविध्य के प्रति उचित न्याय नहीं कर सकते। "परिप्रेक्ष्यवाद" का अर्थ यह है कि हम यह मान कर चलें कि सभी युगों की कविता या साहित्य एक ही है जो निरन्तर विकसित होता जा रहा है, बदलता जा रहा है और जिसके आगे अनन्त सम्भावनाएँ पड़ी हुई हैं। साहित्य न तो अनोखी कृतियों की एक ऐसी लड़ी है, जिनमें परस्पर किसी तरह की समानता नहीं होती न तो यह ऐसी कृतियों की लड़ी है जिन्हें ऐसे कालचक्रों में बाँटा जा सके जैसे स्वच्छन्दतावाद का युग या क्लासिकीवाद का युग, पोप का युग या वर्ड्सवर्थ का युग। यह एकरूपता या अपरिवर्त्तनीयता का 'एक-पिण्डीय लोक' है जिसे कुछ प्राचीन क्लासिकीवाद में आदर्श माना जाता था। निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद दोनों ही मिथ्या हैं, लेकिन इससे अधिक बड़ा खतरा, कम से कम अमरीका में, उस सापेक्षतावाद का है जिसे मूल्यों की अराजकता कहा जा सकता है और जिसमें आलोचना-कर्म ने एकदम आत्मसमर्पण सा कर दिया है।

व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो आज तक साहित्य का कोई इतिहास चयन के कुछ सिद्धान्त अपनाए बिना और चरित्रचित्रण तथा मूल्यांकन के कुछ प्रयास किये बिना नहीं लिखा गया। साहित्य के इतिहासकार, जो आलोचना के महत्व को अस्वीकार करते हैं, अवचेतन रूप से स्वयं भी आलोचक हुआ करते हैं, आमतौर पर ये उपजीवी आलोचक हुआ करते हैं जो परम्परागत मानकों और कीर्तियों को बिना किसी तर्क-वितर्क के स्वीकार कर लेते हैं। आजकल आमतौर पर पिछड़े हुए स्वच्छन्दतावादी लोग इस श्रेणी में आते हैं जिन्होंने अन्य सभी कलाओं से और खास तौर से आधुनिक साहित्य से अपनी आँख मूंद रखी है। लेकिन आर० जी० कालिंगवुड का कहना ठीक ही है कि जो आदमी "यह दावा करता है कि उसे उन बातों का पता है जिनके बल पर शैक्सपीयर को कवि ठहराया जाता है, वह एक तरह से यह भी दावा करता है कि उसे इस बात का पता है कि मिस स्टाइन कवि हैं या नहीं और यदि नहीं तो क्यों नहीं।"

इस "पण्डिताऊ" रुख का सबसे बुरा परिणाम यह रहा है कि हाल के साहित्य को गंभीरता के साथ अध्ययन के काबिल ही नहीं समझा गया। विद्वान् लोग "आधुनिक" साहित्य को इतने व्यापक अर्थ में लेते रहे हैं कि मिल्टन के बाद के शायद ही किसी ग्रन्थ को अध्ययन का उचित पात्र समझा गया हो। बाद में अठारहवीं शताब्दी का परम्परागत साहित्यिक इतिहास के रूप में उचित

और नियमित स्थान स्वीकार कर लिया गया है और इसकी चर्चा करना एक फैशन हो गया है क्योंकि यह एक अधिक लुभावने, अधिक स्थिर और अधिक श्रेणीबद्ध जगत में पलायन का अवसर प्रदान करती मालूम होती है। स्वच्छन्दतावादी काल और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की ओर भी अब विद्वानों की नजर जाने लगी है और साहित्य में कुछ ऐसे अडिग लोग भी हैं जो पाण्डित्य के क्षेत्र में जमे हुए हैं और जो समकालीन साहित्य की हिमायत करते हैं और इसका गंभीरता से अध्ययन करते हैं। जीवित लेखकों के अध्ययन के विरुद्ध एक मात्र तर्क यह दिया जा सकता है कि इनका अध्येता अब तक पूरी हो चुकी कृतियों के पूरे परिप्रेक्ष्य की उपेक्षा कर जाता है, वह उन अर्थ-विस्तारों की अवहेलना कर जाता है जो बाद की कृतियों से पहले वाली कृतियों को मिल सकता है। यह असुविधा हालांकि विकासशील लेखकों के मामले में ठीक हो सकती है पर जब हम इसकी तुलना उन सुविधाओं से करते हैं जो हमें कृति के समय और माहौल की जानकारी और लेखक से परिचय, पूछताछ और पत्र-व्यवहार के अवसर के रूप में मिलती हैं तो यह असुविधा बहुत नगण्य मालूम होती है। यदि अतीत काल के अनेक दूसरी श्रेणी के और यहाँ तक कि दसवीं श्रेणी तक के लेखकों को अध्ययन करने के योग्य समझा जाता है तो हमारे अपने समय के प्रथम और द्वितीय श्रेणी के लेखक भी अध्ययन के योग्य हुए अवश्य। दृष्टि के अभाव या भीरुता के कारण ही विद्वान् लोग अपने तईं किसी तरह का निर्णय करने में उदासीनता दिखाते हैं। वे कहते हैं कि इस पर आने वाला जमाना निर्णय करेगा, और वे यह भी नहीं समझते कि यह अन्य आलोचकों तथा पाठकों का और साथ ही अन्य प्रोफेसरों का निर्णय होगा। यह मानना कि साहित्य का इतिहासकार आलोचना और सिद्धान्त से बचा रहता है, बिल्कुल मिथ्या है? और इसका एक मामूली सा कारण तो यह है कि सारी कलाकृतियाँ आज हमारे सामने विद्यमान हैं, उन सब पर विचार किया जा सकता है और प्रत्येक कलाकृति कुछ कलागत समस्याओं का समाधान करती है, चाहे इसकी रचना कल हुई हो या एक हजार साल पहले। आलोचना के सिद्धान्तों को इस पर लगातार लागू किये बिना, इसका न तो विश्लेषण हो सकता है, न चरित्र-निरूपण और न ही मूल्यांकन। 'साहित्य के इतिहासकार को इतिहासकार बने रहने के लिए भी जरूरी है कि वह साथ ही आलोचक भी हो।"

विलोमतः, जब आलोचक अपनी पसन्द और नापसन्द के व्यक्तिगत दायरे से बाहर निकल आता है तब उसके लिए साहित्य का इतिहास भी बहुत अधिक

महत्वपूर्ण हो उठता है। एक आलोचक जो ऐतिहासिक सम्बन्ध-सूत्रों से अनभिज्ञ रहना चाहता है, अपने निर्णय में निरन्तर इधर-उधर भटकता रहेगा। वह यह नहीं जान पाएगा कि कौन सी रचना मौलिक है और कौन सी उपजीवी। और ऐतिहासिक परिस्थितियों के अज्ञान के कारण वह किसी विशेष कलाकृति को समझने में भी हमेशा गलतियाँ करेगा। जिस आलोचक को इतिहास का कोई ज्ञान नहीं है वह अटकलबाजियाँ लगाएगा या "महान कृतियों में लेखक का आत्म-चरित ढूंढ़ने की कोशिश करेगा। और कुल मिला कर इसका नतीजा यह होगा कि वह अधिक प्राचीन ग्रन्थों के पचड़े में पड़ने से कतराएगा और उन्हें पुरातत्वविदों और भाषाविदों" के हवाले करके सन्तोष कर लेगा।

इसका एक उदाहरण मध्यकालीन साहित्य और विशेषतः अँगरेजी का मध्यकालीन साहित्य है जिसे—संभवतः चासर इसके अपवाद साबित होंगे—सौन्दर्यशास्त्रीय और आलोचनात्मक दृष्टि से देखने की शायद ही कोशिश की गई हो। यदि ऐंग्लो-सैक्सन कविता या मध्यकाल के गीति-रचनाओं के समृद्ध भण्डार पर आधुनिक संवेदनशीलता को घटित किया जाए तो इसका एक नया ही रूप सामने आयेगा और इसी तरह यदि समकालीन साहित्य पर ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से विचार किया जाए और इनके विकास की समस्याओं पर व्यवस्थित ढंग से विचार किया जाए तो इन पर एक नया प्रकाश पड़ेगा। साहित्य के इतिहास और साहित्यिक आलोचना का सम्बन्ध टूट जाना दोनों के लिए घातक सिद्ध हुआ है।



पाँच

सामान्य, तुलनात्मक और राष्ट्रीय साहित्य

साहित्यिक अध्ययनों में हमने सिद्धान्त, इतिहास और आलोचना के बीच भेद कर लिया है। अब हम एक दूसरे आधार पर वर्गीकरण करते हुए तुलनात्मक, सामान्य और राष्ट्रीय साहित्य की व्यवस्थित परिभाषा करने का प्रयत्न करेंगे। 'तुलनात्मक' शब्द काफी उलझा हुआ शब्द है, और सच कहें तो यह उन कारणों में से एक रहा है जिनको साहित्यिक अध्ययन की इस महत्वपूर्ण विधा के सफल होने की जितनी आशा की जा सकती थी इसे उसकी अपेक्षा कम सफलता मिली है। अंग्रेजी में सबसे पहले इसका प्रयोग मैथ्यू अर्नाल्ड ने ऐम्पियर के शब्दों, **इस्तवार कोंपारातीव**, का अनुवाद करते हुए किया था (१८४८)। फ्रान्सीसी में इससे पहले से **लितरेत्योर कोंपारे** शब्द चला आ रहा था जिसका प्रयोग पहली बार विलमां ने (१८२९) में क्यूवियर के **अनातोमी कोंपारे** (१८००) के सादृश्य पर किया था और वहाँ आज भी यही शब्द प्रचलित है। जर्मन में इसके लिए एक भिन्न शब्द का प्रयोग चलता है। लेकिन यद्यपि ये सभी विशेषण अलग-अलग ढंग से बनाए गए हैं फिर भी इनमें कोई शब्द ऐसा नहीं है जो अपने आशय को पूरी तरह प्रकट कर सके। कारण यह है कि तुलना एक ऐसा शब्द है जिसका प्रयोग आलोचना और विज्ञान सभी में किया जाता है और यह साहित्यिक अध्ययन की अपनी विशिष्ट प्रक्रिया को संतोषजनक ढंग से व्यक्त नहीं कर पाता। साहित्यों के बीच—या यहाँ तक कि आन्दोलनों, लेखकों और कृतियों के बीच—तुलना को साहित्यिक इतिहास का मुख्य विषय शायद ही कभी बनाया गया हो हालाँकि एफ० सी० ग्रीन की **माइम्यूट** जैसी कोई पुस्तक जिसमें अठारहवीं शताब्दी के फ्रान्सीसी और अंग्रेजी साहित्य के विविध पहलुओं की तुलना की गई है न केवल दो

राष्ट्रों के साहित्यिक विकास की समानान्तर धाराओं और सादृश्यों की, बल्कि साथ ही इनके बीच के भेदों की व्याख्या करने की दृष्टि से भी ज्ञानवर्धक हो सकती है।

व्यावहारिक रूप में देखा जाए तो 'तुलनात्मक' साहित्य शब्द की सीमा में अध्ययन के अनेक क्षेत्र और अनेक तरह की समस्यायें आती रही हैं और आज भी आ रही हैं। एक तो इसमें मौखिक साहित्य और विशेषतः लोक-कथाओं के विषय और साहित्य में इनके स्थान पाने की समस्या का अध्ययन आ सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इस बात का अध्ययन कि 'उच्च' और 'कलात्मक' साहित्य में इनका प्रवेश कैसे हुआ। इस तरह की समस्या को खींच तान कर लोक-जीवन के स्तर तक लाया जा सकता है जो विद्या की एक महत्वपूर्ण शाखा तो है पर जिसका सम्बन्ध सौन्दर्य पक्ष से आंशिक रूप में ही पड़ता है, क्योंकि इसमें किसी जनसमूह की कलाओं का अध्ययन तो किया ही जाता है, साथ ही इसकी सम्पूर्ण संस्कृति का इसकी वेश-भूषा और रीतियों का अंध-विश्वासों और औजारों का अध्ययन भी किया जाता है। बहरहाल, हमें यह तो मानना ही होगा कि मौखिक साहित्य का अध्ययन करना साहित्यिक पाण्डित्य का एक अभिन्न अंग है क्योंकि लिखित रचनाओं के अध्ययन से इसे सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता और मौखिक तथा लिखित साहित्य के बीच हर युग में निरन्तर आदान-प्रदान होता रहा है और आज भी हो रहा है। हैन्स नामैन जैसे लोक-जीवन के अध्ययन के घोर समर्थकों के विचारों की छानबीन में न जाकर भी हम इतना तो देख ही सकते हैं कि उच्च वर्ग के लिखित साहित्य ने मौखिक साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है। दूसरी ओर, हमें यह भी मानना होगा कि अनेक बुनियादी साहित्यिक विधाओं और विषयों का आविर्भाव लोक-साहित्य में हो रहा है और हमारे यहाँ इस बात के बहुत सारे प्रमाण भरे पड़े हैं कि लोक-साहित्य का सामाजिक स्तर ऊँचा उठता जा रहा है। वीर-गाथाओं और वीर-गीतों को आज भी लोक-साहित्य में स्थान मिलता जा रहा है इसमें तो किसी तरह के सन्देह की गुंजायश ही नहीं है। हालांकि इस विचार से रोमांटिक ख्याल वाले लोगों को धक्का लग सकता है, जिन्हें सामान्य जन-समूह की सृजनात्मक प्रतिभा में और लोक-कलाओं के अति प्राचीन होने में गहरा विश्वास है, फिर भी जहाँ तक हमारी जानकारी है लोक-गाथाओं, परी-कथाओं और दन्तकथाओं की उत्पत्ति काफी बाद में हुई है और इनका जन्म उच्च-श्रेणी के साहित्य से हुआ है। फिर भी

साहित्य के ऐसे हर विद्वान् को जो साहित्य के विकास, साहित्यिक विधाओं और कौशलों की उत्पत्ति और उत्थान को समझना चाहता है लोक-साहित्य के अध्ययन से गहरा लगाव रखना चाहिए। यह दुर्भाग्य की बात है, कि अभी तक मौखिक साहित्य के नाम पर सिर्फ लोक-कथानकों का और एक देश से दूसरे देश में उनके पहुँचने का अर्थात् आधुनिक साहित्य की प्रकृत सामग्री का ही अध्ययन किया जाता रहा है। परन्तु पिछले कुछ दिनों से जन-जीवन के अध्येताओं ने साहित्य के प्रतिमानों, रूपों और कौशलों की ओर अर्थात् साहित्यिक विधाओं के रचनाविधान की ओर ध्यान देना आरंभ किया है। उन्होंने कहानी कहने वाले या किस्सागो तथा कहानी के श्रोताओं की समस्याओं की ओर ध्यान देना शुरू किया है और इस तरह उन्होंने एक ऐसा रास्ता तैयार किया है जिसमें वे अपने अध्ययनों को एक समन्वित रूप देकर उसे साहित्यिक पाण्डित्य की सामान्य धारणा के अनुरूप बना सकते हैं। मौखिक साहित्य के अध्ययन की अपनी विचित्र समस्यायें हैं परन्तु इसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने और इसके सामाजिक परिवेश की समस्यायें ऐसी बुनियादी समस्यायें हैं जिनका सामना लिखित साहित्य में भी करना होता है और एक लम्बे अरसे से मौखिक और लिखित साहित्य में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध बना चला आ रहा है जो आज तक कभी टूटने नहीं पाया है। आधुनिक यूरोपीय साहित्यों के पण्डित अपने लाभ के लिये इन प्रश्नों की उपेक्षा करते चले आये थे। इसके विपरीत स्लाव और स्कैण्डिनेवियाई देशों के अध्ययन करने वाले इतिहासकार, जहाँ लोककथाएँ अभी हाल तक जीवित रही हैं, इन अध्ययनों से अधिक निकट सम्पर्क बनाए रहे हैं। लेकिन 'तुलनात्मक' साहित्य शब्द से मौखिक साहित्य के अध्ययन को अभिहित नहीं किया जा सकता।

तुलनात्मक साहित्य शब्द का एक दूसरे अर्थ में प्रयोग किया जाता है जिसमें इसे दो साहित्यों के बीच के सम्बन्धों के अध्ययन तक सीमित रखा जाता है। इस रूप में इस शब्द को स्थापित करने वाला फ्रांसीसी तुलनात्मक अध्येताओं का सम्प्रदाय रहा है जिसके मूर्धन्य व्यक्ति रहे हैं बाल्डेनस्पर्गर और इस सम्प्रदाय का गढ़ रहा है रिव्यू द लितरात्यूर कोंपारे नामक पत्र। इस सम्प्रदाय ने इस तरह के प्रश्नों पर खास तौर से, कभी तो निरे कामचलाऊ ढंग से पर कभी-कभी काफी उचित आधारों पर ध्यान दिया है कि गेटे का नाम सबसे पहले इंग्लैंड और फ्रान्स में कब पहुँचा और उसकी कृतियों को वहाँ कब प्रवेश मिला, उसका अंग्रेजी और फ्रान्सीसी साहित्य पर कितना प्रभाव

राष्ट्रों के साहित्यिक विकास की समानान्तर धाराओं और सादृश्यों की, बल्कि साथ ही इनके बीच के भेदों की व्याख्या करने की दृष्टि से भी ज्ञानवर्धक हो सकती है।

व्यावहारिक रूप में देखा जाए तो 'तुलनात्मक' साहित्य शब्द की सीमा में अध्ययन के अनेक क्षेत्र और अनेक तरह की समस्यायें आती रही हैं और आज भी आ रही हैं। एक तो इसमें मौखिक साहित्य और विशेषतः लोक-कथाओं के विषय और साहित्य में इनके स्थान पाने की समस्या का अध्ययन आ सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इस बात का अध्ययन कि 'उच्च' और 'कलात्मक' साहित्य में इनका प्रवेश कैसे हुआ। इस तरह की समस्या को खींच तान कर लोक-जीवन के स्तर तक लाया जा सकता है जो विद्या की एक महत्वपूर्ण शाखा तो है पर जिसका सम्बन्ध सौन्दर्य पक्ष से आंशिक रूप में ही पड़ता है, क्योंकि इसमें किसी जनसमूह की कलाओं का अध्ययन तो किया ही जाता है, साथ ही इसकी सम्पूर्ण संस्कृति का इसकी वेश-भूषा और रीतियों का अंध-विश्वासों और औजारों का अध्ययन भी किया जाता है। बहरहाल, हमें यह तो मानना ही होगा कि मौखिक साहित्य का अध्ययन करना साहित्यिक पाण्डित्य का एक अभिन्न अंग है क्योंकि लिखित रचनाओं के अध्ययन से इसे सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता और मौखिक तथा लिखित साहित्य के बीच हर युग में निरन्तर आदान-प्रदान होता रहा है और आज भी हो रहा है। हैन्स नामैन जैसे लोक-जीवन के अध्ययन के घोर समर्थकों के विचारों की छानबीन में न जाकर भी हम इतना तो देख ही सकते है कि उच्च वर्ग के लिखित साहित्य ने मौखिक साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है। दूसरी ओर, हमें यह भी मानना होगा कि अनेक बुनियादी साहित्यिक विधाओं और विषयों का आविर्भाव लोक-साहित्य में हो रहा है और हमारे यहाँ इस बात के बहुत सारे प्रमाण भरे पड़े हैं कि लोक-साहित्य का सामाजिक स्तर ऊँचा उठता जा रहा है। वीर-गाथाओं और वीर-गीतों को आज भी लोक-साहित्य में स्थान मिलता जा रहा है इसमें तो किसी तरह के सन्देह की गुंजायश ही नहीं है। हालांकि इस विचार से रोमांटिक ख्याल वाले लोगों को धक्का लग सकता है, जिन्हें सामान्य जन-समूह की सृजनात्मक प्रतिभा में और लोक कलाओं के अति प्राचीन होने में गहरा विश्वास है, फिर भी जहाँ तक हमारी जानकारी है लोक-गाथाओं, परी-कथाओं और दन्तकथाओं की उत्पत्ति काफी बाद में हुई है और इनका जन्म उच्च-श्रेणी के साहित्य से हुआ है। फिर भी

साहित्य के ऐसे हर विद्वान् को जो साहित्य के विकास, साहित्यिक विधाओं और कौशलों की उत्पत्ति और उत्थान को समझना चाहता है लोक-साहित्य के अध्ययन से गहरा लगाव रखना चाहिए। यह दुर्भाग्य की बात है, कि अभी तक मौखिक साहित्य के नाम पर सिर्फ लोक-कथानकों का और एक देश से दूसरे देश में उनके पहुँचने का अर्थात् आधुनिक साहित्य की प्रकृत सामग्री का ही अध्ययन किया जाता रहा है। परन्तु पिछले कुछ दिनों से जन-जीवन के अध्येताओं ने साहित्य के प्रतिमानों, रूपों और कौशलों की ओर अर्थात् साहित्यिक विधाओं के रचनाविधान की ओर ध्यान देना आरंभ किया है। उन्होंने कहानी कहने वाले या किस्सागो तथा कहानी के श्रोताओं की समस्याओं की ओर ध्यान देना शुरू किया है और इस तरह उन्होंने एक ऐसा रास्ता तैयार किया है जिसमें वे अपने अध्ययनों को एक समन्वित रूप देकर उसे साहित्यिक पाण्डित्य की सामान्य धारणा के अनुरूप बना सकते हैं। मौखिक साहित्य के अध्ययन की अपनी विचित्र समस्यायें हैं परन्तु इसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने और इसके सामाजिक परिवेश की समस्यायें ऐसी बुनियादी समस्यायें है जिनका सामना लिखित साहित्य से भी करना होता है और एक लम्बे अरसे से मौखिक और लिखित साहित्य में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध बना चला आ रहा है जो आज तक कभी टूटने नहीं पाया है। आधुनिक यूरोपीय साहित्यों के पण्डित अपने लाभ के लिये इन प्रश्नों की उपेक्षा करते चले आये थे। इसके विपरीत स्लाव और स्कैण्डिनेवियाई देशों के अध्ययन करने वाले इतिहासकार, जहाँ लोककथाएँ अभी हाल तक जीवित रही है, इन अध्ययनों से अधिक निकट सम्पर्क बनाए रहे है। लेकिन 'तुलनात्मक' साहित्य शब्द से मौखिक साहित्य के अध्ययन को अभिहित नहीं किया जा सकता।

तुलनात्मक साहित्य शब्द का एक दूसरे अर्थ में प्रयोग किया जाता है जिसमें इसे दो साहित्यों के बीच के सम्बन्धों के अध्ययन तक सीमित रखा जाता है। इस रूप में इस शब्द को स्थापित करने वाला फ्रांसीसी तुलनात्मक अध्येताओं का सम्प्रदाय रहा है जिसके मूर्धन्य व्यक्ति रहे हैं बाल्डेनस्पर्गर और इस सम्प्रदाय का गढ़ रहा है रिव्यू द लितरातूर कोंपारे नामक पत्र। इस सम्प्रदाय ने इस तरह के प्रश्नों पर खास तौर से, कभी तो निरे कामचलाऊ ढंग से पर कभी-कभी काफी उचित आधारों पर ध्यान दिया है कि गेटे का नाम सबसे पहले इंग्लैंड और फ्रान्स में कब पहुँचा और उसकी कृतियों को वहाँ कब प्रवेश मिला, उसका अंग्रेजी और फ्रान्सीसी साहित्य पर कितना प्रभाव

पड़ा और वहाँ उसको कितनी लोकप्रियता मिली। फ्रान्स में ओसियन कार्लाइल और शिलर को लेकर भी इसी तरह के अध्ययन किये गये हैं। इसके अध्ययन की एक अलग पद्धति का विकास हुआ है जिसमें समीक्षाओं, अनुवादों और प्रभावों से सम्बन्धित सूचनाओं से आगे बढ़ कर इस बात का भी बहुत सावधानी से अध्ययन किया गया है कि किसी विशेष समय में किसी लेखक की प्रतिष्ठा कैसी थी, लोग उसके बारे में क्या सोचते थे। इसके लिए किसी रचना के प्रसार के विविध माध्यमों की छानबीन की गई है, जैसे पत्रिकाएँ, अनुवादक, गोष्ठियाँ और यात्रीगण। साथ ही उन विशेष साहित्यिक परिस्थितियों और वातावरण के ग्राही तत्वों को भी ध्यान में रखा जाता है जिनमें किसी विदेशी लेखक की रचनाओं को अपने यहाँ पाया जाता है। कुल मिलाकर कहें तो खास कर पश्चिमी यूरोपीय साहित्य की घनिष्ठ एकता के बहुत सारे प्रमाण एकत्र किये गये हैं और साहित्यों के 'विदेशी व्यापार' की बाबत हमारी जानकारी बेहद बढ़ गई है।

लेकिन यह मानना पड़ेगा कि 'तुलनात्मक साहित्य' की इस अवधारणा के साथ कुछ निराली कठिनाइयाँ भी लगी हुई हैं। ऐसा लगता है कि इस तरह के अध्ययनों की भीड़ लग जाए तो भी इससे किसी स्पष्ट प्रणाली का विकास नहीं हो सकता। 'फ्रान्सीसी साहित्य में शेक्सपीयर' और अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में 'शेक्सपीयर' के अध्ययन में बादलेयर पर पो के प्रभाव और पोप पर ड्राइडेन के प्रभाव को लेकर किये गये अध्ययनों के बीच पद्धति-विषयक कोई भेद नहीं है। यदि समूचे राष्ट्रीय साहित्य से अलग करके दो साहित्यों के बीच तुलना की जाए तो इसमें प्रायः स्रोतों और प्रभावों, प्रतिष्ठा और लोकप्रियता जैसी बाहरी समस्याओं की ओर झुकाव हो जाया करता है। इस तरह के अध्ययनों में किसी एक कृति का विश्लेषण और परख करने की गुंजाइश नहीं रहती। यहाँ तक कि इसमें समग्र कृतियों के उद्भव और विकास पर भी विचार करने की गुंजाइश नहीं रह जाती। इसके स्थान पर इनमें किसी महत्वपूर्ण कृति को लेकर इस तरह के अध्ययन किये जाते हैं कि इसके कितने अनुवाद हुए और किन-किन लेखकों ने इसका अनुकरण किया जैसा कि प्रायः द्वितीय श्रेणी के लेखक ही करते हैं या किसी महान् कृति का पूर्व इतिहास ढूंढ़ा जाने लगता है कि इसकी वस्तु-विषय और कला-रूप किन रूपों में पहले से विद्यमान था, यह कैसे उस देश में पहुँचा और फैला। यदि हम 'तुलनात्मक साहित्य' की कल्पना इस रूप में करें तो पायेंगे कि इसमें अधिक जोर बाह्य

पक्ष पर दिया जाता है। पिछले दशकों में इस प्रकार के 'तुलनात्मक साहित्य' का जो ह्रास हुआ है उससे जाहिर होता है कि अब सामान्य प्रवृत्ति निरे तथ्यों पर, स्रोतों और प्रभावों पर बल देने की नहीं रही है।

'तुलनात्मक साहित्य' की एक तीसरी अवधारणा भी प्रचलित है जिसमें समग्र साहित्य का 'विश्व साहित्य' का, 'सामान्य' या 'सार्वदेशिक' साहित्य का अध्ययन आता है और जो ऊपर के इन सभी आक्षेपों से मुक्त है। लेकिन इसके लिए जो तीन शब्द सुझाए गए हैं उनको लेकर कुछ कठिनाई अवश्य खड़ी होती है। 'विश्व साहित्य' शब्द जो गेटे के **वेल्टलिटरेचर** का अनुवाद है, संभवतः जरूरत से अधिक भड़कीला है और इससे यह अर्थ निकलता है कि साहित्य के अध्ययन में न्यूजीलैण्ड से लेकर आइसलैण्ड तक के पाँचों महाद्वीपों के साहित्य का अध्ययन आना चाहिए। सच पूछिए तो गेटे के दिमाग में ऐसी कोई चीज नहीं थी। 'विश्व साहित्य' शब्द का प्रयोग उसने उस काल के लिए किया था जब समूचे संसार का साहित्य एक हो जाएगा। यह उस आदर्श स्थिति की कल्पना है जब सभी साहित्य मिल कर एक संश्लिष्ट रूप धारण कर लेंगे और जिसके खटराग में हर राष्ट्र हिस्सा लेगा। लेकिन स्वयं गेटे को भी यह मालूम था कि यह आदर्श संभावना से बहुत दूर है, कि कोई भी राष्ट्र अपनी निजता को छोड़ने को तैयार नहीं है। आज तो हम लोग इस तरह की पंचमेल स्थिति से और भी दूर हट गए हैं और कोई भी आदमी सही मन से यह कामना भी नहीं करेगा कि राष्ट्रीय साहित्यों की विविधता धुल कर साफ हो जाए। 'विश्व साहित्य' का प्रयोग एक तीसरे अर्थ में भी होता है। इसका अर्थ हो सकता है कालजयी कृतियों का भंडार, अर्थात् होमर, दान्ते, सर्वान्ते, शेक्सपीयर और गेटे आदि की कृतियाँ जिनकी ख्याति सारे संसार में फैली हुई है और काफी लम्बे अरसे से बनी हुई है। इस दृष्टि से यह 'महान् कृतियों' का या विश्व साहित्य की चुनी हुई रचनाओं का समानार्थी बन गया है, जिनका आलोचनात्मक और शैक्षिक औचित्य तो है पर यह किसी ऐसे विद्वान् को सन्तुष्ट नहीं कर सकता जो अपने को महान् शिखरों तक ही सीमित नहीं रखना चाहता बल्कि पूरी पर्वत शृंखला को समझना चाहता है या इस रूपक को छोड़ दें तो कहें जो समूचे इतिहास और परिवर्तन-क्रम को समझना चाहता है।

'सामान्य साहित्य' एक ऐसा शब्द है जिसे संभवतः हम चुन सकते थे, पर इसके साथ कुछ दूसरी असुविधाएँ लगी हुई हैं। पहले इसका

(जनरल लिटरेचर) का प्रयोग काव्य-शास्त्र या साहित्य के सिद्धान्त पक्ष के लिए किया जाता था, और अभी हाल के दशकों में फान टीगहेम ने इसका प्रयोग 'तुलनात्मक साहित्य' के विपरीत एक अन्य विशेष संकल्पना के लिए करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार 'सामान्य साहित्य' के अन्तर्गत उन साहित्यिक आन्दोलनों और प्रचलनों का अध्ययन किया जाता है जो अपने राष्ट्र की सीमा को पार कर जाते हैं जब कि 'तुलनात्मक साहित्य' में दो या अधिक साहित्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है। लेकिन हम इस बात का निर्धारण कैसे कर सकते हैं कि कोई भी वाद जैसे ओसिनियनिज्म का अध्ययन 'सामान्य साहित्य' के अन्तर्गत होना चाहिए या 'तुलनात्मक साहित्य' के अन्तर्गत ? कोई भी आदमी विदेशों में वाल्टर स्काट के उपन्यासों के प्रभाव को ऐतिहासिक उपन्यासों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रचलन से कैसे अलग कर सकता है ? 'तुलनात्मक' और 'सामान्य' साहित्य अन्ततः एक-दूसरे में मिल जाते हैं। इससे अच्छा तो शायद यह होगा कि हम निरे 'साहित्य' की बात करें।

सार्वभौम साहित्यिक इतिहास की अवधारणा के रास्ते में चाहे जो भी कठिनाइयाँ क्यों न आएँ, समग्र साहित्य को एक मानना और भाषाई भेद-भाव की परवाह किए बिना इसकी वृद्धि और विकास की खोज करना अपने आप में काफी मानी रखता है। ऐसे चिन्तन का व्यावहारिक परिणाम यह होगा कि एक सामान्य इतिहास विशेषतः पश्चिमी परम्परा का, तैयार हो जाएगा। ग्रीक और रोमन साहित्यों में और पश्चिमी मध्ययुगीन जगत और प्रमुख आधुनिक साहित्यों में एक सम्बन्ध-सूत्र पाया जाता है, इसमें तो किसी तरह का सन्देह हो ही नहीं सकता और पूर्वी प्रभावों को, विशेषतः बाइबिल के प्रभावों के महत्व को कम किए बिना भी इतना स्पष्ट देखा जा सकता है कि यूरोप, रूस, संयुक्त राज्य और लातीनी अमेरिका के साहित्यों में बहुत गहरी एक-रूपता दिखाई देती है। इस आदर्श का स्वप्न उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में श्लेगेल, वाउटरवेक, सिसमाण्डी और हैलेम आदि साहित्यिक इतिहास के संस्थापकों ने देखा था और अपने सीमित साधनों के अन्दर उन्होंने इसे साकार रूप भी दिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विकासवाद के प्रभाव से सार्वभौम साहित्यिक इतिहास के आदर्श को एक सुगंगठित रूप दिया गया। 'तुलनात्मक साहित्य' के आरंभिक सिद्धान्तों में—कारायेव और पोसनेट की पुस्तकों में हर्बर्ट स्पेंसर की समाज-विज्ञानी धारणाओं का प्रभाव था

और उनमें संस्थाओं के विकास तथा साहित्य के विकास के बीच बहुत ही अधिक सादृश्य कायम किया था। आधुनिक साहित्यों के इतिहास पर विकासवाद के कुछ चिह्न पड़े तो अवश्य पर जब यह साहित्यिक परिवर्त्तनों और जैव विकास में बहुत निकट साम्य ढूंढ़ने की फिक्र में पड़ गया तो इसकी प्रतिष्ठा घट गई। इसके साथ ही सार्वभौम साहित्यिक इतिहास का आदर्श भी नीचे आ गया। प्रसन्नता की बात यह है कि पिछले वर्षों में ऐसे अनेक लक्षण प्रकट हुए हैं जिनसे यह आशा जागती है कि लोगों में सामान्य साहित्यिक इतिहासदर्शन की महत्वाकांक्षा फिर जाग्रत हो रही है। अर्नेस्ट राबर्ट कर्टिस की पुस्तक **यूरोपियन लिटरेचर एण्ड द लैटिन मिडल एजेज** (१९४८) जिसमें बहुत पाण्डित्य के साथ समग्र पाश्चात्य परम्परा में पाई जाने वाली समान बातों की खोज की गई है और एरिक आयरबैक की पुस्तक **माइमेसिस** (१९४६) जो होमर से लेकर जवायस तक के यथार्थवाद का इतिहास है, और जिसमें अलग-अलग अंशों को लेकर बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किये गये हैं, ऐसी विद्वत्तापूर्ण उपलब्धियां हैं जिनमें अब तक की बद्धमूल राष्ट्रवादिता की उपेक्षा करते हुए पश्चिमी सभ्यता की एकता को, क्लासिकी अतीत और मध्ययुगीन ईसाइयत की विरासत की जीवन्तता को बहुत तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अब सभी साहित्यों का एक समन्वित इतिहास, या कहें राष्ट्रीय स्तर से ऊपर उठ कर साहित्य का एक इतिहास हमें फिर लिखना होगा। इस दृष्टि से साहित्य के तुलनात्मक इतिहास के लिए हमारे अध्येताओं को अनेक भाषाओं में सिद्धहस्त होना पड़ेगा। इसके लिए अपने परिप्रेक्ष्य को व्यापक बनाना होगा, स्थानीय और आंचलिक भावुकता का परित्याग करना होगा, जो बहुत कठिन काम है। इसके बावजूद, साहित्य भी उसी तरह एक है जैसे कला और मानव-जाति एक है और साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन का भविष्य इसी संकल्पना में निहित है।

इस विशाल क्षेत्र की सीमा में—व्यवहारतः अन्य सभी साहित्यिक इतिहासों के सदृश ही—कुछ उपभेद भी पाये जाते हैं, जो भाषा-भेद के साथ-साथ चलते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। सर्वप्रथम तो यूरोप के तीन मुख्य भाषा-परिवारों के साहित्य—जर्मेनिक, रोमान्स, और स्लाव साहित्य—आते हैं। रोमान्स साहित्यों के पारस्परिक अन्तःसम्बन्धों का तो खासतौर से बीच-बीच में अध्ययन किया जाता रहा है और बाउटरवेक के समय से लियोनार्दो

ओल्स्की के समय तक इन सभी के मध्यकाल का इतिहास लिखने के प्रयत्न हुए हैं। जर्मेनिक साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन आमतौर से आरम्भिक मध्यकाल को लेकर किया गया है, जबकि सामान्य ट्यूटानिक सभ्यता का प्रभाव काफी सशक्त रूप में विद्यमान था। हालाँकि पोल विद्वानों के बीच एक विरोध-भाव आमतौर से देखने में आता है, लेकिन स्लाव भाषाओं में बहुत अधिक भाषावैज्ञानिक निकटता पाई जाती है और दोनों की परम्पराएँ, यहाँ तक कि छन्द-विधान भी, साझे हैं, और ये दोनों चीजें मिल कर एक अखंड स्लाव-साहित्य के लिए एक आधार तैयार करते हैं।

विषयवस्तुओं और कला-रूपों, कौशलों या शैलियों और साहित्यिक विधाओं का इतिहास तो स्पष्ट रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास के अन्तर्गत आएगा। अधिकांश कला-विधाएँ यूनान और रोम के साहित्य से ही अब तक चली आ रही हैं पर मध्य काल में इनमें बहुत अधिक परिष्कार और अभिवृद्धि की गई। छन्दशास्त्र यद्यपि अलग-अलग भाषा की अपनी प्रकृति से जुड़ा हुआ है, पर इसका इतिहास भी अन्तर्राष्ट्रीय आधार रखता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक यूरोप के महान् साहित्यिक आन्दोलन और शैलियाँ (पुनर्जागरण, बैरोक (वैचित्र्यवाद), नव्य-क्लासिकीवाद, स्वच्छन्दतावाद, यथार्थवाद, प्रतीक-वाद) राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण कर जाती हैं, हालाँकि इन शैलियों का विकास अलग-अलग राष्ट्रों में जिन रूपों में हुआ है उनमें बहुत महत्वपूर्ण भेद पाये जाते हैं। कुल मिलाकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में भाषागत सीमाओं के महत्व को अनावश्यक रूप से बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया गया था।

भाषागत भेदों पर इतना अधिक जोर देने का कारण रोमाण्टिक राष्ट्र-वाद (जो बहुत दूर तक भाषाई आधार पर खड़ा था) और आधुनिक सुसम्बद्ध साहित्यिक इतिहास के उत्थान के बीच बहुत नजदीकी लगाव था। यह आम तौर से संयुक्त राज्य में साहित्य की शिक्षा और भाषा की शिक्षा के बीच वस्तुतः अभेद मान बैठने आदि के व्यावहारिक प्रभावों के फलस्वरूप आज भी बना हुआ है। संयुक्त राज्य में इसका परिणाम यह हुआ है कि अंग्रेजी, जर्मन और फ्रान्सीसी साहित्य के अध्येताओं के बीच परस्पर सम्पर्क का नितान्त अभाव पाया जाता है। इन में से हर एक वर्ग के मन पर एक अलग ही छाप पाई जाती है और इनमें से हर एक एक अलग पद्धति का प्रयोग करता है। ये अलगाव कुछ सीमा तक तो अनिवार्य ही हैं क्योंकि अधिकांश लोग सिर्फ

एक भाषा माध्यम के भीतर जीते हैं; इसके अतिरिक्त जब साहित्यिक समस्याओं पर उस विशेष भाषा में उसके विषय में जो विचार प्रकट किये गये हैं सिर्फ उन्हीं को नजर में रखते हुए विवेचन किया जाता है और उसी भाषा के ग्रन्थों और लेखों के हवाले दिये जाते हैं तो इसका परिणाम और भी हास्यास्पद हो जाता है। हालाँकि कलात्मक शैली, छन्द, और कला-विधाओं तक में यूरोपीय भाषाओं के बीच भाषाजन्य भेद महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे, पर इतना स्पष्ट है कि वैचारिक इतिहास की बहुतेरी समस्याओं के लिए, जिनमें आलोचनात्मक विचार भी शामिल हैं, इस तरह के भेद अधिक देर तक नहीं टिक सकते। एक ही तरह की सामग्री के लिए कृत्रिम भेद-रेखाएँ खींची गई हैं, और ऐसी भाव-धाराओं की प्रतिध्वनियों को लेकर इतिहास-ग्रन्थों की रचना की गई है जो अंग्रेजी या फ्रेंच या जर्मन में संयोगवश ही व्यक्त हो गई हैं। किसी एक भाषा की ओर बहुत अधिक ध्यान देना मध्यकाल के अध्ययन के लिए बहुत घातक है, क्योंकि मध्यकाल में लैटिन साहित्य की अग्रणी भाषा थी और यूरोप में बहुत अधिक बौद्धिक एकता विद्यमान थी। मध्यकालीन इंग्लैण्ड का कोई ऐसा साहित्यिक इतिहास जिसमें लैटिन और आंग्ल नार्मन में लिखी गई प्रचुर सामग्री की अवहेलना की जाए, इंगलैंड की तत्कालीन साहित्यिक स्थिति और सामान्य संस्कृति का सही चित्र उपस्थित नहीं कर सकता।

जब साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की बात की जाती है तो इसका यह मतलब कदापि नहीं होता कि अलग-अलग राष्ट्रों के साहित्यिक इतिहास की उपेक्षा की जाए। सचाई तो यह है कि इस तरह का अध्ययन करते समय भी हमारा ध्यान इस बात पर ही केन्द्रित रहना चाहिए कि साहित्य की इस सामान्य प्रक्रिया में राष्ट्रिकता (राष्ट्र-विशेष की सदस्यता) को किस तरह अभिव्यक्ति मिली है और इसमें अलग-अलग राष्ट्रों ने क्या योगदान किया है। चाहिए तो यह था कि इसका अध्ययन सैद्धान्तिक स्पष्टता के साथ किया जाता, पर हुआ यह है कि यह समस्या राष्ट्रवादी भावना और मूलवंशीय सिद्धान्तों के कुहासे में पड़ कर धूमिल हो गई है। इस बात का अलग से अध्ययन करना कि अंग्रेजी साहित्य ने सामान्य साहित्य में कितना योगदान किया है, अपने आप में एक दिलचस्प समस्या हो सकती है और इससे अंग्रेजी साहित्य पर एक नया प्रकाश पड़ सकता है और इसकी महान् विभूतियों का भी एक नयी दृष्टि से मूल्यांकन हो सकता है। हर राष्ट्र के साहित्य के भीतर भी ठीक इसी तरह की समस्याएँ सामने आती हैं कि किसी विशेष अंचल या नगर का इसके

विकास में क्या योग रहा। जोजेफ नैडलर ने इस सिद्धान्त को एक अतिरंजित रूप दे दिया है। उनका कथन है कि हमें हर जर्मन जन-जाति और अंचल की चरित्रगत विशेषताओं और विचित्रताओं का सूक्ष्मता से अवलोकन करना और यह देखना चाहिए कि साहित्य में ये किस रूप में प्रतिबिम्बित हुए हैं, परन्तु उनकी इस स्थापना के कारण हमें इन पहलुओं पर विचार करने से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि इन समस्याओं की छान-बीन तथ्यों पर पूरा अधिकार रखते हुए और किसी तर्कसंगत पद्धति के आधार पर शायद ही कभी की गई हो। अमरीकी साहित्य के इतिहास में न्यू इंग्लैंड, मिडलवेस्ट और दक्षिण के योगदान को लेकर जो कुछ भी लिखा गया है और आंचलिकता को ध्यान में रख कर जितना कुछ लिखा गया है, उसमें अधिकांशतः लेखकों की सदाशाओं, स्थानीय गर्व और केन्द्रीकरण की ओर उन्मुख करने वाली शक्तियों के प्रति खीझ की ही अभिव्यक्ति हुई है। यदि इस विषय में तटस्थ विश्लेषण का सहारा लिया जाए तो हमें लेखकों के मूलवंश तथा संयुक्त राज्य में आकर बसने से सम्बन्धित समाजशास्त्रीय प्रश्नों को प्राकृतिक दृश्यावली के असल प्रभाव के प्रश्नों तथा साहित्यिक परम्परा और प्रचलन के प्रश्नों से स्पष्टतः अलग करना होगा।

'राष्ट्रिकता' या राष्ट्रविशेष की सदस्यता की समस्याएँ तब अधिक पेचीदा हो जाती हैं जब हमें यह तय करना पड़ता है कि उसी भाषा के साहित्य दो भिन्न राष्ट्रीय साहित्य हैं, जैसे कि अमेरिकी और आधुनिक आयरी साहित्य निश्चित रूप से हैं। इस तरह के प्रश्नों का समाधान करना जरूरी है कि क्यों गोल्डस्मिथ, स्टर्न और शेरिडन आयरी साहित्य के अन्तर्गत नहीं आते जबकि येट्स और ज्वायस इसमें आते हैं। क्या बेल्जियन, स्विस और आस्ट्रियाई साहित्य एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं? इस बात का निश्चय करना कठिन है कि ठीक किस बिन्दु पर आकर अमरीका का साहित्य 'उपनिवेशकालीन अंग्रेजी' साहित्य न रह कर एक स्वतंत्र राष्ट्रीय साहित्य का रूप ले लेता है। क्या यह निरी राजनैतिक स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ है? या यह स्वयं लेखकों की राष्ट्रीय चेतना से जुड़ा हुआ है? या यह राष्ट्रीय विषय-वस्तु और 'स्थानीय रंगत' से जुड़ा हुआहै? क्या यह एक निश्चित राष्ट्रीय साहित्यिक शैली के उत्थान से जुड़ा है?

इन समस्याओं को तय कर लेने के बाद ही हम राष्ट्रीय साहित्यों को लेकर ऐसे इतिहास-ग्रन्थ लिख सकेंगे जो सिर्फ भौगोलिक या भाषाई भेद पर आधा-

रित नहीं होंगे, तभी जाकर हम यह विश्लेषण कर पायेंगे कि किस तरह प्रत्येक राष्ट्र का साहित्य यूरोपीय परम्परा में स्थान पाता है। सार्वभौम या राष्ट्रीय साहित्य एक दूसरे में उलझे हुए प्रश्न हैं। एक ही रूढ़ि जो पूरे यूरोप में फैली हुई है, अलग-अलग देशों में पहुँच कर अलग-अलग रूप ले लेती है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक देश की अपनी परम्परा के कुछ केन्द्र-विन्दु हैं और हैं कुछ नितान्त विलक्षण विभूतियाँ जो एक राष्ट्र की परम्परा को दूसरे राष्ट्रों की परम्पराओं से बिल्कुल अलग ले जाती हैं। यह बताने के लिए कि सामान्य साहित्य में किन-किन का कितना योगदान है, हमें पूरे साहित्यिक इतिहास की ऐसी तमाम सारी बातों की जानकारी रखनी होगी, जिनकी जानकारी कोई मतलब नहीं रखती।



खण्ड : दो | प्रारंभिक कार्रवाई

छः

साक्ष्यों की क्रम-व्यवस्था और स्थापना

अनुसंधान के प्राथमिक कामों में से एक है सामग्री का संकलन, समय के प्रभाव से उसमें जो विकृतियाँ आ गई हों उन्हें सावधानी से दूर करना, इस बात का पता लगाना कि इसका लेखक कौन है, उपलब्ध सामग्री कहाँ तक प्रामाणिक है और इसका रचना-काल क्या है। इन समस्याओं को सुलझाने में लोगों ने बहुत विदग्धता और परिश्रम से काम लिया है, फिर भी साहित्य के अध्येता को ऐसा महसूस होगा कि यह सारा श्रम अनुसंधान के सर्वोपरि कार्य के लिए एक भूमिका मात्र है। इन कार्यों के अभाव में आलोचनात्मक विश्लेषण और ऐतिहासिक बोध में बहुत भारी त्रुटियाँ रह जाएँगी और इसलिए प्रायः इनका भी बहुत अधिक महत्व हुआ करता है। यह बात ऐंग्लो सैक्सन साहित्य जैसी किसी ऐसी साहित्यिक परम्परा के विषय में तो सच है, जिसकी बहुत सारी सामग्री अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है, लेकिन बिल्कुल आधुनिक साहित्य के अध्येता के लिए इस तरह के अध्ययनों का महत्व बहुत अधिक नहीं होता, क्योंकि उसकी दिलचस्पी कृतियों के साहित्यिक अर्थ में हुआ करती है। इस प्रकार के अध्ययनों में पाये जाने वाले विद्या-दंभ के कारण या तो इनकी बेवजह मखौल उड़ाई जाती है, या फिर इनकी कल्पित या वास्तविक शुद्धता के लिए इनकी बहुत अधिक प्रशंसा की जाती है। जो लोग सुव्यवस्थित कार्य-विधि में और कार्य-कौशल की बारीकियों में रस लेते हैं, वे इनकी अन्तिम सार्थकता से अलग भी इस बात से आकृष्ट होते रहे हैं कि किन्हीं विशेष समस्याओं को कितने बेदाग और निर्दोष ढंग से सुलझाया गया है। इन अध्ययनों की निन्दा सिर्फ तभी की जा सकती है जब कि ये दूसरे अध्ययनों को स्थानच्युत करने लगें और इन्हें विशेष अध्ययन के नाम पर साहित्य के विद्यार्थियों पर निर्ममता के

साथ थोपा जाने लगे। साहित्यिक कृतियों के सम्पादन में इतनी सतर्कता बरती गई है, इनके एक-एक अंश को लेकर इतनी अधिक शुद्धियाँ की गई हैं, ऐसी छोटी-छोटी बातों को लेकर भी बड़ा तर्क-वितर्क किया गया है जो साहित्यिक या ऐतिहासिक किसी भी दृष्टि से चर्चा के योग्य नहीं थीं। अथवा, यदि ये इस योग्य हों भी तो इनकी ओर सिर्फ उसी तरह का ध्यान दिया जाना चाहिए जितना कोई पाठालोचक किसी पुस्तक की ओर देता है। अन्य मानवीय क्रियाओं की तरह ये प्रयास भी स्वयं अपने-आप में ही एक लक्ष्य बन जाते हैं।

इन प्रारंभिक कार्यों में हमें दो स्तरों पर कार्रवाई करनी पड़ती है, जिनमें फर्क कर लेना जरूरी है: १—पाठ-सामग्री एकत्र करना और शुद्ध पाठ तैयार करना; तथा २—काल-निर्धारण, प्रामाणिकता, रचयिता का निश्चय, इस बात का निश्चय कि इसमें किन-किन और लोगों ने योगदान किया है, संशोधन और ऐसे ही दूसरे काम जिन्हें बहुधा 'उच्च आलोचना' का नाम दिया गया है। 'उच्च आलोचना' शब्द बाइबिल के विषय में किये गये अध्ययनों से निकला है और इसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

यदि हम इन कार्यों के विभिन्न सोपानों में भेद कर लें तो यह अधिक लाभकर रहेगा। सबसे पहले तो सामग्री जुटाने और रखने का सवाल आता है, चाहे वह सामग्री हस्तलिखित रूप में हो या मुद्रित रूप में। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में यह काम लगभग पूरी तरह खत्म हो चुका है, हालांकि इस शताब्दी में **द बुक आफ मार्गरी केम्प** और मेडवाल की **फल्जेन्स एण्ड लुक्रीस** और क्रिस्टाफर स्मार्ट की **रिज्वायस इन द लैम्ब** जैसी कुछ खासी महत्वपूर्ण कृतियों ने अंग्रेजी रहस्यवाद और अंग्रेजी कविता के इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान कुछ और बढ़ाया है। लेकिन व्यक्तिगत और कानूनी दस्तावेजों की खोज का कोई अन्त नहीं है, जो साहित्य पर या कम से कम अंग्रेजी के लेखकों के जीवन पर प्रकाश डाल सकते हैं। पिछले कुछ दशकों में मार्लो के विषय में लेस्ली होस्टन की नई खोज और बासवेल के दस्तावेजों का उद्धार इसके सर्वविदित दृष्टान्त हैं। दूसरे साहित्यों में, खासकर, ऐसे साहित्यों में जिनमें लिखित रूप में बहुत कम सामग्री का ही निर्धारण हो पाया है, नई खोजों के लिए बहुत अधिक संभावना हो सकती है।

मौखिक साहित्य के क्षेत्र में सामग्री जुटाने की अपनी एक निराली ही समस्या है, जैसे किसी सक्षम गायक या किस्सागो की खोज, उसे गाने या

किस्सा सुनाने के लिए प्रेरित करने की युक्ति और कौशल, रेकार्ड से या ध्वनि-लिपि में उन्हें लिपिबद्ध करने की पद्धति और ऐसी ही अनेक दूसरी बातें। हस्त-लिखित सामग्रियाँ प्राप्त करने में शुद्ध व्य वहारिक समस्या का सामना करना पड़ता है, जैसे लेखक के उत्तराधिकारियों से व्यक्तिगत परिचय, किसी व्यक्ति की अपनी प्रतिष्ठा और आर्थिक सीमाएँ, और कभी-कभी जासूसी का कुछ हुनर। इस प्रकार के अनुसंधान-कार्य के लिए वहुत विशेष ज्ञान की आवश्यकता पड़ सकती है जैसे लेस्ली हण्टन के मामले में देखने में आता है, जिसे पब्लिक रेकार्ड आफिस (लोक अभिलेख कार्यालय) में पड़े दस्तावेजों की भीड़ में से अपने लिए उपयुक्त सामग्री के चुनाव के लिए एलिज़बेथकालीन वैधानिक प्रक्रिया के विषय में बहुत सारी जानकारी हासिल करनी पड़ी थी। चूंकि अधिकांश शोध-छात्रों को अपनी मूल सामग्री पुस्तकालयों में मिल सकती है, अतः सबसे महत्वपूर्ण पुस्तकालयों का ज्ञान और साथ ही उनकी ग्रन्थ-सूचियों तथा अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थों की थोड़ी-बहुत जानकारी साहित्य के हर छात्र को होना बहुत महत्व रखता है, इसमें तो किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता।

ग्रन्थ-सूची और ग्रन्थ-परिचय के तकनीकी ब्योरों को हम छोड़ सकते हैं। यह लाइब्रेरियनों और व्यावसायिक ग्रन्थ-विज्ञानियों का काम है; लेकिन कभी-कभी ग्रन्थ-परिचय सम्बन्धी तथ्यों की भी साहित्यिक सार्थकता और मूल्य हो सकता है। संस्करणों की संख्या और आकार प्रसिद्धि और सफलता के प्रश्नों पर प्रकाश डाल सकता है। संस्करणों में पाये जाने वाले अन्तर से हमें यह पता चल सकता है कि किन-किन अवस्थाओं पर लेखक ने पुस्तक में संशोधन किये हैं और इस तरह किसी साहित्यिक कृति के लेखन-क्रम और विकास का पता चल सकता है। कुशलतापूर्वक सम्पादित किसी ग्रन्थ-संग्रह में, जैसे **कैम्ब्रिज बिब्लियोग्राफी आफ इंग्लिश लिटरेचर** में, अनुसंधान के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र खुला पड़ा है; और ग्रेग की **बिब्लियोग्राफी आफ इंग्लिश ड्रामा**, जानसन की **स्पेंसर बिब्लियोग्राफी**, मैकडोनाल्ड की **ड्राइडेन बिब्लियोग्राफी** तथा ग्रिफिथ की **पोप बिब्लियोग्राफी** जैसी पुस्तक-तालिकाएँ साहित्य के इतिहास की अनेक समस्याओं का निराकरण करने में मार्गदर्शन कर सकती हैं। इस तरह की पुस्तक-तालिकाओं के विषय में विभिन्न मुद्रणालयों में मुद्रण के तरीकों, और पुस्तक-विक्रेताओं और प्रकाशकों के इतिहासों की छान-बीन करने की आवश्यकता पड़ सकती है। इसके साथ ही इस बात का ज्ञान भी अपेक्षित

हो सकता है कि मुद्रक पुस्तकों के मुद्रण में किन युक्तियों को काम में लाते थे, उनके जल-चिह्न (वाटरमार्क) क्या थे, वे किस फौण्ट के टाइपों का प्रयोग करते थे, कम्पोजीटर स्पेस किस तरह किया करते थे, और जिल्द किस तरह से बाँधी जाती थी। तिथि-निर्धारण, प्रकाशनों के क्रम आदि की पेचीदगियों की दृष्टि से साहित्य के इतिहास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए पुस्तकालय-विज्ञान की कुछ जानकारी, या पुस्तक-प्रकाशन के इतिहास की विस्तृत जानकारी निश्चित रूप से आवश्यक हो सकती है। पुस्तक-तालिकाएँ दो प्रकार की होती हैं। एक तो 'वर्णनात्मक' पुस्तक-तालिका, जिसमें किसी पुस्तक की वास्तविक सज्जा का सूक्ष्मता से मिलान और जाँच करने की कला का उपयोग किया जाता है, और दूसरी परिगणनात्मक पुस्तक-तालिका, जिसमें पुस्तकों का नाम गिनाया जाता है और इसके साथ केवल उतना ही ब्योरा दिया जाता है जिससे उस पुस्तक का परिचय मिल सके। इन दोनों में फर्क कर लेना आवश्यक है।

सामग्री जुटा लेने और उसकी सूची तैयार कर लेने के आरंभिक काम के समाप्त हो जाने के बाद, संपादन की प्रक्रिया आरंभ होती है। सम्पादन में कई तरह के बहुत जटिल काम करने पड़ते हैं, जिनमें टीका और ऐतिहासिक अनुसंधान दोनों ही शामिल हैं। कुछ सम्पादित ग्रन्थ ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें भूमिका और टिप्पणियों में बहुत महत्वपूर्ण आलोचना भी दी जाती है। सचाई तो यह है कि, किसी भी तरह के अन्य साहित्यिक अनुसंधान से सम्पादन अधिक जटिल काम होता है। साहित्यिक अनुसंधान के इतिहास में संपादन-कार्य ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। ये पाण्डित्य के अगाध भण्डार का काम दे सकते हैं। इसका अभी एक हाल का उदाहरण है एफ० एन० राबिन्सन का चासर का सम्पादन। इनमें किसी लेखक के विषय में हर प्रकार की जानकारी दी जा सकती है। लेकिन इसका मुख्य प्रयोजन है किसी कृति का शुद्ध पाठ स्थिर करना और इस अर्थ में भी सम्पादन की अपनी खास तरह की समस्यायें हैं, और इनमें 'पाठालोचन' एक नितान्त विकसित टैकनीक है, और खास तौर से क्लासिक ग्रंथों और बाइबिल से सम्बन्धित अनुसंधान को ध्यान में रखें तो इसका इतिहास भी बहुत लम्बा है।

क्लासिकी या मध्यकालीन पाण्डुलिपियों के सम्पादन के समय जो समस्यायें उठती हैं, वे मुद्रित सामग्री के सम्पादन के समय उठने वाली समस्याओं से भिन्न होती हैं और इन दोनों में सूक्ष्म विभेद कर लेना जरूरी है। पाण्डुलिपि की

सामग्री के सम्पादन के लिए सबसे पहले तो प्राचीन लिपि-शास्त्र का ज्ञान आवश्यक होगा। यह एक ऐसी विद्या है, जिसमें पाण्डुलिपियों के काल-निर्धारण के लिए बहुत सूक्ष्म मानदण्ड निश्चित किये गये हैं, और जिसमें शब्द-संक्षेपों का निर्धारण करने के लिए अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं। किसी एक ही काल के विशिष्ट मठों में से किस मठ से कोई पाण्डुलिपि मिली होगी, इसका ठीक पता लगाने की दृष्टि से बहुत सारा काम हुआ है। इन पाण्डलिपियों के बीच के सम्पर्क-सूत्र के विषय में बहुत जटिल समस्यायें उठ सकती हैं। छानबीन करते समय इनका वर्गीकरण करने की आवश्यकता पड़ सकती है, और इनका वंशवृक्ष बनाकर इसे बिल्कुल स्पष्ट किया जा सकता है। हालांकि बेडीयर और शेपर्ड जैसे कुछ विद्वान् यह तर्क देते है कि वर्गीकरण करने की सर्वथा वस्तुनिष्ठ पद्धति कोई है ही नहीं, पर इसके बावजूद भी पिछले कुछ दशकों में डाम हेनरी क्वेण्टिन और डब्ल्यू० डब्ल्यू ग्रेग ने ऐसी विस्तृत प्रविधियाँ निकाली हैं, जिनके विषय में वे यह दावा करते हैं कि ये वैज्ञानिक प्रविधियों की ही तरह सुनिश्चित हैं। यह स्थान इस तरह के किसी प्रश्न पर निर्णय करने का तो नहीं है, फिर भी हमारा झुकाव पहले दृष्टिकोण की ओर ही होना चाहिए। हमारा निष्कर्ष यह है कि किसी-किसी कल्पित कृति को 'मौलिक' सिद्ध करने के लिए नया आधार खड़ा करने की अपेक्षा किसी ऐसी पाण्डुलिपि का सम्पादन करना अधिक निरापद है जिसे लेखक की कृति से सबसे अधिक मिलता-जुलता माना जा रहा हो। इसमें कोई शक नहीं कि सम्पादन विभिन्न कृतियों की सूक्ष्मता से तुलना करने के बाद ही किया जा सकेगा और सम्पादन के लिए किसी कृति का चुनाव पाण्डुलिपियों की समूची परम्परा का अध्ययन करने के बाद ही किया जायेगा। **पायर्स प्लाउमैन** की साठ पाण्डुलिपियाँ और **कैण्टरबरी टेल्स** की तिरासी पाण्डुलिपियाँ आज तक बची हुई हैं और इनके विषय में अपने अनुभवों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी आधुनिक कृति का जैसा सुनिश्चित संस्करण हमें आज मिलता है, उस तरह का किसी कृति का अधिकृत शुद्ध पाठ या प्राचीन मूल पाठ किसी समय था ही नहीं।

उपलब्ध प्रतियों की आलोचना करते हुए उनकी क्रम-परम्परा निर्धारित करने की प्रक्रिया में और वास्तविक पाठालोचन व पाठशोध में फर्क होता है। पाठालोचन और पाठशोध इन वर्गीकरणों पर आधारित तो होता है, लेकिन इसमें पाण्डुलिपियों की परम्परा से अलग भी कुछ दृष्टिकोण और मानदण्ड अपनाने होते हैं। पाठशोध में 'शुद्धता' को मानदण्ड बनाया जाता है. अर्थात्

यह देखा जाता है कि प्राचीनतम और उत्कृष्टतम (अर्थात् सबसे आधिकारिक) पाण्डुलिपि के किसी शब्द या अंश के क्या रूप बाद की पाण्डुलिपियों में मिलते हैं; लेकिन शुद्धता के लिए इसमें अन्य दृष्टियों से भी विचार करना होता है, जैसे भाषा-वैज्ञानिक मानदण्ड, ऐतिहासिक मानदण्ड, और अन्ततः सबसे अपरिहार्य मनोवैज्ञानिक मानदण्ड। यदि हम इन दृष्टियों से विचार न करें तो लिपिकार से जो 'अनायास त्रुटियाँ' हो जाती हैं, वह गलत पढ़ने के कारण जो त्रुटियाँ करता है, या लिखते समय उससे जो त्रुटियाँ हो जाती हैं, साहचर्य के कारण जो भूलें होती हैं, या जानबूझ कर वह उसमें जो परिवर्तन कर देता है, उन सबको अलग कर पाना संभव नहीं होगा। फिर भी बहुत कुछ चीज आलोचक की ठीक अटकल, उसकी रुचि और भाषा-विषयक भावना पर ही रह जाएगी। यह ठीक ही है कि आधुनिक आलोचक इस तरह की अटकलबाजियों की ओर से अधिकाधिक उदासीन होते गये हैं लेकिन इसकी प्रतिक्रिया यह है कि वे मूल-प्रति को यथावत् प्रकाशित करने का बहुत जोरदार समर्थन करने लगे हैं और इस दिशा में वे इतने आगे बढ़ गये हैं कि संपादक मूल प्रति के शब्द-संक्षेपों, लेखन की भूलों और मूल कृति के बेतुके विराम-चिह्नों को भी ज्यों-का-त्यों उठा कर रख देते हैं। यह बात दूसरे सम्पादकों के लिए या कभी-कभी भाषा-वैज्ञानिकों के लिए महत्वपूर्ण हो सकती है परन्तु साहित्य के अध्येता के लिए यह एक व्यर्थ की बाधा है। हम आधुनिकीकृत पाठ की हिमायत नहीं करते, अपितु एक ऐसे पाठ की हिमायत करते हैं जिसे पढ़ा जा सके और जिसमें अनावश्यक अटकलबाजियों और परिवर्तनों से बचा गया हो और जो हमारा ध्यान प्रतिलिपि तैयार करने सम्बन्धी रूढ़ियों और अभ्यासों की ओर कम-से-कम खींचे।

मुद्रित सामग्री का सम्पादन आमतौर पर हस्तलिखित ग्रन्थों का सम्पादन करने से अधिक सरल होता है, हालांकि सामान्यतः ये दोनों काम एक जैसे ही होते हैं। लेकिन इन दोनों में एक भेद होता है जिसे पहले प्रायः लोग नहीं समझ पाते थे। लगभग सभी क्लासिकी पाण्डुलिपियों के मामले में, हमें मूल कृति के कई सौ साल बाद अनेक स्थानों में और अनेक कालों के दस्तावेज मिलते हैं, और इसलिए हम यह मानकर कि इनमें से हर एक किसी प्राचीन आधिकारिक प्रति की नकल के आधार पर ही तैयार किया गया होगा, इनमें से अधिकांश पाण्डुलिपियों का प्रयोग करने को स्वतन्त्र रहते हैं। पुस्तकों के मामले में आम-तौर पर एक या दो ही संस्करण ऐसे होते हैं जो अपने तईं आधिकारिक मालूम

होते हैं। इनमें से किसी एक को आधारभूत प्रति मानना होता है, और यह पुस्तक या तो इसकी पहली प्रति होती है या अन्तिम ऐसी प्रति, जिसकी देख-रेख स्वयं लेखक ने की हो। कुछ मामलों में, जैसे ह्विटमैन के काव्यसंग्रह **लीव्ज आफ ग्रास** के मामले में, जिसमें निरन्तर नई कविताएँ जुड़ती चली गईं और संशोधन-परिष्कार होता रहा, या पोप का **डन्सियाड** जिसके कम-से-कम दो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न संस्करण विद्यमान हैं, किसी आलोचनात्मक संस्करण के लिए इसके सभी या दोनों संस्करणों का प्रकाशन आवश्यक हो सकता है। कुल मिलाकर कह सकते हैं कि आधुनिक संपादक विभिन्न स्रोतों के आधार पर शुद्धतम पाठ तैयार करने की ओर से उदासीन होते जा रहे हैं, हालांकि हम यह महसूस करेंगे कि **हैम्लेट** के लगभग सभी संस्करण मेकण्ड क्वार्टो और फोलियो के संकर रूप है। एलिजबेथ युगीन नाटकों के विषय में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कभी-कभी तो ऐसा कोई अन्तिम संस्करण मिलता ही नहीं जिसके आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन किया जा सके। यही हाल मौखिक कविता (जैसे बैलेड) का है जिसमें यदि हम किसी एक आदिम रूप की खोज करने चलें तो हमारा प्रयास व्यर्थ होगा। आज से बहुत पहले ही बैलेड के सम्पादकों ने इस आशय से खोज करना छोड़ दिया था। शैले और स्काट ने इनके विभिन्न संस्करणों को खुलकर 'दूषित' किया (और इन्हें नये सिरे से लिखा) जब कि मार्थबेल जैसे प्रथम वैज्ञानिक सम्पादकों ने किसी एक रूप को दूसरों से श्रेष्ठतर और मौलिक करार दिया। अन्ततः चाइल्ड ने सभी रूपों को मुद्रित करने का निश्चय किया।

कुछ दृष्टियों से एलिजबेथ युगीन नाटकों में पाठ की अनूठी समस्याएं उत्पन्न हुई है। अधिकांश समकालीन पुस्तकों की तुलना में इनमें बहुत अधिक अशुद्धियां पाई जाती हैं। इसका कुछ कारण तो यह है कि प्रूफ पढ़ते समय नाटकों की प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर ध्यान देना बहुत जरूरी नहीं समझा जाता था, और कुछ यह कि जिन पाण्डुलिपियों के आधार पर इनकी छपाई की गई वे स्वयं लेखक या लेखकों के हाथों तैयार की गई कच्ची प्रतियाँ (फाइल पेपर्स) थीं जिनमें बहुत अधिक संशोधन किये गये थे, या कभी-कभी ये नाटक खेलते समय पर्दे के पीछे से प्राम्प्ट करने के लिए तैयार की गई प्रतियों के आधार पर मुद्रित किये गये थे, जिनमें नाटयशाला में किये गये संशोधन और चिह्न अंकित थे। इसके अतिरिक्त दोषपूर्ण क्वार्टो प्रतियों की एक अलग ही श्रेणी आती है जिन्हें या तो स्मृति के आधार पर या अभिनेताओं की छिटपुट भूमिकाओं के आधार

पर या संभवतः सांकेतिक शैली में लिखी गयी किसी प्राचीन प्रति के आधार पर मुद्रित किया गया था। पिछले कुछ वर्षों में इन समस्याओं की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है, और पोलार्ड तथा ग्रेग की खोजों के बाद शेक्सपियर के क्वार्टो संस्करण के नाटकों का नया वर्गीकरण किया गया है। पोलराड ने जलचिह्न, टाइप के फौण्ट आदि की शुद्ध ग्रन्थ-वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर यह सिद्ध किया कि शेक्सपियर के नाटकों का मुद्रण वस्तुतः १६१९ में एक संकलित संस्करण निकालने के उद्देश्य से किया गया था जो कार्यान्वित नहीं हो सका परन्तु इन पर जान-बूझ कर पहले की तिथि छापी गई थी।

शेक्सपियर के एक नाटक **सर टामस मूर** की पाण्डुलिपि आज तक सुरक्षित है जिसके विषय में यह कहा जाता है कि इसके तीन पन्ने स्वयं शेक्सपियर के हाथ के लिखे हैं। इसके आधार पर एलिज़बेथकालीन हस्तलिपि का सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया है जिससे पाठालोचन के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें सामने आई हैं और अब इस बात का वर्गीकरण करना संभव हो गया है कि एलिज़बेथकालीन कम्पोजीटर प्रायः किन शब्दों को पढ़ने में गलती कर सकते थे। इसके साथ ही छापाखानों की कार्यविधि के अध्ययन से यह जाहिर हो गया है कि वे कौन-सी भूलें हैं, जो अक्सर होती हैं या जिनके होने की अधिक संभावना रहती है। लेकिन इसके बाद भी हर संपादक के सामने संशोधन की बहुत-सी ऐसी घटनाएँ रहती हैं जिनका कोई हल नहीं निकल पाया है, और इससे यह जाहिर होता है कि पाठालोचन की कोई सचमुच 'वस्तुनिष्ठ' पद्धति अभी तक निकल नहीं पाई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि डोवर विल्सन ने कैम्ब्रिज संस्करण में बहुत से ऐसे संशोधन किये हैं जो उसी तरह बिल्कुल अनावश्यक अटकलबाजी पर आधारित हैं जैसे कुछ अठारहवीं शताब्दी के संपादकों द्वारा सम्पादित संस्करण हुआ करते थे। परन्तु यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि श्रीमती क्विकली के लिखे फाल्सटाफ के मृत्यु-विवरण के विषय में थियोबाल्ड की अटकलबाजी ने, जिसका आधार एलिज़बेथयुगीन लिखावट और हिज्जे थे, असंभव को भी संभव कर दिखाया।

डा० जान्सन के काल से अधिक सम्मान फोलियो संस्करण को दिया जाता था, पर अब यह तर्क दिया जाने लगा है कि क्वार्टो संस्करण (कुछ नितान्त दोषपूर्ण संस्करणों को छोड़कर) संभवतः लेखक की पाण्डुलिपि के आधार पर या नाटक खेलते समय अभिनेताओं के पाठ निर्देशन के लिए तैयार की गई प्रतियों के आधार पर छपे थे, और इसलिए ये किसी प्राचीनतर आधिकारिक

प्रति के अधिक निकट हैं। यह तर्क अधिक उचित भी मालूम होता है। इसके बाद से अब फोलियो संस्करण के प्रति लोगों का आदर-भाव कम हो गया है। अंग्रेजी के पाठालोचकों ने, जो अपने लिए एक भ्रामक शब्द 'बिब्लियोग्राफर' (ग्रंथ सूचीकार) का प्रयोग करते हैं (मैक केरो, ग्रेग, पोलार्ड, डोवर विल्सन इत्यादि) हर मामले में यह पक्का पता लगाने का प्रयत्न किया है कि हर एक क्वार्टो का मुद्रण किन पाण्डुलिपियों के आधार पर किया गया होगा। उन्होंने इन सिद्धान्तों का प्रयोग शेक्सपियर के नाटकों की रचना, संशोधन, परिवर्धन, परिवर्तन आदि के विषय में काफी विस्तृत अनुमान लगाने के संबंध में किया है। उनके ये सिद्धान्त निरे सन्दर्भ-ग्रन्थ-प्रविधि विषयक जाँच-पड़ताल के आधार पर आंशिक रूप में ही बन पाये हैं। पाठालोचन की ओर उनका झुकाव आंशिक ही है और डोवर विल्सन की कृतियाँ तो खास तौर से 'उच्च आलोचना' में रखी जाने की अधिक अधिकारिणी हैं।

विल्सन ने इस पद्धति के विषय में बहुत बड़े दावे किये हैं :

"कभी-कभी तो हम लोग कम्पोज़ीटर की चमड़ी में घुसकर उसी की आँखों पाण्डुलिपियों की झाँकी लेने में सफल हो जाते हैं। शेक्सपियर की कार्यशाला का दरवाजा हमें बिल्कुल खुला मिलता है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'ग्रन्थ सूचीकारों' ने एलिज़बेथ-युगीन नाटकों की रचना पर कुछ प्रकाश डाला है और उन्होंने इस बात का आभास दिया है, कहें यह सिद्ध कर दिया है कि इनमें संशोधन, परिवर्तन के कई चिह्न पाये जाते हैं। लेकिन डोवर विल्सन के अनेक अनुमान बिल्कुल काल्पनिक मालूम होते हैं जिनके सम्बन्ध में प्रमाण या तो बहुत मामूली मिलते हैं, या बिल्कुल मिलते ही नहीं हैं। डोवर विल्सन ने **द टेम्पेस्ट** के उद्भव का जो आधार गढ़ा है वह कुछ ऐसा ही है। उनका दावा है कि इसके आरम्भ के लम्बे दृश्य से यह संकेत मिलता है कि इसका कोई और पुराना संस्करण रहा होगा, जिसमें **द विण्टर्स टेल** की शैली में कथानक से पहले की घटनाओं को कुछ शिथिल नाटकीय गठन में बयान किया गया होगा। परन्तु पंक्तियों के विन्यास में मामूली अनियमितता आदि को इतना प्रामाणिक नहीं माना जा सकता कि इनके आधार पर इतनी दूरारूढ़ और अनावश्यक कल्पना की जा सके।

पाठालोचन को एलिज़बेथयुगीन नाटकों के विषय में सबसे अधिक सफलता मिली है, लेकिन इसी मामले में वह सर्वाधिक अनिश्चित भी रहा है। इसके बावजूद ऊपरी तौर पर इनसे अधिक शुद्ध समझी जानेवाली पुस्तकों में भी

इसकी आवश्यकता है। पैस्कल और गेटे, जेन आस्टेन और ट्रालप तक आधुनिक संपादकों की विदग्ध दृष्टि से लाभान्वित हुए हैं, हालांकि इनमें से अनुसंधान मुद्रणालयों की कार्यविधि और कम्पोज़ीटरों की भूलों की महज तालिका पेश करने तक ही सीमित रह गये हैं।

संस्करण तैयार करते समय व्यक्ति को यह बात अपने मन में पूरी तरह समझ रखनी चाहिए कि इसका प्रयोजन क्या है और यह किन लोगों के लिए सम्पादित की जा रही है। पाठ की बारीकियों पर ध्यान देने वाले विद्वानों के लिए संपादन का मानक अलग होगा, जो वर्तमान संस्करण और शुद्ध संस्करण की भिन्नताओं पर सूक्ष्मता से विचार करेंगे, और सामान्य पाठकों के लिए संपादन का मानक दूसरा होगा, जो हिज्जे की विभिन्नताओं और यहाँ तक कि अलग-अलग संस्करणों में पाये जानेवाले छोटे-मोटे अन्तर में बहुत कम दिलचस्पी रखते है।

संपादन के समय शुद्ध पाठ तैयार करने के अतिरिक्त भी कुछ दूसरी समस्यायें उत्पन्न होती है। संकलित संस्करण के साथ यह समस्या उठती है कि इसमें किन कृतियों को रखा जाए और किन्हें छाँट दिया जाये, उन्हें किस क्रम से रखा जाये और किस तरह की और कितनी टिप्पणियाँ दी जायें, इत्यादि और यह समस्या हर संपादन के साथ बहुत अलग-अलग हुआ करती है। विद्वानों के लिए संभवतः सबसे उपयोगी संस्करण यह होगा कि समस्त कृतियों का बिल्कुल कालक्रमानुसार संस्करण निकाला जाये, परन्तु इस तरह का आदर्श बहुत दुःसाध्य या असंभव पड़ेगा। कालक्रमानुसार विन्यास निरा अनुमान पर आधारित होगा या इससे एक संग्रह की कविताओं का कलात्मक वर्गीकरण नष्ट हो जाएगा। यदि हम कीट्स के किसी ओड (एक भावना-प्रधान गीति-रचना, जिसकी पंक्तियों और बन्दों की लम्बाई भावना के उतार-चढ़ाव के साथ बदलती रहती है) के साथ किसी समकालीन पत्र में उद्धृत मजाकिया कविता को रखें तो साहित्य का पाठक उत्कृष्ट कविताओं के साथ महत्त्वहीन कविताओं के घालमेल पर आपत्ति करेगा। हम वादर्सवर्थ या कानराड फर्डिनैण्ड मायर की रचनाओं के कलात्मक विन्यास को बरकरार रखना चाहेंगे, पर हमें ऐसा नहीं लगता कि वर्डसवर्थ ने अपनी कविताओं का जितना सविस्तार वर्गीकरण किया है उसे बनाए रखने की आवश्यकता है। फिर भी यदि हमें वर्डसवर्थ के ही क्रम को तोड़ना पड़े और हम उसकी कविताओं को कालक्रमानुसार ही मुद्रित करना चाहें, तो हमारे सामने इस बात की कठिनाई आ उपस्थित होगी कि हम उसकी कविताओं के किस संस्करण को मुद्रित करें। ऐसा करते समय हमें उसकी कविताओं के प्रथम

संस्करण को ही लेना होगा, क्योंकि यदि बाद के संशोधनों को पहले की तिथि में मुद्रित करें तो इससे वर्ड्सवर्थ के विकास का सही चित्र प्रस्तुत नहीं हो सकेगा; परन्तु कवि की इच्छा की परवाह न करना और बाद के संशोधनों की उपेक्षा कर जाना एक भद्दी बात होगी, जो किसी न किसी रूप में पहली कविता का अधिक परिष्कृत रूप प्रस्तुत करती हैं। यही कारण है कि अर्नेस्ट डि सेविनकोर्ट ने वर्ड्सवर्थ की सम्पूर्ण कविताओं के संस्करण में परम्परागत क्रम को ही बनाये रखने का निश्चय किया था। अनेक अविकल संस्करणों में, जैसे शैले के अविकल संस्करणों में, श्रेष्ठ रचनाओं और ऐसी मामूली पंक्तियों या कच्चे मजमूनों के बीच के महत्त्वपूर्ण भेद की उपेक्षा कर दी गई है, जिन्हें स्वयं कवि ने ही निकाल दिया होता। आज अनेक कवियों के अनेक ऐसे संस्करण मिलते है जिन्हें जरूरत से अधिक अविकल बनाने का प्रयत्न किया गया है, और इनमें उत्कृष्ट कविताओं के साथ ही साथ निरी सामयिक पद्य रचनाओं या अधकचरी रचनाओं को भी रखा गया है और इससे उनकी साहित्यिक ख्याति को क्षति पहुँची है।

पाद-टिप्पणी की समस्या पर भी संस्करण के उद्देश्य को ध्यान में रख कर ही निर्णय लेना होगा। यदि शेक्सपियर का कोई ऐसा संस्करण प्रकाशित किया जाए जिसमें विभिन्न लेखकों के विचारों को रखना हो तो इसमें दी जाने वाली पाद-टिप्पणियाँ मूल पाठ से अधिक हो जाएंगी, और इनका ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि इन पाद-टिप्पणियों से यह आशा की जाती है कि आज तक शेक्सपियर के किसी विशेष अंश के विषय में जिसने भी कुछ कहा है वह सब यहाँ मिल जाएगा, और इस तरह अध्येता मुद्रित सामग्री की अपार भीड़ में से अपेक्षित लेखक के विचारों की खोज करने के आयास से बच जाएगा। सामान्य पाठक को इससे बहुत कम सामग्री की ही आवश्यकता पड़ेगी (सामान्यतः वह केवल उतनी ही बातों की जरूरत समझेगा जो मूल पाठ को पूरी तरह समझने के लिए आवश्यक होंगी। परन्तु इस विषय में काफी मतभेद पाया जायेगा कि उसे किन बातों की जरूरत पड़ेगी) कुछ सम्पादक अपने पाठक को यह बताने में लग जाते हैं कि रानी एलिजाबेथ प्रोटेस्टैण्ट विचारधारा की थी या वे उसे डेविड गैरिक का परिचय तो देते है, लेकिन साथ ही तमाम उलझी और अस्पष्ट बातों की व्याख्या करने से कतरा जाते है (यह बात वास्तविक तथ्यों के आधार पर कही जा रही है)। जब तक सपादक को इस बात का निश्चित पता न हो कि वह किस उद्देश्य से और किन लोगों के उपयोग के लिए ग्रन्थ का संपादन कर रहा है तब तक यह निर्धारित नहीं किया

जा सकता कि किस सीमा से आगे बढ़ने पर टिप्पणी-लेखन बोझिल हो जाएगा।

टिप्पणी-लेखन में मूल पाठ की भाषा, व इतिहास आदि की दृष्टि से व्याख्यायें आती हैं और अपने ठीक अर्थ में यह सामान्य टीका से भिन्न हुआ करता है, जिसमें सिर्फ साहित्यिक या भाषावैज्ञानिक इतिहास के लिए सामग्री का संचयन किया जाता है (जैसे, स्रोत, साम्य और दूसरे लेखकों द्वारा अनुकरण)। यह सौन्दर्यशास्त्रीय प्रकृति की टीकाओं से भिन्न हुआ करता है, जिनमें विशिष्ट अंगों के विषय में छोटे-छोटे लेख दिये रहते है और जो संग्रह से बहुत कुछ मिलता-जुलता काम करती हैं। इनके बीच भेद-रेखा खींच पाना हमेशा इतना आसान नहीं होता, फिर भी अनेक संस्करणों में पाठालोचन, साहित्यिक इतिहास के उद्भव का अध्ययन करने वाला विशेष रूप, भाषा-वैज्ञानिक और ऐतिहासिक व्याख्याये तथा सौन्दर्य-शास्त्रीय टीकाएँ एक-दूसरे में इस तरह मिली-जुली रहती हैं कि इन्हें देख कर ऐसा भ्रम होता है कि यह साहित्यिक पाण्डित्य का एक फैशन सा बन गया है, और इसके औचित्य का एक ही आधार हो सकता है कि हम बड़ी सुविधा से एक ही पुस्तक में हर तरह की जानकारी पा जाते है।

पत्रों का सम्पादन करते समय कुछ विशेष प्रकार की समस्यायें सामने आती है। यदि इनमें नितान्त महत्त्वहीन व्यावसायिक बाते लिखी गयी हों तो भी क्या इन्हें पूरा छापा जाय? ऐसे पत्रों को प्रकाशित करने से, जो साहित्यिक कृतित्व के आशय से नहीं लिखे गये थे, स्टीवेन्सन, मेरिडिथ, अर्नाल्ड और स्विनबर्न की ख्याति में कोई वृद्धि नहीं हुई है। अनेक पत्रों के साथ जब तक उनका उत्तर भी न प्रकाशित किया जाये तब तक उनका कोई अर्थ ही समझ में नहीं आता। ऐसी दशा में क्या पत्रों के साथ उनके उत्तर भी प्रकाशित किये जायें? यदि इस प्रक्रिया को अपनाया जाये तो लेखक के कृतित्व में बहुत तरह की विजातीय सामग्री आ जायेगी। ये ऐसे व्यावहारिक प्रश्न है जिनके निराकरण के लिए विवेक, सुसंगत और काफी श्रम की आवश्यकता होती है और प्रायः ये संपादक के कौशल और सुयोग पर निर्भर करते हैं।

पाठ स्थिर करने के पहले आरम्भिक शोध कार्य में इन प्रश्नों का समाधान करना होगा कि रचना का काल क्या है, वह किस सीमा तक है, उसका लेखक कौन है, और उसमें कितना संशोधन किया गया है? काल-निर्धारण प्रायः पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर दी गई प्रकाशन की तिथि या प्रकाशन के समकालीन

प्रमाण से बहुत हद तक हो जाता है। परन्तु ये प्रकट स्रोत प्रायः इस दृष्टि से अपूर्ण होते हैं, जैसा कि अनेक एलिज़बेथयुगीन और मध्यक लीन पाण्डुलिपियों के मामले में देखने में आता है। सम्भव है एलिज़बेथयुगीन नाटक पहली बार अभिनीत होने के बहुत बाद मुद्रित हुआ हो; मध्ययुगीन पाण्डुलिपि पुस्तक की रचना के समय से सैकड़ों साल बाद तैयार की गयी किसी प्रति की नकल हो सकती है। अतः इस कमी को दूर करने के लिये स्वयं उस ग्रन्थ से ही प्रमाण जुटाने पड़ेंगे और यह देखना होगा कि इसमें किन समकालीन घटनाओं का उल्लेख है, या और कौन से ऐसे स्रोत हैं जिनके आधार पर काल-निर्धारण किया जा सकता है। यह अन्तःसाक्ष्य जो किसी बाहरी घटना की ओर संकेत करता है मात्र उस सांकेतिक तिथि के निर्धारण में ही सहायक हो सकता है, जिसके बाद पुस्तक का उतना अंश लिखा गया था।

उदाहरण के लिए, शेक्सपियर के नाटकों का क्रम निश्चित करने के लिए हम शुद्ध अन्तःसाक्ष्य पर विचार करें और देखें कि छंदशास्त्रीय आँकड़ों के आधार पर क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इसमें केवल सापेक्ष कालक्रम ही निर्धारित किया जा सकता है, और उस में काफी भूलें होने की संभावना बनी रहेगी। यद्यपि यह मान लेना निरापद है कि शेक्सपियर के नाटकों में तुकान्त पदों की संख्या **लव्स लेबर्स लास्ट** (जिसमें इस तरह के अंश सबसे अधिक है) से **विण्टर्स टेल** (जिसमें इस तरह का कोई अंश नहीं है) तक आते-आते क्रमशः कम होती गई है, परन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि **विण्टर्स टेल** की रचना अनिवार्य रूप से **टेम्पेस्ट** से (जिसमें ऐसे दो अंश हैं) पहले हुई है। चूँकि तुकान्त पदों की संख्या, उपान्त्य अक्षर पर बलाघात वाली पंक्तियाँ, पिछली पंक्ति के अन्तिम अंश से अगले वाक्य का आरम्भ आदि जैसे मानदण्डों से हम बिल्कुल एक ही परिणाम पर नहीं पहुँचते, इसलिए कालक्रम और छन्द-विधान के बीच कोई निश्चित और नियमित अन्तःसम्बन्ध नहीं स्थिर किया जा सकता। यदि छंद-विधान को अन्य साक्ष्यों से अलग करके देखा जाये तो इनका एक बिल्कुल अलग ही अर्थ निकलेगा। जेम्स हर्डिस नाम के अठारहवीं शताब्दी के एक लेखक का विचार यह था कि शेक्सपियर का विकास **विण्टर्स टेल** के विषम छंदों से **कामेडी आफ एरर्स** के सम छंदों की दिशा में हुआ था। तो भी बाह्य, अन्तर-बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाणों को काफी सूझ-बूझ से एक साथ रखकर शेक्सपियर के नाटकों का एक कालक्रम स्थिर किया गया है, जो मोटे तौर पर सही भी है, इसमें कोई सन्देह नहीं। प्लेटो के डायलाग्स (संवादों) के

सापेक्ष कालक्रम का निर्धारण करने के लिए लेविस कैम्पबेल और विशेषतः विसेण्टी लुतोस्लाव्स्की ने सांख्यिकी पद्धति का मुख्यतः कुछ शब्दों के प्रयोग और आवृत्ति को ध्यान में रखकर, भी प्रयोग किया है। लुतोस्लाव्स्की ने अपनी पद्धति का नाम 'स्टाइलोमीट्री' रखा है।

यदि हमें ऐसी पाण्डुलिपियों पर विचार करना पड़े जिन पर तिथि नहीं दी गई है तो काल-निर्धारण की कठिनाइयाँ बहुत अधिक बढ़ सकती है और ये इस सीमा पर पहुँच सकती हैं कि इनका कोई समाधान ही न निकल सके। ऐसी स्थिति में हमें किसी लेखक की लिखावट में आये उत्तरोत्तर विकास का अध्ययन करना पड़ सकता है। हमें इस बात को लेकर माथापच्ची करनी पड़ सकती है कि कुछ विशेष अक्षरों की बनावट कैसी है और अक्षर कितना दाब कर लिखे गये है, तिथिपत्र की जाँच-पड़ताल करनी पड़ सकती है और बहुत सावधानी से यह देखना पड़ सकता है कि लेखक ठीक किस समय पर कहां-कहां रहा होगा, क्योंकि ये बातें उसका काल-निर्धारण करने में सहायक हो सकती है। साहित्यिक इतिहासकार के लिए काल-निर्धारण का प्रश्न प्रायः काफी महत्त्वपूर्ण होता है। यदि शेक्सपियर और चासर का ही उदाहरण ले, जिनके विषय में काल-निर्धारण बिल्कुल आधुनिक अनुसंधान के प्रयासों के बल पर ही हो पाया है, तो काल-निर्धारण के अभाव में इनके कलात्मक विकास का पता नहीं लगाया जा सकता था। इनके काल-निर्धारण का प्रयत्न अठारहवीं शताब्दी में मैलोन और टायरह्विट ने पहली बार किया था पर तभी से इनके अलग-अलग प्रसंगों पर आज तक बराबर मतभेद बना हुआ है।

रचना की शुद्धता और रचयिता का निश्चय इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है और इसका समाधान करने के लिए इससे भी अधिक शैलीगत और ऐतिहासिक जाँच-पड़ताल करनी पड़ सकती है। आधुनिक साहित्य की अधिकांश कृतियों के बारे में हमें पक्का पता है कि इनका लेखक कौन है। लेकिन छद्मनाम से या गुमनाम ढंग से भी बहुत-सा साहित्य लिखा जाता है जिसके रहस्यों का उद्घाटन होता रहता है, चाहे रहस्य खुलने पर हमें यही क्यों न पता चले कि इस नाम के व्यक्ति के बारे में हमें और कोई जानकारी नहीं है और इसलिए चाहे यह छद्मनाम से रहे या अनाम, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

अनेक लेखकों के साथ उनकी कृतियों की प्रामाणिकता का सवाल उठता है। अठारहवीं शताब्दी में यह पता लगाया गया था कि चासर की कृतियों के प्रकाशित संस्करणों में बहुत कुछ ऐसा शामिल कर लिया गया है (जैसे

टेस्टामेण्ट आफ क्रेसीड और **द पलावर एण्ड द लीफ**) जो चासर की रचनाएँ नहीं हो सकतीं। यहाँ तक कि आज भी शेक्सपियर की कृतियों के विषय में यह निश्चित नहीं हो सका है कि इनमें से कितनी कृतियाँ शेक्सपियर की हैं। आगस्ट विल्हेम श्लेगेल ने अद्भुत आत्मविश्वास से यह प्रमाणित किया था कि शेक्सपियर के नाम से आज जितनी भी रचनाएँ मिलती हैं वे सभी असन्दिग्ध रूप से शेक्सपियर की ही रचनाएँ है। परन्तु आज स्थिति दूसरे छोर पर पहुँच चुकी है। अभी कुछ दिन पहले जे० एम० राबर्टसन ने 'शेक्सपियर के विघटन' का बहुत जोरदार प्रतिपादन किया है। यदि इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया जाए तो शेक्सपियर को अपने सर्वोत्तम नाटकों में केवल कुछ ही दृश्यों का लेखक होने का श्रेय मिल पाएगा। इस मान्यता के अनुसार **जुलियस सीजर** और **मर्चेण्ट आफ वेनिस** भी मार्लो, ग्रीन, पील, काइड और उस काल के अनेक दूसरे नाटककारों के नाटकों से लिए गए अंशों का मिला जुला रूप माने जाते है। राबर्टसन ने अधिकांशतः मामूली निरर्थक शब्दों का अनुसधान करने, असगतियों और साहित्यिक समानताओं को खोजने का तरीका अपनाया है। यह पद्धति नितान्त अनिश्चित और मनमानी है। इसका आधार एक भ्रान्त धारणा और विषम चक्र है। हमें कुछ तत्कालीन प्रमाणों के आधार पर यह मालूम है कि शेक्सपियर की रचनाएँ कौन सी है (उनका फोलियो संस्करण में शामिल किया जाना, पुस्तक-विक्रेता के रजिस्टर में इन कृतियों का उसके नाम से दर्ज होना आदि); लेकिन राबर्टसन ने एक मनमाने सौन्दर्यशास्त्रीय आधार पर केवल कुछ उत्कृष्ट अंशों को ही शेक्सपियर की रचना सिद्ध किया है और इनसे नीचे के स्तर की चीजों को उनकी रचना मानने से इन्कार कर दिया है, साथ ही उन्होंने ऐसी रचनाओं को भी शेक्सपियर की रचना मानने से इन्कार कर दिया है जिनमें समकालीन नाटककारों की कुछ विशेषताएँ मिलती है। इसके बावजूद भी हमें इस बात का कोई कारण नजर नहीं आता कि शेक्सपियर ने घटिया चीजें नहीं लिखी होंगी, या उसने कुछ भी प्रमादवश नहीं लिखा होगा, या उसने अपने समकालीन लेखकों की विभिन्न शैलियों की नकल नहीं की होगी। साथ ही इस विचार को भी पूरी तरह नहीं माना जा सकता कि शेक्सपियर के नाम से फोलियो संस्करण में जो कुछ मिलता है वह सब अक्षरशः शेक्सपियर का है।

इनमें से कुछ बातों के विषय में कभी पूर्णतः सन्तोषजनक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता, क्योंकि कुछ दृष्टियों से एलिजबेथकालीन नाटक एक सामू-

हिक कला था, जिसमें दूसरों का सहयोग आम तौर पर लिया जाता था। लेखकों को उनकी शैली के आधार पर एक दूसरे से अलग करके प्रायः नहीं देखा जा सकता था। दो लेखक स्वयं भी यह नहीं समझ सकते थे कि कितना अंश उनका लिखा हुआ है। साहित्यिक 'गुप्तचरों' के सामने इस साझेदारी के कारण बहुत दुःसाध्य कार्य आ उपस्थित होता है। यहाँ तक कि बोमां और फ्लेचर के मामले में भी, जिसमें हमें निश्चित रूप से केवल फ्लेचर द्वारा बोमां की मृत्यु के बाद लिखी रचनाएँ प्राप्त हैं, अभी तक यह पूरी तरह निश्चित नहीं हो पाया है कि इनमें कितना अंश किसने लिखा है; और **रिवेंजर्स ट्रैजेडी** में तो, जिसे बारी-बारी से वेब्स्टर, टर्नर, मिडल्टन और मार्सटन की या इनमें से कुछ की सम्मिलित कृति माना गया है, यह झगड़ा इतना पेचीदा हो जाता है कि इसका कोई हल ही निकलता नहीं दीखता।

रचयिता का निश्चय करने के प्रयत्न में इसी तरह की कठिनाई उस समय भी आ उपस्थित होती है जब बाह्य साक्ष्य, एक निश्चित परम्परागत पद्धति और एक समान शैली के अभाव के कारण, इसका ठीक पता लगा पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। गुमनाम ढंग से पत्रिकाओं में लिखी जाने वाली रचनाओं की तो बात ही अलग रही, वीरगाथाओं और अठारहवीं शताब्दी के पैम्फलेट लेखकों में इसके बहुत सारे उदाहरण भरे पड़े हैं (इस बात का निश्चय कैसे संभव है कि डिफो ने कितनी रचनाएँ लिखी थीं?) परन्तु अनेक मामलों में यहाँ भी कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है। प्रकाशन-गृहों के अभिलेखों या पत्रिकाओं की चिह्नित फाइलों की छानबीन से कुछ नए बाह्य प्रमाण सामने आ सकते हैं; और ऐसे लेखकों के लेखों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धसूत्रों से, जो अपनी बात को बार-बार दुहराते और उद्धृत करते हैं (जैसे गोल्ड-स्मिथ) हम ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं जिनमें बहुत अधिक निश्चितता पाई जा सके। जी० उडनी यूल नाम के एक सांख्यिकीविद् और बीमा प्रबन्धक ने अनेक पाण्डुलिपियों को एक ही लेखक का सिद्ध करने को टामस ए केम्पिस जैसे लेखकों के शब्द-भाण्डार का अध्ययन करने के लिए एक अत्यन्त जटिल गणितीय पद्धति का प्रयोग किया है। यदि शैली की पद्धति धैर्य के साथ विकसित की जाएँ तो इनसे ऐसे प्रमाण मिल सकते हैं जो पूरी तरह निश्चयात्मक न होते हुए भी लेखक की पहचान करने में सहायक हो सकते हैं।

साहित्य के इतिहास में जालसाजियों या सद्भावपूर्ण धूर्तताओं की प्रामाणिकता के प्रश्न ने बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है और इनसे रचनाओं की

और अधिक छान-बीन करने की प्रवृत्ति को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला है। इस तरह मैक्फर्सन को ओसियन संबंधी विवाद के कारण गेलिक लोक काव्य का अध्ययन करने का प्रोत्साहन मिला, चैटरटन के विषय में जो विवाद खड़ा हुआ उसके फलस्वरूप मध्यकालीन साहित्य और इतिहास के अध्ययन की धूम सी मच गई, और शेक्सपियर के नाटकों और दस्तावेजों की आयर्लैण्ड में जो जाली प्रतियाँ मिलीं, उनसे शेक्सपियर और एलिज़बेथकालीन रंगमंच के सम्बन्ध में काफी लम्बा वाद-विवाद आरंभ हुआ। चैटरटन, टामस वार्टन, टामस टायरह्वाइट और एडमण्ड मेलोन की चर्चा-परिचर्चा के प्रसंग में ही ऐसे साहित्यिक और ऐतिहासिक तर्क प्रस्तुत किये गये जिनसे यह सिद्ध हुआ कि राउली की कविताएँ आधुनिक काल की जाली रचनाएँ है। इसके दो पीढ़ी बाद, डब्ल्यू० डब्ल्यू० स्कीट ने, जिन्होंने मध्यकालीन अंग्रेजी का व्यवस्थित रूप से अध्ययन किया था, व्याकरण की बुनियादी रूढ़ियों के उल्लंघनों की ओर संकेत किया जिनसे जालसाजी अधिक जल्दी और पूरी तरह खुल जाती। एडमण्ड मैलोन ने आयर्लैण्ड्स की भद्दी जालसाजियों का भण्डाफोड़ तो कर दिया, लेकिन चैटरटन और ओसियन की तरह इनके भी काफी सचमुच के हिमायती थे (जैसे चामर्ज, जो बहुत विद्वान् व्यक्ति थे) जिन्होंने शेक्सपियर विषयक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण अनुसंधान-कार्य कर रखा था।

मात्र जालसाजी के सन्देह के कारण भी विद्वानों को परम्परागत तिथि और लेखक के निर्धारण के लिए तर्कों को अधिक पुष्ट बनाने को बाध्य होना पड़ा है, और इस तरह ये परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार न करके वस्तु-निष्ठ तर्कों की ओर अग्रसर हुए है। उदाहरण के लिए, दसवीं शताब्दी की जर्मन संन्यासिन होसविथा को लिया जा सकता है जिसके नाटकों के विषय में यह माना जाता था कि इनकी रचना पन्द्रहवीं शताब्दी के जर्मन मानवतावादी कोनराड केल्ट्स ने जाली ढग से की थी, या रूसी **स्लोवो ओ पोल्का आइगोरेव** को लिया जा सकता है जिसे प्रायः बारहवीं शताब्दी की रचना माना जाता था पर जिसे अभी हाल में भी अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण की जाली रचना सिद्ध किया गया है। बोहेमिया में मध्यकालीन समझी जाने वाली दो पाण्डुलिपियों ज़ेलेना और क्रालोव ड्यूर की जालसाजी के सवाल पर अभी उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में जाकर एक जोरदार राजनैतिक बहस शुरू हुई; और टामस मसारिक जो बाद में ज़ेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति बने, इन विरोधों और प्रतिवादों के कारण भी जनता में बहुत

विख्यात हुए थे। यह विरोध और वाक-कलह पहले तो भाषावैज्ञानिकों के साथ आरंभ हुआ परन्तु धीरे-धीरे बढ़ कर वैज्ञानिक विश्वसनीयता बनाम सुखकर आत्मवंचना का मसला बन गया।

ग्रन्थ और ग्रन्थकार की प्रामाणिकता के प्रश्न को लेकर कानूनी साक्ष्य की बहुत बारीक समस्यायें आ खड़ी होती हैं, और इसमें सभी प्रकार की विद्याओं का उपयोग करना पड़ता है जैसे पुराभूगोल, सन्दर्भग्रन्थ-सूची, भाषा-विज्ञान और इतिहास। अभी हाल में इस तरह का एक मामला था, टी० जे० वाइज को उन्नीसवीं शताब्दी की छियासी पाण्डुलिपियों की जालसाजी करने पर दी गई सजा। कार्टर और पोलार्ड ने जासूसी के जिन कौशलों का प्रयोग किया था, उनमें जलचिह्न, छापाखानों की युक्तियों जैसे स्याही तैयार करने की प्रक्रिया, कुछ विशेष प्रकार के कागजों और टाइप फौण्टों के प्रयोग, और ऐसी ही दूसरी चीजों की छानबीन की गई थी। (परन्तु इनमें से अनेक प्रश्नों का साहित्य से कोई सीधा सरोकार नहीं है—वाइज ने कोई कल्पित पाठ नहीं प्रस्तुत किया था और उसकी जालसाजी का सम्बन्ध प्राचीन ग्रन्थों के संग्रह-कर्ताओं से है।)

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मात्र यह सिद्ध हो जाने के कारण कि रचना बहुत बाद में लिखी गई है, आलोचना का मूल प्रश्न नहीं खत्म हो जाता। अठारहवीं शताब्दी में लिखी जाने के ही कारण चैटरटन की कविताएँ अच्छी या बुरी नहीं हो जातीं। यह एक ऐसी बात है जिसे वे लोग प्रायः भूल जाते हैं जो अपने नैतिक आक्रोश में ऐसी कृतियों पर घृणा बरसाने लगते हैं, जो बाद की रचनाएँ सिद्ध हो जाती हैं और उन्हें सदा के लिए उपेक्षित छोड़ देते हैं।

इस अध्याय में सिर्फ उन्हीं समस्याओं की चर्चा की गई है जिनको ध्यान में रख कर मारिज, रडलर, और सैण्डर्स आदि ने कार्यविधि सम्बन्धी अपनी पाठ्यपुस्तकें और गुटके लिखे हैं और अधिकांश अमरीकी कालिजों में केवल इन्हीं पद्धतियों का विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता है। परन्तु इनका महत्व जितना भी क्यों न हो, हमें यह तो मानना ही होगा कि इस तरह के अध्ययन और साथ ही साहित्य की कारणात्मक व्याख्या के साथ ही वास्तविक विश्लेषण और अर्थनिश्चय के लिए भी केवल आरंभिक आधार प्रस्तुत करते हैं। इनका औचित्य इनके परिणामों के उपयोगों से सिद्ध होता है।

खण्ड तीन

साहित्येतर दृष्टियों से साहित्य का अध्ययन

प्रस्तावना

साहित्यिक अध्ययन की सर्वाधिक व्यापक और प्रचलित पद्धतियां का सम्बन्ध इसके परिवेश, वातावरण और बाह्य हेतुओं से है। ये बाह्य पद्धतियाँ केवल अतीत के अध्ययन तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु ये आजकल के साहित्य पर भी समान रूप से लागू होती हैं। अतः सही अर्थों में 'ऐतिहासिक' शब्द को साहित्य के ऐसे अध्ययन के लिए सुरक्षित रखा जाना चाहिए जो अपने को समय के दौरान होने वाले परिवर्तनों तक केन्द्रित रखता है, और इस तरह मुख्यतः इतिहास की समस्याओं में व्यस्त रखता है। यद्यपि बाह्य अध्ययन साहित्य का अर्थ मात्र सामाजिक सन्दर्भ में और इसके पूर्वपदों के सन्दर्भ में करने का प्रयास करता है, अधिकांश मामलों में यह एक 'हैतुक' व्याख्या बन जाता है और साहित्य का कारण बताने, इसकी व्याख्या करने का और अन्ततः इसे साहित्य के मूल उद्गमों ('उद्गमों के भुलावे') पर उतार लाने का दम भरता है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि साहित्य पर काफी प्रकाश उन परिस्थितियों के समुचित ज्ञान से पड़ा है जिनमें इसकी रचना हुई है; इस तरह के अध्ययन का भाष्यपरक मूल्य असन्दिग्ध है। फिर भी इतना तो स्पष्ट है ही कि प्रासंगिक अध्ययन से साहित्यिक कला-कृति जैसी किसी चीज के वर्णन, विश्लेषण तथा मूल्यांकन की समस्या को खत्म नहीं किया जा सकता। कारण और कार्य सदा अनुरूप नहीं होते : इन बाह्य कारणों का ठोस परिणाम—कला-कृति—कैसा होगा, इसका पूर्वकथन कदापि नहीं किया जा सकता।

यह तर्क दिया जा सकता है कि किसी कला-कृति का रूप समग्र इतिहास, वातावरण के समग्र तत्वों से निश्चित होता है। परन्तु वास्तविक समस्या वहाँ आरंभ होती है जहाँ हम उन तत्वों का मूल्यांकन, तुलना और विच्छेद करने लगते है जिन्हें हम किसी कला-कृति का निर्धारक तत्व मानते हैं। अधिकांश

अध्येता उन विशिष्ट मानव क्रियाओं और सर्जनाओं को अलग करने का प्रयत्न करते हैं और यह मान लेते हैं कि कला-कृति का निश्चय मात्र इसी एक प्रभाव से हुआ है। इस तरह एक वर्ग साहित्य को मात्र किसी एक रचनाकार की कृति मानता है और इससे यह निष्कर्ष निकालता है कि साहित्य की छान-बीन मुख्यतः लेखक की जीवनी और मनोविज्ञान के माध्यम से होनी चाहिए। एक दूसरा वर्ग साहित्य-सर्जना के निर्धारक तत्वों की खोज मनुष्य के संस्थागत जीवन में—आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों में करता है; इसी से मिलता-जुलता एक तीसरा वर्ग साहित्य की हेतुक व्याख्या बहुत दूर तक मानव मस्तिष्क की ऐसी सामूहिक सर्जनाओं में पाना चाहता है, जैसे विचारों का इतिहास, धर्मशास्त्र का इतिहास तथा अन्य ललित कलाओं का इतिहास। अन्ततः अध्येताओं का एक ऐसा वर्ग है जो साहित्य की व्याख्या समय की सारभूत आत्मा में, बौद्धिक वातावरण या विचारों के माहौल, दूसरी कलाओं की विशिष्टताओं में ग्रहीत किसी समन्वयकारी शक्ति की दृष्टि से करना चाहते हैं।

बाह्य पद्धतियों के ये हिमायती लोग अपने अध्ययन में इन नियतिवादी हेतुक पद्धतियों को प्रयोग में लाने में और इसलिए इनकी सफलता के लिए अपने दावों में एक जैसे कट्टर नहीं हैं। जो लोग सामाजिक कारणता में विश्वास करते हैं वे प्रायः सबसे अधिक नियतिवादी हैं। इस पराकाष्ठावाद की व्याख्या उन्नीसवीं शताब्दी के प्रत्यक्षवाद (पाजिटिविज्म) और विज्ञान के साथ उनके दार्शनिक लगावों में हो सकती है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना होगा कि **गीट्स-जेशिष्ट** के आदर्शवादी समर्थक, जो दार्शनिक दृष्टि से हीगलवाद या रोमैण्टिक चिन्तन के दूसरे रूपों से सम्बद्ध थे, वे घोर नियतिवादी या यहाँ तक कि एक अर्थ में भाग्यवादी भी हैं।

इन पद्धतियों का प्रयोग करने वाले अनेक दूसरे अध्येता अपेक्षाकृत अधिक संयत दावे करेंगे। वे कलाकृति और परिवेश तथा पूर्ववर्ती में कुछ सम्बन्ध स्थापित करना चाहेंगे, और वे यह मान लेंगे कि इस तरह के ज्ञान से कुछ अंशों में आलोक प्राप्त होता है, यद्यपि वे इस बात का बिल्कुल ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पायेंगे कि इनके सम्बन्धों की संगति क्या है। ये अपेक्षाकृत अधिक संयत पक्षधर दूसरों से बुद्धिमान् प्रतीत होते हैं, क्योंकि इतना तो निश्चित है ही कि हेतुवादी व्याख्या का महत्व बहुत बढ़ाकर बताया जाता रहा है, और यह भी इतना ही निश्चित है कि इससे विश्लेषण और मूल्यांकन की आलोचना-

त्मक समस्याओं को खत्म नहीं किया जा सकता। कारणों पर आधारित विभिन्न पद्धतियों में, पूरे परिवेश के सन्दर्भ में किसी कला-कृति की व्याख्या अधिक वांछनीय प्रतीत होती है, क्योंकि किसी एक ही कारण के प्रभावों पर किसी कला-कृति को उतारना बिल्कुल असंभव है। जर्मन गीट्शजेशिष्ट की विशिष्ट परिकल्पनाओं को स्थान दिये बिना हम यह समझते हैं कि यदि इन सभी तत्त्वों का समन्वय करते हुए इस तरह की व्याख्या की जाए तो प्रचलित पद्धतियों के विरुद्ध एक नितान्त महत्त्वपूर्ण आक्षेप से मुक्ति मिल जाती है। परिणाम-स्वरूप इन विभिन्न तत्वों के महत्त्व को तौलने और इन विविध पद्धतियों की इस दृष्टि से आलोचना करने का प्रयत्न किया जाता है कि एक ऐसे अध्ययन, जिसे मूलतः साहित्यिक कहा जा सके, में इनकी क्या संगति है।



सात

साहित्य और जीवनी

साहित्यिक कृति का सबसे व्यक्त कारण है उसका सर्जक, रचयिता, और इसलिए साहित्य का अध्ययन करने की सबसे पुरानी और सबसे स्थापित पद्धतियों में से एक रही है साहित्य का लेखक के व्यक्तित्व और जीवन के प्रकाश में अध्ययन।

जीवनी पर विचार इस दृष्टि से किया जा सकता है कि इससे वास्तविक काव्य-रचना पर कितना प्रकाश पड़ता है; लेकिन प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति के अध्ययन के रूप में, उसके नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक विकास के अध्ययन के रूप में भी इसका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है, जिसका अपने आप में एक महत्त्व है; और अन्ततः हम जीवनी का एक रूप वह भी मान सकते हैं जिसमें कवि के मनोविज्ञान और उसकी काव्य-प्रक्रिया का विधिवत अध्ययन किया जाए।

इन तीनों दृष्टिकोणों में सावधानी से भेद कर लेना चाहिए। साहित्यिक पाण्डित्य की हमारी जो अवधारणा है उसमें पहली मान्यता को ही प्रत्यक्षतः उचित ठहराया जा सकता है, अर्थात् यह कि जीवनी वास्तविक व्यक्ति की व्याख्या करती है और उस पर प्रकाश डालती है। दूसरा दृष्टिकोण जिसमें जीवनी के अपने आप में महत्त्वपूर्ण होने की हिमायत की गई है, हमारा मुख्य ध्यान मानव व्यक्तित्व की ओर मोड़ देता है। तीसरे दृष्टिकोण में जीवनी को एक विज्ञान या भावी विज्ञान की कलात्मक सृजन के मनोविज्ञान की सामग्री माना जाता है।

जीवनी साहित्य की एक प्राचीन विधा है। प्रथमतः तो——कालक्रम और तर्क की दृष्टि से——यह इतिहासदर्शन का एक अंग है। एक राजमर्मज्ञ, सेना-

ध्यक्ष, वास्तुकार, वकील और एक ऐसे आदमी के जीवनचरित में, जो किसी तरह की सामाजिक भूमिका नहीं प्रस्तुत करता, किसी तरह का पद्धतिजन्य भेद नहीं किया जाता। और कोलरिज की यह मान्यता अपने आप में काफी पुष्ट है कि किसी भी व्यक्ति का जीवन, चाहे वह कितना ही महत्त्वहीन क्यों न हो, यदि पूरी सच्चाई से चित्रित किया जाये, तो काफी रोचक हो सकता है। जीवनी-लेखक की दृष्टि में कवि मात्र एक दूसरे किस्म का आदमी है जिसके नैतिक और बौद्धिक विकास, बाह्य जीवन, और भावनात्मक पक्ष का पुनर्निर्माण हो सकता है और नैतिक सिद्धान्तों और आचार-संहिता के आधार पर जिसका मूल्यांकन किया जा सकता है। उसकी कृतियाँ सिर्फ प्रकाशित तथ्य हैं और ये किसी भी सक्रिय आदमी के जीवन की घटनाओं के समान हैं। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाये तो जीवनी-लेखक की समस्यायें ठीक वे ही होंगी जो एक इतिहासकार की हुआ करती है। उसे दस्तावेजों, पत्रों, आँखों-देखी घटनाओं, संस्मरणों और आत्मकथात्मक विवरणों का अर्थ निकालना होगा और यह निर्णय करना होगा कि प्रत्यक्ष द्रष्टाओं के कथन आदि में कितनी शुद्धता और विश्वसनीयता है। जीवनी लिखते समय उसके सामने यह समस्या आयेगी कि वह घटनाओं का कालक्रम क्या रखे, उनमें से किन्हें चुने, अपने विवेक का किस सीमा तक उपयोग करे और कहाँ तक साक्षियों का सहारा ले। जीवनी को एक विधा मान कर आज तक जितना सारा काम किया गया है उसमें इन्हीं बातों का ध्यान रखा गया है जो अपने आप में किसी तरह की साहित्यिक विशिष्टता नहीं रखतीं।

हम इस समस्या पर जिस सन्दर्भ में विचार कर रहे हैं, उसमें साहित्यिक जीवनी की दो समस्यायें बहुत निर्णायक महत्त्व रखती हैं। जीवनी-लेखक का अपने काम के लिए स्वयं कृतियों को साक्ष्य के रूप में प्रयोग में लाना कहाँ तक उचित है? साहित्यिक जीवन वृत्त के निष्कर्ष रचनाओं को समझने में कहाँ तक संगत और महत्त्वपूर्ण है? इन दोनों प्रश्नों के प्रायः स्वीकारात्मक उत्तर दिये जाते हैं। जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, यह बात वस्तुतः ऐसे सभी जीवनी-लेखक मानते हैं, जो विशेष रूप से कवियों की ओर आकर्षित होते हैं, क्योंकि, लगता है, कवियों से उन्हें बहुत सारे ऐसे साक्ष्य मिल जाते हैं जो जीवनी लिखने में काम आ सकते हैं, और जो कवियों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रभावशाली ऐतिहासिक व्यक्तियों के मामले में भी बिल्कुल नदारद या लगभग नदारद रहते हैं। लेकिन क्या इस तरह का आशावाद उचित है?

हमें व्यक्तियों को दो युगों में बाँट लेना होगा जिनके दो तरह के समाधान संभव हो सकते हैं। अधिकांश प्राचीन साहित्य के मामले में ऐसे कोई निजी दस्तावेज नहीं मिलते, जिनसे कोई जीवनी-लेखक लाभ उठा सके। हमें प्राप्त होते हैं कुछ थोड़े से सार्वजनिक दस्तावेज, जैसे जन्म का रजिस्टर, विवाह के प्रमाणपत्र, मुकदमों के ब्योरे, और ऐसी ही दूसरी चीजें, और इसके अतिरिक्त हमें कृतियों से कुछ प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, हम बहुत मोटे तौर पर ही शेक्सपियर की गतिविधि का पता लगा सकते हैं, और साथ ही हम उनकी माली हालत की भी कुछ जानकारी पा सकते हैं; लेकिन कुछ सन्दिग्ध किंवदन्तियों के अतिरिक्त पत्रों, डायरियों, संस्मरणों के रूप में हमारे हाथ बिल्कुल कुछ नहीं लगता। शेक्सपियर के जीवन का अध्ययन करने के बहुत अधिक प्रयास हुए हैं, लेकिन इनसे बहुत कम निष्कर्ष ऐसे निकल सके हैं जो साहित्यिक दृष्टि से लाभकर हो सकें। इनमें जिन बातों पर प्रकाश डाला गया है वे मुख्यतः हैं घटनाओं का कालक्रम, सामाजिक हैसियत के दृष्टान्त और शेक्सपियर के नाते-रिश्ते। अतः जिन लोगों ने शेक्सपियर की असल जीवनी रचने की, उसका नैतिक और भावात्मक विकास दिखाने की चेष्टा की है और ऐसा सचमुच वैज्ञानिक भावना से करना चाहा है, जैसा कि कैरोलिन स्पर्जियन ने शेक्सपियर के बिम्बविधान का अध्ययन करते हुए किया है, तो उनके हाथ बहुत सारी महत्त्वहीन बातें ही लग पाई हैं, या यदि उन्होंने नाटकों और सानेटों का प्रयोग असावधानी से किया है तो उन्होंने जार्ज ब्राण्डिस या फ्रैंक हैरिस की तरह रोमान्सवादी जीवनियाँ लिखी हैं। ये प्रयास एक बिल्कुल भ्रान्त मान्यता के आधार पर किये गये थे (इनका आरंभ संभवतः हैजलिट और श्लेगेल की कृतियों में पाए जाने वाले कुछ संकेतों के साथ हुआ था और पहली बार इनका विस्तृत और मनकंत पूर्ण विवेचन डाउडेन ने किया था)। कोई आदमी कल्पनाप्रसूत और वह भी विशेषतः नाटकों में पाये जाने वाले विवरणों के आधार पर किसी लेखक की जीवनी के विषय में कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकाल सकता। इस मान्यता पर भी बहुत गहरी आशंका प्रकट की जा सकती है कि शेक्सपियर के जीवन में निराशा का एक दौर आया था जिसमें उसने अपने कटु दुखान्त नाटकों की रचना की थी और द टेम्पेस्ट की रचना के समय तक उसका मन कुछ सुस्थिर हो गया था। यह बात स्वतः सिद्ध नहीं है कि त्रासदी लिखने के लिए लेखक की मनोदशा पीड़ा की होनी चाहिए, या कोई लेखक जीवन से सन्तुष्ट रहने पर कामदियाँ ही

लिखता है। शेक्सपियर के पीड़ित होने का हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। जिस तरह यह नहीं माना जा सकता कि डाल टीयरशीट और आयगो का जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है वही शेक्सपियर का अपना दृष्टिकोण है उसी तरह जीवन के प्रति टाइमन या मैक्बेथ के दृष्टिकोण के लिए भी उसे उत्तर-दायी नहीं ठहराया जा सकता। यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि प्रासपेरो शेक्सपियर की तरह बोलता है—लेखकों पर उनके नायकों के विचार, भावनाएँ, दृष्टिकोण, अच्छाइयाँ और बुराइयाँ नहीं आरोपित की जा सकतीं। यह बात केवल नाटकों या उपन्यासों के चरित्रों के विषय में ही सच नहीं है, बल्कि कविताओं में प्रयुक्त 'मैं' के विषय में भी सच है। व्यक्तिगत जीवन और कृति के बीच का सम्बन्ध कारण-कार्य का सामान्य सम्बन्ध नहीं है।

इसके बावजूद जीवनी पद्धति के हामी इन स्थापनाओं का विरोध करेंगे। वे कहेंगे कि शेक्सपियर के समाज से आज तक की परिस्थितियों में बहुत अन्तर आ गया है। अनेक कवियों के सम्बन्ध में जीवनचरित की दृष्टि से बहुत अधिक साक्ष्य सुलभ होने लगे हैं, क्योंकि कवि बहुत आत्मसजग हो गये हैं, वे यह सोचते रहे हैं कि बाद की पीढ़ियों की निगाह उन पर पड़ेगी (जैसे मिल्टन, पोप, गेटे और वड्सवर्थ या बायरन) और बहुत सारी सामग्री अपने जीवन के विषय में छोड़ गये हैं और साथ ही उनकी ओर समकालीन लोग भी बहुत अधिक ध्यान देने लगे हैं। अब जीवनी लिखने का रास्ता अधिक आसान हो गया है, क्योंकि हम जीवन और कृतित्व को एक दूसरे के समक्ष रख कर उनकी जाँच कर सकते हैं। सचाई तो यह है कि इस पद्धति का आवाहन और स्वागत कवि, विशेषत: रोमाण्टिक कवि भी करता है, जो अपने बारे में और अपने आन्तरिक जीवन के बारे में बहुत कुछ लिखता, और यहाँ तक कि बायरन की तरह "अपने रक्त वमन करते हृदय" का तमाशा पूरे यूरोप में दिखाता फिरता है। इन कवियों ने अपने निजी पत्रों, डायरियों और आत्म-कथाओं में ही अपने बारे में नहीं लिखा है, अपितु इसका इजहार अपनी नितान्त औपचारिक घोषणाओं में भी किया है। वड्सवर्थ की प्रिल्यूड कविता मुक्त कण्ठ से अपने एक आत्मकथा होने की घोषणा करती है। कभी-कभी इन घोषणाओं का विषय और यहाँ तक कि स्वर भी उनके निजी पत्रों के विषय और स्वर से भिन्न नहीं होता और कवि के अभिप्राय के अनुसार कविता का अर्थ किये बिना इन घोषणाओं को यथातथ्य न मानना कठिन प्रतीत होता है, जिन्हें स्वयं कवि भी गेटे की प्रसिद्ध उक्ति में कहें तो एक महान् आत्मस्वी-कृति के खण्डों' के रूप में स्वीकार करता है।

हमें वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों तरह के कवियों में भेद तो करना ही चाहिए। इनमें से एक प्रकार के कवि तो कीट्स और टी० एस० ईलियट की तरह कवि की 'ऋणात्मक क्षमता' पर, विश्व के सम्मुख उसके खुले होने पर, उसके व्यक्तित्व के विलोपन पर बल देते हैं, और इनसे विपरीत ढंग के कवि अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करना चाहते हैं, अपना आत्मचित्र खींचना चाहते हैं, अपने दोष-पाप कहना और अपने को व्यक्त करना चाहते हैं। साहित्यिक इतिहास के एक लम्बे दौर में हम केवल पहले प्रकार के कवियों को ही जानते रहे है—वे कृतियाँ जिनमें व्यक्तिगत अभिव्यक्ति बहुत क्षीण होती है, हालांकि इनका सौन्दर्यात्मक महत्त्व बहुत अधिक हो सकता है। इटालवी नावेल, शौर्य गाथाएं, रिनेसां के सानेट, एलिज़बेथकालीन नाटक, प्रकृतिवादी उपन्यास तथा अधिकांश लोकगीत इसके साहित्यिक उदाहरण हो सकते है।

परन्तु आत्मनिष्ठ कवियों तक के साथ आत्मकथात्मक ढंग के व्यक्तिगत उद्‌गार के और कलाकृति में ठीक उसी तत्व के उपयोग के बीच विभाजक रेखा नही खीची जा सकती। कोई कलाकृति संस्मरणों की किसी पुस्तक, डायरी, या पत्रों की तुलना में एक नितान्त भिन्न स्तर पर यथार्थ में एक बिल्कुल भिन्न ढंग का सम्बन्ध कायम करते हुए अपने आप में एक अलग इकाई का रूप ले लेती है। जीवनी-पद्धति को यदि विकृत कर दिया जाये तो ही नितान्त निजी और प्रायः लेखक के जीवन के प्रामाणिक दस्तावेजों को अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु माना जा सकता है और वास्तविक कविताओं का अर्थ इन दस्तावेजों के प्रकाश में निकाला जा सकता है तथा कविताओं के आलोचनात्मक मूल्यांकन में सर्वथा पृथक् और कभी-कभी बिल्कुल विरोधी मानक के अनुसार उनका क्रम-विन्यास किया जा सकता है। ब्रैण्डिस ने **मैकबेथ** को इसलिए अस्वीकार करार दिया है कि जिसमें वह शेक्सपियर का व्यक्तित्व समझते है, उसमें इसका कोई लगाव ही नहीं है; इसी तरह की शिकायत किरगमिल को अरनिल्ड के **सोहराब एण्ड रुस्तम** में भी है।

यहाँ तक कि यदि किसी कलाकृति में कुछ ऐसे तत्व मलते भी है जिन्हें निश्चित रूप से आत्मचरित्रमूलक कहा जा सके, तो भी इन तत्वों को कृति में इस तरह पुनर्गठित, और रूपान्तरित किया गया होगा कि इनकी निश्चित वैयक्तिक अर्थवत्ता लुप्त हो गई होगी और ये सिर्फ एक ठोस मानवीय सामग्री का रूप ले चुके होंगे, जो किसी कृति के अविभाज्य तत्व बन जाते हैं। रोमन फर्नेण्डीज ने स्तांदाल के सम्बन्ध में बड़े तर्कपूर्ण ढंग से यही बात कही है।

जी० डब्ल्यू० मायर्स ने सिद्ध किया है कि वर्ड्सवर्थ के जिस प्रिल्यूड के विषय में यह दावा किया जाता है कि इसमें आत्मकथात्मक तत्व पाये जाते हैं, वह अपनी वर्णन प्रक्रिया में पहुँच कर वर्ड्सवर्थ के वास्तविक जीवन से कितना भिन्न रूप ले लेती है।

यह पूरा दृष्टिकोण ही कि कला विशुद्ध आत्माभिव्यक्ति है, व्यक्तिगत अनुभूतियों और अनुभवों का लिपिबद्ध रूप है, सरासर मिथ्या है। यहाँ तक कि जब कलाकृति और लेखक के जीवन में निकट सम्बन्ध होता है तब भी यह समझने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए कि कलाकृति मात्र जीवन की अनुकृति हुआ करती है। कला को जीवन का प्रतिबिम्ब मानते हुए हम यह भूल जाते हैं कि कोई कलाकृति मात्र अनुभवों का मूर्त रूप ही नहीं हुआ करती है अपितु यह अपने ढंग की अनेक कृतियों की शृंखला में एक सबसे नयी कृति भी हुआ करती है; यह एक नाटक, उपन्यास या कविता भी हुआ करती है और इस रूप में यह एक अभीष्ट सीमा तक साहित्यिक परम्परा और रूढ़ि से बंधी हुई भी रहती है। चरितमूलक दृष्टि से चूंकि साहित्यिक परम्परा के क्रम को तोड़ कर इसे किसी व्यक्ति के जीवनचक्र का स्थानापन्न बनाया जाता है, अतः इसमें वस्तुतः साहित्यिक प्रक्रिया को पूरी तरह समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता। इस पद्धति में नितान्त सरल मनोवैज्ञानिक तथ्यों की भी अवहेलना की जाती है। कलाकृति एक ऐसा 'मुखौटा', एक 'प्रति-धर्मा-स्व' हो सकती है, जिसके पीछे उसका वास्तविक स्व छिपा हो, यह किसी लेखक के वास्तविक जीवन की अपेक्षा उसके 'स्वप्न' का मूर्त रूप हो सकती है, या यह जीवन का एक ऐसा चित्र हो सकती है जिसमें लेखक पलायन करना चाहता हो। इसके अतिरिक्त हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ तक कला-कृति का प्रश्न है, लेखक जीवन को भिन्न ढंग से 'अनुभव' कर सकता है—इसमें वास्तविक अनुभवों को इस दृष्टि से देखा जाता है कि साहित्य में इनका क्या उपयोग हो सकता है, और इस तरह वे उसके पास पहले से ही कला की परम्पराओं और पूर्वधारणाओं से अंशतः रूपान्तरित हो कर पहुँचते हैं।

तात्पर्य यह है कि जीवनी की दृष्टि से कृतियों का अर्थ करने और इस अभिप्राय से प्रत्येक कलाकृति का उपयोग करने के लिए प्रत्येक कृति को सावधानी से जाँच-पड़ताल और परीक्षा करने की आवश्यकता है, क्योंकि कला-कृति जीवनी के दस्तावेज के रूप में नहीं लिखी जाती। हमें ग्लैडीज आई० बेड की **लाइफ आफ ट्रैहर्न** पर आपत्ति करनी होगी, जिसने अपनी कविताओं

के हर विवरण को यथातथ्य जीवन सत्य से जोड़ने की कोशिश की है, या इसी तरह ब्राण्टे के जीवन पर लिखी गई अनेक पुस्तकों पर आपत्ति होनी चाहिए जिनमें **जेन आयर** या **वाइलेट** के पूरे-के-पूरे अनुच्छेद ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं। वर्जीनिया मूर की पुस्तक **द लाइफ एण्ड डेथ आफ एमिली ब्राण्टे** में मूर ने कहा है कि ब्राण्टे ने हीथक्लिफ के आवेगों का अनुभव अवश्य किया होगा; और कुछ लोगों का विचार है कि यह संभव नहीं कि **वूदरिंग हाइट्स** की रचना किसी औरत ने की हो, इसके वास्तविक रचयिता उनके भाई पैट्रिक रहे होंगे। इसी तरह के तर्कों के कारण लोग यह दलील देने लगते हैं कि शेक्सपियर इटली अवश्य गये हुए होंगे, उन्होंने अपने जीवन में वकालत, सिपहगीरी, अध्यापन, और किसानी अवश्य की होगी। एलेन टेरी ने ऐसे लोगों का मुंह-तोड़ जवाब देते हुए कहा था कि इस मानदण्ड से तो शेक्सपियर औरत भी जरूर रहे होंगे।

लेकिन कहने वाले कहेंगे कि इस तरह नासमझी भरे दावों के कारण साहित्य में व्यक्तित्व के होने की समस्या का निराकरण तो नहीं हो जाता। हम लोग दान्ते, या गेटे या तालस्ताय की कृतियां पढ़ते समय यह जानते होते हैं कि इनके पीछे एक व्यक्ति है। किसी एक ही लेखक की अनेक रचनाओं के बीच एक समानता पाई जाती है, इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। यह सवाल उठाया जा सकता है कि क्या प्रत्यक्ष व्यक्ति और उसकी कृतियों के बीच, जिन्हें लाक्षणिक अर्थ में ही 'व्यक्तिगत' कहा जा सकता है, स्पष्ट भेद कर लेना अच्छा नहीं रहेगा। मिल्टन और कीट्स की कृतियों में एक विशेषता पाई जाती है जिसे 'मिल्टनीय' (मिल्टानिक) या 'कीट्सीय' (कीट्सियन) विशेषता कहा जा सकता है। लेकिन इस विशेषता का निश्चय कृतियों के ही आधार पर किया जा सकता है, विशुद्ध चरितमूलक साक्ष्यों के आधार पर इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती। हमें वर्जिल या शेक्सपियर के जीवन के विषय में कुछ भी निश्चित मालूम नहीं है, लेकिन इसके बावजूद, हमें पता है कि वर्जिल और शेक्सपियर की अपनी विशेषताएं क्या हैं।

फिर भी व्यक्ति और कृति के बीच सम्बन्ध-सूत्र पाये जाते हैं, सादृश्य पाए जाते हैं, किंचित् गूढ समानताएं पाई जाती हैं और पाये जाते हैं टेढ़े-मेढ़े प्रतिबिम्ब। कवि की कृति एक मुखौटा हो सकती है, यह एक नाटकीय खेल हो सकती है, परन्तु यह अक्सर उसके अपने अनुभवों का खेल होती है, उसके अपने जीवन का खेल। यदि इन बारीकियों को ध्यान में रखते हुए

चरितमूलक अध्ययन का उपयोग किया जाय तो यह एक उपयोगी चीज हो सकता है। इसका सबसे पहला महत्त्व तो टीका सम्बन्धी हो सकता है—इससे किसी लेखक की कृति की बहुत सी अन्तर्कथाओं को या यहाँ तक कि शब्दों तक को समझा जा सकता है। चरितमूलक ढाँचे से साहित्यिक इतिहास को विकास सम्बन्धी सबसे सुस्पष्ट समस्याओं का अध्ययन करने में सहायता मिल सकती है और ये समस्यायें हैं किसी लेखक की कला का विकास, उत्कर्ष और सम्भावित ह्रास। जीवनी में साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी बहुत सी सामग्रियाँ एकत्र की जाती हैं जैसे किसी कवि का अध्ययन, अन्य साहित्यकारों से उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध, उसका भ्रमण, उसने किन दृश्यों को देखा और किन-किन नगरों में रहा। ये सभी ऐसे सवाल हैं जिनसे साहित्यिक इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है, जैसे कि कोई कवि किस परम्परा में रहा, किन लोगों ने उसे प्रभावित किया, और किन सामग्रियों से उसने प्रेरणा ग्रहण की।

इस दृष्टि से जीवनी का जो भी महत्व क्यों न हो, इसको किसी विशिष्ट आलोचनात्मक महत्व से जोड़ना खतरनाक मालूम होता है। जीवनी से सम्बन्धित कोई भी प्रमाण आलोचनात्मक मूल्यांकन को न तो बदल सकता है, न ही प्रभावित कर सकता है। ईमानदारी को प्रायः एक मानदण्ड के रूप में लिया जाता है, पर यदि इसका अर्थ यह लगाया जाये कि लेखक के जो अनुभव या अनुभूतियाँ बाहरी साक्ष्यों से सिद्ध होती हैं, उनकी झलक उसकी रचनाओं में मिलनी चाहिए, लेखक को अपने जीवन के प्रति सच्चा बना रहना चाहिए तो यह मानदण्ड एकदम मिथ्या है। इस तरह की 'ईमानदारी' में और कलामूल्यों में कोई सम्बन्ध नहीं है। पुस्तकालयों में किशोरों द्वारा विरह वेदना से भरपूर कविताओं के खण्ड-के-खण्ड और नीरस धार्मिक कविताएँ (चाहे उनकी अनुभूति कितनी भी उत्कट क्यों न रही हो) इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं। सिर्फ इसलिए कि बायरन की कविता 'फेयर दी वेल....' में कवि ने अपनी पत्नी के साथ अपने सम्बन्धों को चित्रित किया है, यह अच्छी या बुरी नहीं हो जाती, न ही जैसा कि पाल एल्मर मोर का कहना है, 'यह कोई करुण बात' है कि इसकी पाण्डुलिपि पर बायरन के आँसुओं के टपकने का कोई चिह्न नहीं मिलता, जो कि टामस मूर के कथनानुसार बायरन ने इस कविता को लिखते समय बहाये थे। आँसू बहाये गये हों या नहीं, व्यक्तिगत भावुकता खत्म हो चुकी है, उसको नए सिरे से नहीं अनुभव किया जा सकता, न ही ऐसा करने की कोई जरूरत है।

❶❶❶

आठ

साहित्य और मनोविज्ञान

'साहित्य का मनोविज्ञान' शब्द का प्रयोग एक टाइप और एक व्यक्ति के रूप में किसी लेखक के मनोवैज्ञानिक अध्ययन, या सृजन-प्रक्रिया के अध्ययन, या साहित्यिक कृतियों में पाये जाने वाले मनोवैज्ञानिक टाइपों और नियमों के अध्ययन के अर्थ में, और अन्ततः पाठकों के मन पर पड़ने वाले प्रभावों (भावकों के मनोविज्ञान) के अध्ययन के अर्थ में किया जा सकता है। इनमें से चौथे रूप पर हम 'साहित्य और समाज' अध्याय में विचार करेंगे और शेष तीन की चर्चा बारी-बारी से यहाँ की जायेगी। सच पूछा जाय तो इनमें से तीसरा रूप ही संभवतः ऐसा है जिसे शुद्ध साहित्यिक अध्ययन के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इनमें से पहले दो अध्ययन कला के मनोविज्ञान की शाखाएँ हैं। यद्यपि शैक्षणिक दृष्टि से ये साहित्य के अध्ययन में कभी-कभी बहुत काम के सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु साहित्यिक कृतियों के उद्भव (उत्पत्ति-मूलक भ्रान्ति) को इनके मूल्यांकन का आधार कदापि नहीं मानना चाहिए।

साहित्यिक प्रतिभा के स्वरूप के विषय में लोग सदा से अटकलबाजियाँ करते रहे हैं और ग्रीक काल से ही लोग यह सोचते रहे हैं कि इसका कुछ न कुछ सम्बन्ध पागलपन से अवश्य है—और पागलपन की इस परिधि में उन्माद (न्यूरोटिसिज्म) से लेकर विक्षिप्तता (साइकोसिस) तक को समेटा जाता रहा है। यह माना जाता रहा है कि कवि एक 'आविष्ट' प्राणी होता है, वह एक अलग किस्म का जीव होता है जो दूसरों से घटकर होने के साथ ही साथ दूसरों से बढ़कर भी होता है; और वह जिस अवचेतन अवस्था में अपने उद्गार प्रकट करता है वह एक साथ ही उपबौद्धिक और अतिबौद्धिक दोनों हुआ करती है।

एक और धारणा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी कि 'काव्य-शक्ति' एक क्षतिपूर्ति हुआ करती है। ओडेसी में कहा गया है कि काव्य की देवी ने डेमोडोसस की आँख तो ले ली पर उसे 'काव्य-रचना का सुभग वरदान' वैसे ही दे दिया जैसे एथेना ने अन्धे टायरीसियस को त्रिकालदृष्टि प्रदान की थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंगक्षति और प्रतिभा इन दोनों में सदा इतना सीधा सम्बन्ध नहीं पाया जाता; और व्याधि या विकृति शारीरिक होने के स्थान पर मानसिक या सामाजिक भी हो सकती है। पोप कुबड़ा और बौना था; बायरन के एक पाँव में फीलपाँव हुआ था; प्रूस्त अंशतः यहूदी वंश का था तथा वह श्वास-रोग और स्नायु-रोग का मरीज था; कीट्स का कद दूसरे लोगों से छोटा था; टामस वुल्फ दूसरों की अपेक्षा बहुत लम्बा था। इस सिद्धान्त के साथ कठिनाई यह है कि इसे बहुत ही सरल रूप दे दिया गया है। किसी भी तरह की सफलता को उसके बाद क्षतिपूर्ति की आकांक्षा का फल बनाया जा सकता है, क्योंकि हर आदमी में कोई न कोई ऐसी कमी होती है जो उसके लिए प्रेरक का काम कर सकती है। यह प्रचलित दृष्टिकोण निश्चय ही संशय योग्य है कि स्नायु-दुर्बलता—और 'क्षतिपूर्ति'—के कारण ही कलाकार वैज्ञानिकों से और दूसरे 'बुद्धिजीवियों' से अलग हुआ करते हैं—इनके बीच भेद यह होता है कि लेखक प्रायः अपने विषय में ही प्रमाण प्रस्तुत करते है और अपनी विकृतियों को अपनी विषय-वस्तु बना लेते है।

मूल प्रश्न ये है—यदि लेखक स्नायुरोगी होता है तो क्या उसका स्नायु-रोग उसकी कृतियों के लिए विषय प्रदान करता है या केवल उनकी अभिप्रेरणा जगाता है? यदि दूसरी बात सच हो तो लेखकों को दूसरे बुद्धिजीवियों से अलग नहीं किया जा सकता। दूसरा प्रश्न यह है कि यदि लेखक का कथ्य भी स्नायु रोग से ग्रस्त होता है (जैसा काफ्का का निश्चित रूप से है) तो उसकी कृतियाँ पाठकों की समझ में कैसे आती है? लेखक केवल एक रोग-वृत्त (केस हिस्ट्री) की कैफियत देकर ही अपने काम से विरत नहीं हो जाता; वह इससे आगे भी कुछ करता है। या तो वह कुछ मूलभूत प्रतिरूपों का विवेचन करता है (जैसा कि दोस्तोएव्स्की ने **ब्रदर्स कारामज़ोव** में किया है) या ऐसे स्नायुरोगी व्यक्तित्व को अपना विषय बनाता है जिस तरह के व्यक्तित्व हमारे युग में चारों ओर भरे पड़े हैं।

लेखकों के बारे में फ्रायड का दृष्टिकोण बहुत सुथरा नहीं है। अपने अनेक यूरोपीय सहकर्मियों की तरह, खास तौर से यंग और रैंक की तरह, वह भी

एक सुसंस्कृत व्यक्ति था और शिक्षित आस्ट्रियनों के मन में क्लासिकी और जर्मनी के गौरव साहित्य के प्रति जो आदरभाव होता है, वह उसके मन में भी था। इसके बावजूद उसने साहित्य में ऐसी--दोस्तोएव्स्की के **ब्रदर्स कारामजोव** में, **हैम्लेट** में, डाएड्रा के **नेव्यू डि रेमू** में और गेटे की कृतियों में—अनेक बारीकियों का पता लगाया जिनसे उसके अपने सिद्धान्तों का पूर्व-अनुमान और पुष्टि होती थी। लेकिन उसने भी लेखक को एक ऐसा दुर ग्रही उन्मादी माना था जो अपने सृजनात्मक कार्य के कारण पूरी तरह विक्षिप्त होने से तो बचा रहता है लेकिन साथ ही जो लाइलाज भी है।

फ्रायड का कहना है: "कलाकार मूलत: एक ऐसा व्यक्ति होता है जो वास्तविकता की ओर से अपना मुँह मोड़ लेता है क्योंकि उससे अपनी वासनाओं की तुष्टि का परित्याग करने की जो माँग की जाती है उसे वह स्वीकार नहीं कर पाता, और जो इसके बाद अपने कल्पना विलास में अपनी कामुक भावनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं को खुली छूट दे देता है। लेकिन इस कल्पना-लोक से वास्तविक जगत् की ओर लौटने का उसे एक रास्ता मिल जाता है; अपनी विशिष्ट प्रतिभा के बल पर वह अपने कल्पना विलास को ढाल कर एक नया सत्य गढ़ता है, और दूसरे लोग यह मान कर कि यह वास्तविक जीवन की ही एक प्रतिछवि है, उसका औचित्य स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह एक खास रास्ते से चल कर वह बाहरी दुनिया में सचमुच कुछ सच्ची रद्द-बदल करने के चक्करदार रास्ते से गुजरे बिना ही एक नायक, बादशाह और स्रष्टा बन जाता है और लोगों का उतना ही स्नेहभाजन हो जाता है जितना होने की उसकी कामना थी।" अर्थात् कवि एक ऐसा स्वप्नजीवी प्राणी है, जिसे सामाजिक समर्थन प्राप्त रहता है। अपने चरित्र को बदलने के बजाय वह अपने स्वप्न विलास को और अधिक विस्तार देता और उसका प्रकाशन करता है।

इस तरह के विवरण में कलाकार के साथ ही साथ दार्शनिक और 'विशुद्ध वैज्ञानिक' को भी एक ही लकड़ी से हाँका जाता है, और इसलिए इसमें बौद्धिक क्रिया के महत्त्व को वस्तुवादी ढंग से घटाकर इसे मात्र पर्यवेक्षण और नामकरण तक सीमित कर दिया जाता है और क्रिया रहने ही नहीं दिया जाता। चिन्तन-प्रधान कार्य परोक्ष रूप से जो प्रभाव डालते हैं, उपन्यासकारों और दार्शनिकों की कृतियों के पाठकों के प्रभाव से बाहरी दुनिया में जो हेर-फेर होते हैं, उनके प्रति इसमें पूरा न्याय नहीं किया जाता। इसमें यह बात भी अनदेखी कर दी जाती है कि सर्जना अपने आप में बाहरी दुनिया में काम करने का ही

एक रूप है, कि जहाँ स्वप्नजीवी अपने स्वप्नों को लिखने का स्वप्न देख कर ही तुष्ट हो लेता है, वहाँ वह व्यक्ति, जो सचमुच लिखने में लगा हुआ है, अपने स्वप्नों को बाह्य रूप देने की क्रिया में और समाज के साथ अपना समायोजन करने में व्यस्त है।

अधिकांश लेखकों ने अपना नाम रूढ़ फ्रायडवाद से जोड़ने से या अपनी मनश्चिकित्सा पूरी करने से—जिसे कुछ ने शुरू किया था—अपने को विरत कर लिया है। इनमें से बहुतेरे ऐसे हैं जो 'रोगमुक्त' होना या अपने को 'समायोजित करना' नहीं चाहते, वे या तो यह सोचते हैं कि यदि उन्होंने अपना समायोजन कर लिया तो उनका लिखना बन्द हो जायेगा, या यह कि इस तरह उनसे उन सामान्य लोगों से या उस सामाजिक वातावरण से समायोजन करने को कहा जाता है जिसे वे भोगासक्त या बुर्जुआ कह कर अमान्य कर चुके थे। इस तरह आडेन ने यह दावा किया है कि कलाकार को उस हद तक उन्मादी होना चाहिए जितना वह झेल सकता हो; और बहुत से लोग हार्नी, फ्राम, और कार्डिनर जैसे संशोधनवादी मनोविश्लेषकों से सहमत हैं कि उन्माद और सामान्यता के विषय में फ्रायड की धारणाओं का, जिनका आधार अठारहवीं शताब्दी के अन्त का वियना था, मार्क्स और मानव विज्ञानियों के प्रकाश में संशोधन करने की आवश्यकता है।

कला को उन्माद मानने के सिद्धान्त से यह प्रश्न खड़ा होता है कि कल्पना और विश्वास में क्या सम्बन्ध है। क्या उपन्यासकार सिर्फ उस रोमानी बच्चे जैसा ही नहीं होता जो 'कहानियाँ गढ़ता है'—अर्थात् अपने अनुभवों को कुछ इस तरह गढ़ता है कि वह उसके सुख और श्रेय से मेल खायें—बल्कि साथ ही उस आदमी जैसा भी होता है जो निर्मूल भ्रमों से पीड़ित रहता है और अपनी आशाओं और भयों के कल्पना जगत् को ही यथार्थ जगत् समझ लेता है? कुछ उपन्यासकारों ने (जैसे डिकेन्स) स्वीकार किया है कि वे अपने चरित्रों को स्पष्ट देख और सुन लेते हैं, और साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि उनके चरित्र कथा को अपने अनुसार मोड़ देते हैं और इसे एक ऐसी परिणति पर पहुँचा देते हैं जो उपन्यासकार की आरंभिक योजना से सर्वथा भिन्न होती है। मनोविश्लेषकों ने जो दृष्टान्त दिये हैं उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिस पर निर्मूल भ्रम का आरोप लगाया जा सके; परन्तु कुछ उपन्यासकारों में बाल-सुलभ क्षमता होती है लेकिन इसके आगे बहुत कम उपन्यासकारों में ही वैसी संमूर्त कल्पना होती है (उनमें न तो वैसे अनुबिम्ब होते हैं, न स्मृत

बिम्ब जो इस समय तक अपनी प्रकृति में प्रत्यक्ष और ऐन्द्रियिक रह गये हों) जैसी बालकों में पाई जाती है। एरिक जेन्श के विचार से कलाकार की इस क्षमता से यह प्रकट होता है कि उसमें प्रत्यक्षानुभूत और संकल्पनाजन्य का एक विशेष ढंग से एकीकरण हो जाता है। वह अपने भीतर एक प्राचीन जातीय लक्षण को जिलाए रखता है और उसे विकसित कर लेता है : वह अपने विचारों को अनुभव करता है और यहाँ तक कि उन्हें प्रत्यक्ष भी देख लेता है।

साहित्यकार--और विशेषतः कवि--का कभी-कभी एक दूसरा लक्षण बताया जाता है ऐन्द्रियिक संश्लेषण अर्थात् दो या अधिक इन्द्रियों की प्रत्यक्षानुभूतियों को एक दूसरे से जोड़ देना। यह समन्वय दृष्टि और श्रवण के बीच बहुत अधिक देखने में आता है (ध्वनि और वर्ण--जैसे तुरही की ध्वनि को सिन्दूरी कहना)। एक मनोवैज्ञानिक लक्षण के रूप में यह बहुत कुछ लाल-हरे रंग की वर्णान्धता जैसा है जो एक बहुत प्राचीन और अपेक्षाकृत अभिन्नीकृत संवेदन तंत्र का अवशेष रूप है। लेकिन ऐन्द्रिय संश्लेषण प्रायः करके एक साहित्यिक प्रविधि है, यह रूप-विधान का ही एक भेद है, जीवन के प्रति एक अतिलौकिक-सौन्दर्यशास्त्रीय भावना की शैलीगत अभिव्यक्ति है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो यह भावना और शैली बैरक और रोमाण्टिक कालों की अपनी विशेषता रही है और इसके विपरीत तर्कनाप्रधान कालों में जब लोग 'साहचर्यों' सादृश्यों और एकीकरणों की अपेक्षा 'स्पष्टता और निर्मलता' की खोज में रहे हैं, इन्हें अरुचि के साथ देखा जाता रहा है।

टी० एस० ईलियट आलोचना-लेखन के अपने प्रारंभिक काल से ही इस बात पर जोर देते रहे हैं कि कवि को समन्वयी होना चाहिए। उसे अपने जातीय इतिहास की परंपराओं को आत्मसात् किये रहना चाहिए--या अधिक अच्छा यह कहना रहेगा कि उन्हें अपने भीतर अविकल जिलाये रखना चाहिए। उसे भविष्य की ओर बढ़ने के साथ ही साथ अपने बचपन से और पूरी जाति परम्परा से अटूट सम्पर्क बनाये रखना चाहिए। उन्होंने सन् १९१८ में लिखा था कि, 'कलाकार अपने समकालीन लोगों से अधिक सभ्य तो होता ही है साथ ही वह उनसे अधिक आदिम भी हुआ करता है ···।" सन् १९३२ में उन्होंने विशेष रूप से 'श्रवण सम्बन्धी कल्पना' की और साथ ही कवियों के चाक्षुस बिम्ब-विधान की चर्चा करते हुए इस संकल्पना को फिर से दुहराया और खास तौर से अपने प्रतिवर्ती बिम्बों की चर्चा की जिनका 'प्रतीकात्मक मूल्य हो सकता है, पर हम जिनकी स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि

ये उन गहन अनुभूतियों को प्रतिबिम्बित करते हैं जिनके भीतर हम झाँक कर नहीं देख सकते।' कैलिएट और बेदे ने अपनी कृति में यह सिद्ध किया था कि प्रतीकवादी आन्दोलन और आदिम मन के बीच परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है और ईलियट ने इनका अनुमोदन करते हुए लिखा, "सभ्य समाज में भी उस आदिम अवस्था की वृत्तियाँ बनी रहती हैं जब मनुष्य में तर्कना का विकास नहीं हो पाया था, लेकिन इन तक केवल कवि ही पहुँच सकता है या यदि दूसरे लोग पहुँच भी सकते हैं तो वे कवियों के ही माध्यम से।"

इन अंशों में बड़ी आसानी से कार्ल युंग का प्रभाव और उनकी इस मान्यता का पुनराख्यान पाया जा सकता है कि व्यक्ति के 'अवचेतन' के नीचे—जो हमारे अतीत के और विशेषतः हमारे बचपन और शैशव के रुद्ध अनुभवों का अवशेष होता है—हमारा 'सामूहिक अवचेतन' दबा रहता है—जिसमें हमारी जाति के विगत और यहाँ तक कि प्रागैतिहासिक अनुभव सोये रहते हैं।

युंग ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काफी व्योरेवार चरित-भेद किये हैं। उसके अनुसार चिन्तन, अनुभूति, अन्तःप्रज्ञा और संवेदन की प्रधानता के अनुसार लोगों के चार टाइप पाये जाते हैं और इन चारों प्रकारों को उसने 'अन्तर्मुखी' और 'बहिर्मुखी' दो प्रकारों में उपविभाजित किया है। हम शायद यह सोचें कि उसने सभी लेखकों को अन्तःप्रज्ञा-सम्पन्न अन्तर्मुखी व्यक्तियों की ही श्रेणी में, या कम से कम अन्तर्मुखी व्यक्तियों की श्रेणी में रखा होगा, पर उसने ऐसा नहीं किया है। इस बात से सावधान रहने के लिए कि कहीं उसके कथन को सरलरूप न दे दिया जाये, उसने कहा है कि कुछ लेखक अपनी कृतियों में अपने टाइप का ही उद्घाटन करते हैं, जब कि शेष अपने विरोधी टाइप का, अपने पूरक का, उद्घाटन करते हैं।

यह मानना होगा कि लेखक वर्ग सिर्फ एक टाइप का नहीं होता। यदि हम कॉलरिज, शैले, बादलेयर और पो जैसे कवियों का एक वर्ग मानें जिनमें स्वच्छन्दतावादी तत्व पाया जाता है तो हमें रसीन, मिल्टन, और गेटे या जेन आस्टेन और एन्थनी ट्रालप को भी याद रखना होगा। हमें इस प्रसंग में सबसे पहले गीतकारों और स्वच्छन्दतावादी कवियों को नाटककारों और महाकाव्य-रचयिताओं से, और कुछ अंशों में इन्हीं के समकक्षियों- उपन्यासकारों--से अलग कर लेना होगा। क्रेट्शमर नामक एक जर्मन चरित-निरूपक ने कवियों को (जो क्षीणकाय होते हैं और जिन्हें अन्तराबन्ध --स्किजोफ्रेनिया--की शिकायत रहती है) उपन्यासकारों से अगल किया है: जो शरीर से हट्टे-कट्टे होते

हैं लेकिन जिन्हें विक्षिप्तता के दौरे आया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कवियों की दो जातियाँ पाई जाती हैं। इनमें से एक प्रकार के कवि तो 'आविष्ट' होते हैं, अर्थात् जिनमें कविता का स्वतः उद्रेक होता है, जो काव्य-रचना के समय अपने वश में नहीं रहते, जिन्हें इल्हाम-से आया करते हैं। दूसरे वे कवि होते हैं जिन्हें 'रचयिता' या 'गढ़िया' कहा जा सकता है, जो प्रथमतः प्रशिक्षित, रीतिचतुर और उत्तरदायी शिल्पी होते हैं। यह भेद कुछ अंशों में ऐतिहासिक भी मालूम होता है: 'आविष्ट' कवि आदिम कवि का ही एक रूप है, और इसी के क्रम में बाद में स्वच्छन्दतावादी, अभिव्यंजनावादी, और अतियथार्थवादी कवि आते हैं। व्यावसायिक कवि आयर्लैण्ड और आइसलैण्ड की चारण परम्परा में प्रशिक्षित कवि, पुनर्जागरणकाल और नव्यक्लासिकी कवि 'रचयिताओं' की श्रेणी में आते हैं। लेकिन हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कवि इन दोनों प्रकारों में से सिर्फ किसी एक प्रकार के होते हैं और एक प्रकार के कवि में दूसरे प्रकार के गुणों का सर्वथा अभाव होता है, ये दोनों प्रकार कवियों में पाई जाने वाली दो विरोधी प्रवृत्तियों के सूचक हैं। महान् कवियों में—जिनमें मिल्टन, पो, जेम्स, और ईलियट, शेक्सपीयर और दोस्तोएव्स्की आदि आते हैं—'रचियिता' और 'आविष्ट' दोनों का समन्वय हुआ करता है। वे एक जीवन-दृष्टि से अभिभूत होते हैं पर साथ ही इनमें इस जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करने के लिए उपयुक्त सावधानी भी पाई जाती है।

नीट्शे की पुस्तक **द बर्थ आफ ट्रैजेडी** (१८७२) आधुनिक काल में पाई जाने वाली विरोधी प्रवृत्तियों का लगभग सबसे प्रभावशाली विवेचन है। ये विरोधी प्रवृत्तियाँ दो ग्रीक कला-देवों, अपोलो और डायोनीसस, में पाई जा सकती हैं और पायी जा सकती हैं कला के उन दो प्रकारों और प्रक्रियाओं में जिनके ये देवता हैं। ये कलायें हैं स्थापत्य और संगीत। और ये दोनों प्रक्रियायें हैं स्वप्न की और आनन्द की मस्ती की मानसिक अवस्थाएँ। ये दोनों अवस्थाएँ क्लासिकी 'रचयिता' और स्वच्छन्दतावादी 'आविष्ट' कवियों के रूपों में देखी जा सकती हैं।

फ्रान्सीसी मनोवैज्ञानिक राइबो ने साहित्यिक कलाकारों का वर्गीकरण करते हुए इन्हें मुख्यतः दो प्रकार की कल्पनाओं से युक्त बताया है, और हालांकि उसने स्वयं यह बात स्वीकार नहीं की है परन्तु उसने ऐसा, निश्चय ही, नीट्शे के आधार पर किया होगा। इनमें से पहले प्रकार की कल्पना सुघट्य या मूर्त कल्पना होती है और उन कवियों में पाई जाती है जो मुख्यतः बाह्य जगत् के पर्यवेक्षण से, प्रत्यक्षानुभूति से प्रेरित होते हैं। दूसरे प्रकार की

कल्पना तरल (श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्धित और प्रतीकात्मक) होती है और यह प्रतीकवादी कवियों में और रोमाण्टिक कहानियाँ लिखने वालों (टीक, हाफमैन और पो) में पायी जाती हैं जो अपनी भावनाओं और अनुभूतियों से साहित्य रचना करते हैं, और अपने आन्तरिक आवेगों को लयों और बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। ईलियट ने दान्ते और मिल्टन में तुलना करते हुए दान्ते की कल्पना को 'चाक्षुस कल्पना' और मिल्टन की कल्पना को 'श्रवण सम्बन्धी' कल्पना कहा है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईलियट ने यह बात राइबो से ही उठाई है।

इसका एक और उदाहरण समकालीन रोमानियाई विद्वान् एल रूसू का विवेचन है, जिसने कलाकारों के मूलतः तीन प्रकार माने हैं और इन तीनों में स्पष्ट भेद किया है। इनमें से पहले तो सहानुभूतिशील कवि हैं जो अपने सृजन के क्षणों में प्रसन्न, स्वतः स्फूर्त और चिड़ियों की तरह निर्लेप होते हैं। दूसरे हैं विद्रोही कलाकार और तीसरे वे जिनमें सहानुभूति और विद्रोह दोनों का समन्वय होता है। अन्तिम प्रकार के कलाकार वे होते हैं जिनके भीतर का सहानुभूतिशील कलाकार विद्रोही पर विजय प्राप्त कर लेता है और इसलिए जो एक मानसिक सन्तुलन की स्थिति में पहुँचे रहते हैं। ऐसा केवल महानतम कवियों में पाया जाता है। रूसू ने इसका उदाहरण देते हुए गेटे का नाम लिया है, लेकिन हम इस श्रेणी में अपने सभी महान् कलाकारों—दान्ते, शेक्सपियर, बाल्ज़ाक, डिकेन्स, तालस्ताय और दोस्तोएव्स्की—को रख सकते हैं।

सृजन की प्रक्रिया में किसी साहित्यिक कृति के अवचेतन से उत्पन्न होने से लेकर अन्तिम संशोधनों तक का पूरा कार्यव्यापार आता है जो कुछ लेखकों के साथ पूरी रचना का सबसे खरा सृजनात्मक अंग होता है।

किसी कवि की मानसिक रचना में और किसी कविता की रचना में, मन पर पड़ी छाप और उसकी अभिव्यक्ति में फर्क होता है। क्रोचे ने इन दोनों को मात्र सौन्दर्यात्मक अन्तःप्रज्ञा तक ही सीमित कर दिया था परन्तु लेखकों और आलोचकों ने उसका समर्थन नहीं किया; सच कहें तो सी० एस० लेविस ने इसके विपरीत इन दोनों को अभिव्यक्ति सिद्ध करने के लिए बहुत सुन्दर तर्क दिये हैं। लेकिन प्रभाव और अभिव्यक्ति को डिल्थे के विवेचन के आधार पर एक दूसरे से पृथक् और विरुद्ध सिद्ध करने का कोई प्रयास भी हमें पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं कर पाता। चित्रकार एक चित्रकार के रूप में ही हर वस्तु

को देखता है और चित्र उसके देखे का स्पष्टीकरण और परिसमाप्ति है। कवि कविता का रचयिता होता है; लेकिन कविता का विषय ही उसके प्रत्यक्षदर्शी जीवन का रूप है। किसी भी विधा के कलाकार के मन पर पड़ी छाप उसकी कला में रूपायित होती है। वह किसी ऐसे अनुभव का संचय नहीं करता जिसका परिपाक न हो सके।

'प्रेरणा' जो सृजन में काम आने वाले अवचेतन तत्व का परम्परागत नाम है, शास्त्रीय रूप से मनन (म्यूज) से जुड़ा हुआ है, जिसे स्मृति की एक पुत्री माना जाता है और ईसाई विचार परम्परा में इसको ईश्वरीय माना जाता रहा है। किसी मंत्रद्रष्टा, त्रिकालद्रष्टा या कवि की इल्हाम की अवस्था की जो व्याख्या की जाती रही है, वह सामान्य अवस्था से अलग है। आदिम समाजों में मंत्रसिद्ध व्यक्ति स्वेच्छा से अपने को समाधि की अवस्था में पहुँचा सकता था या वह न चाहते हुए भी किसी देवी या देवता के वश में हो सकता था। आधुनिक काल में प्रेरणा के विषय में यह माना जाता है कि यह अकस्मात् आ उपस्थित होती है (जैसे किसी का पूरा कायापलट हो जाये) और इसमें व्यक्ति का अपना आपा लुप्त हो जाता है, वह महसूस करता है कि वह अपनी रचना का **माध्यम** मात्र है।

क्या प्रेरणा अपने भीतर जगाई नहीं जा सकती? उत्तेजकों और अनुष्ठानों से और साथ ही सर्जना की आदतों से इसको जाग्रत किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शराब, अफीम और दूसरी नशीली चीजें सचेतन मन को शिथिल बना देती हैं, हमारे 'सेन्सर' को, जो हर बात की छान-बीन में लगा रहता है, कुन्द कर सकती हैं, और इस तरह अवचेतन की क्रिया को मुक्त कर सकती हैं। कोलरिज और डि क्वेन्सी ने इस बात की बहुत डींग मारी थी कि अफीम के नशे में साहित्य रचना के लिए अनुभवों की एक दूसरी पूरी दुनिया ही हमारे सामने उभर आती है; लेकिन आधुनिक काल में रोगियों के सम्बन्ध में जो रिपोर्टें आई हैं, उनके प्रकाश में देखने पर पता चलता है कि इस तरह के कवियों में पाये जाने वाले असाधारण तत्व इन कवियों के आधिग्रस्त मानस से उत्पन्न होते हैं, न कि मादक द्रव्य के विशिष्ट प्रभाव से। एलिज़बेथ श्नाइडर ने सिद्ध किया है कि डि क्वेन्सी को "पिनक में जो साहित्यिक स्वप्न आया करते थे, जिनका प्रभाव बाद की कृतियों में बढ़ता गया था, वे विस्तार को छोड़ कर १८०३ में उसके अफीम खाना शुरू करने से पहले लिखी गई डायरी में लिखी बातों से तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं।..."

आदिम समाजों के आध्यात्मिक कवियों को वे तरीके सिखाये जाते थे जिनसे वे अपने को ऐसी स्थिति में ला सकते थे जो 'आवेश' के लिए अधिक उपयुक्त हो सकती थीं, और जिस तरह भारत आदि के आध्यात्मिक शिष्यों और साधुओं के लिए इस बात का विधान हुआ करता है कि वे कहाँ पर और कब पूजा करें और किस समय वे 'मन्त्र रचना' कर सकते हैं, उसी तरह आधुनिक जगत् के लेखक भी सृजन की अवस्था में पहुँचने के लिए कुछ अनुष्ठान करते हैं। शिलर अपने लिखने की डेस्क में सड़े सेब रख लिया करता था; बाल्ज़ाक संन्यासियों का लबादा पहन कर लिखा करता था। अनेक लेखक हैं—इनमें प्रूस्त और मार्क ट्वेन जैसे लेखक भी आते हैं जिनकी प्रकृति एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। कुछ को लिखने के लिए एकान्त और शान्ति की आवश्यकता होती है; लेकिन दूसरे कुछ लेखक परिवार के बीच में या कहवाघरों में अपने दोस्तों के बीच बैठ कर लिखना पसन्द करते हैं। कुछ ऐसे लेखकों के उदाहरण पाये जाते हैं जो रात को लिखते हैं और दिन को सोते हैं और इनकी ओर हमारा ध्यान बहुत जोर से आकर्षित होता है। संभवतः रात्रि के प्रति (जो चिन्तन, स्वप्न और अवचेतन का काल है) निष्ठा भाव स्वच्छन्दतावाद की मुख्य परम्परा है; लेकिन हमें यह भी याद रखना होगा कि इसकी एक प्रतिद्वन्द्वी परम्परा भी पाई जाती है और यह है वर्ड्सवर्थ की परम्परा जिसमें भोर की वेला का बहुत गुण गाया जाता है (जो बचपन की ताजगी का काल है)। कुछ लेखकों का दावा है कि वे केवल कुछ ऋतुओं में ही लिख सकते हैं। मिल्टन का दावा भी यही था और उसका विचार था कि शरद ऋतु के उस दिन से लेकर जब दिन और रात बराबर होते हैं (२१ सितम्बर) वसन्त तक काव्य स्रोत जितना मुक्त भाव से प्रवाहित होता है उतना अन्य किसी भी काल में नहीं। डा० जान्सन, जिन्हें ऐसे सभी सिद्धान्त अरुचिकर मालूम होते थे, यह मानते थे, यदि कोई लेखक हठपूर्वक किसी भी समय पर लिखता रहे तो वह उस समय लेखन कर सकता है। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि वह तभी लिखते थे जब आर्थिक कारणों से लिखने को बाध्य हो जाते थे। लेकिन इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऊपरी तौर पर वहम मालूम होने वाले इन अनुष्ठानों में एक बात सामान्य है कि साहचर्य और आदत के कारण इनसे व्यवस्थित लेखन आसान हो जाता है।

क्या साहित्यिक शैली पर प्रति तैयार करने की रीति का कोई स्पष्ट

प्रभाव पड़ता है? क्या इस बात का कोई खास महत्त्व है कि कोई व्यक्ति अपनी पहली प्रति कलम और स्याही से लिखता है, या सीधे टाइपराइटर पर लिखता है? हेमिंग्वे का कहना है कि टाइपराइटर से वाक्य 'छपने के लिए तैयार होने से पहले ही ठोस बन जाते हैं' और इसलिए संशोधन जो कि लेखन का एक अनिवार्य अंग है, बहुत मुश्किल पड़ता है। दूसरे लोगों का विचार है कि यंत्र तो चलती हुई चीज, या पत्रकारों की शैली में लिखने के लिए बने हैं। इस विषय में अनुभव के आधार पर कोई जाँच-पड़ताल नहीं की गई है। जहाँ तक आलेख (बोल कर लिखाने) का सवाल है, इसका प्रयोग विभिन्न कोटियों और भाव वृत्तियों के लेखकों ने किया है। मिल्टन 'पैराडाइज लास्ट' की पंक्तियों को पहले से ही मन में रच कर इन्हें एक लिपिकार को बोल कर लिखाते थे। इससे अधिक रोचक स्काट के और बुढ़ौती में गेटे के और हेनरी जेम्स के दृष्टान्त हैं, जिनमें यद्यपि वाक्य पहले से ही गढ़ लिये जाते थे पर क्रिया-पदों का निश्चय तत्काल करना पड़ता था। कम से कम जेम्स के मामले में आलेख और 'बाद के ढंग' से लिखी गई चीजों के बीच कुछ सांयोगिक सम्बन्ध मिल जाते हैं, जिनमें एक अनूठी जटिल मुखरता तो पाई जाती है, पर इसके बावजूद यह मौखिक और यहाँ तक कि बातचीत के लहजे में है।

स्वयं रचना प्रक्रिया के बारे में इतना अधिक कुछ नहीं कहा गया है जिसके आधार पर कोई ऐसा सामान्य नियम बनाया जा सके जो साहित्यिक सिद्धान्त के लिए लाभकर हो सके। हमें विशेष लेखकों के व्यक्तिगत वृत्त मिलते हैं; लेकिन ये हर हालत में पिछले कुछ ही समय के लेखकों के हैं, और वह भी केवल उन लेखकों के जो अपनी कला के विषय में सोचते और विश्लेषण करते रहते हैं (गेटे और शिलर, फ्लाबेयर, जेम्स, ईलियट और वेलरी जैसे लेखक); और इसके अलावा मनोवैज्ञानिकों द्वारा निकाले गये सामान्य नियम मिलते हैं जिनका सम्बन्ध मौलिकता, आविष्कार, कल्पना आदि से है और जिनमें वैज्ञानिक, दार्शनिक और कलात्मक सृजन को एक ही नाम दिया गया है।

सृजन की प्रक्रिया का आधुनिक दृष्टि से कोई विवेचन किया जाये तो इसका सम्बन्ध मुख्यतः इस बात से होगा कि इसमें चेतन और अचेतन दोनों की सापेक्ष भूमिका क्या होती है। इस दृष्टि से साहित्यिक कालों की तुलना करना, स्वच्छन्दतावादी और अभिव्यंजनावादी कालों को, जिनमें अचेतन के

महत्व को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया जाता है, क्लासिकी और यथार्थवादी कालों से अलग करना बहुत आसान रहेगा जिनमें बुद्धि, संशोधन और सम्प्रेषण पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। लेकिन जाहिर है कि इस तरह की तुलना में दोनों पक्षों को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। शास्त्रवाद (क्लासिसिज्म) और स्वच्छन्दतावाद के आलोचनात्मक सिद्धान्तों में इन दोनों वादों के उत्कृष्ट लेखकों के सृजनात्मक अन्तर की अपेक्षा बहुत उग्र अन्तर पाया जाता है।

जो लेखक अपनी कला के विषय में सर्वाधिक चर्चा करते हैं वे स्वभावतः ही अपनी चेतन और तकनीकी कार्यविधि की चर्चा करते हैं, क्योंकि यही वह चीज है जिसके श्रेय का वे दावा कर सकते हैं, न कि 'अनायास उपलब्ध', वरण से मुक्त अनुभव के लिए जो उनका विषय या दर्पण या प्रिज्म होता है। इस बात के स्पष्ट कारण हैं कि क्यों आत्मसजग कलाकार अपनी कला के विषय में इस तरह बात करते हैं मानो उनकी कला निर्वैयक्तिक हो, मानो वे अपने विषयों का चुनाव या तो संपादकों जैसी बाध्यता से करते हैं या एक अहैतुक सौन्दर्यशास्त्रीय समस्या के रूप में। इस विषय पर सबसे प्रसिद्ध दस्तावेज पो का 'फिलासफी आफ कम्पोजीशन' (साहित्य रचना का दर्शन) है जिसमें इस बात का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया गया है कि किन पद्धतियों और युक्तियों के सहारे, आरंभ से किन सौन्दर्यशास्त्रीय सूत्रों को लेकर उसने 'रैवेन' (कौए) की रचना की थी। अपने पर लगाये गये इस आरोप से अपने अहंकार की रक्षा करने के लिए कि उसकी आतंक उत्पन्न करने वाली कहानियाँ साहित्यिक अनुकरण थीं, पो ने लिखा कि उसका आतंक जर्मनी का आतंक नहीं है बल्कि आत्मा का है; इसके बावजूद वह यह स्वीकार नहीं कर सका कि यह उसकी अपनी आत्मा का आतंक है। उसने यह दावा किया कि वह एक साहित्यिक इंजीनियर है जो दूसरे लोगों की आत्माओं की थाह का पता लेने में सिद्ध है। पो के अचेतन में, जो उसे मूर्च्छा, उत्पीड़न और मृत्यु के दुर्भाग्यपूर्ण विषय देता है, और चेतन में जो इन्हें साहित्यिक रूप में विकसित करता है, एक भयानक अलगाव पाया जाता है।

यदि हम साहित्यिक प्रवीणता का पता लगाने के लिए परीक्षण करें तो यह निश्चित रूप से दो तरह का होगा : एक उन लोगों के लिए जो आधुनिक अर्थ में कवि समझे जाते हैं और इनके परीक्षण का सम्बन्ध शब्दों और उनके संयोजन से, बिंब और रूपक से, अर्थ-वैज्ञानिक और ध्वनि-शास्त्रीय सम्बन्ध-

सूत्रों (अर्थात् तुक, अनुप्रास और यमक) से होगा; दूसरा परीक्षण कथा लेखकों (उपन्यासकारों और नाटककारों) के बारे में होगा, जिसका सम्बन्ध चरित्र-चित्रण और कथानक से होगा।

साहित्यकार संयोजन (प्रत्युत्पन्नता), विच्छेदन (निर्णय) और पुनः-संयोजन (अलग-अलग अनुभव किये गये खंडों को जोड़कर एक नया आकार गढ़ने) में सिद्धहस्त होता है। शब्दों का प्रयोग वह माध्यम के रूप में करता है। जैसे दूसरे बच्चे खिलौने, डाक-टिकट या दूसरी प्रिय वस्तुएँ जुटाते हैं वैसे ही एक लड़के की तरह वह शब्दों का संग्रह कर सकता है। कवि के लिए शब्द मूलतः एक 'चिह्न' नहीं होता, एक पारदर्शी दीवार नहीं होता, बल्कि एक प्रतीक होता है, वह जिस चीज का वाचक होता है उसकी दृष्टि से तो मूल्यवान् होता ही है, साथ ही अपने आप में भी मूल्यवान् होता है; यहाँ तक कि यह एक 'पदार्थ' या 'वस्तु' भी हो सकता है जो अपनी ध्वनि या रूप के कारण प्रिय हो। कुछ उपन्यासकार शब्दों का प्रयोग चिह्नों के रूप में करते हैं (जैसे स्काट, कूपर, ड्राएजर) और ऐसी स्थिति में दूसरी भाषाओं में अनूदित होने पर भी इनको पढ़ने समय कोई असुविधा नहीं होती, या इन्हें एक पुराण-कथा के रूप में याद किया जा सकता है; कवि सामान्यतः शब्दों का प्रयोग 'प्रतीकात्मक' रूप में करते हैं।

परम्परागत प्रयोग 'विचारों का साहचर्य' एक गलत नाम है। एक शब्द और दूसरे शब्द के बीच साहचर्यात्मक सम्बन्ध से भी परे (जो कुछ कवियों में बहुत स्पष्ट देखने में आता है) उन पदार्थों का साहचर्य भी होता है जिनकी ओर हमारे 'विचार' संकेत करते हैं। इस तरह के साहचर्य की मुख्य श्रेणियाँ देश-काल की निकटता, और समानता और असमानता है। उपन्यासकार संभवतः मुख्य रूप से पहली श्रेणी के भीतर अपना कार्यव्यापार करता है; कवि दूसरी श्रेणी में (जिसे हम रूपक की कक्षा में रख सकते हैं); परन्तु खास तौर से पिछले कुछ समय के साहित्य में इन दोनों के बीच बहुत अधिक विरोध नहीं पाया जा सकता।

लोवेज ने अपनी पुस्तक रोड टु जैनेडु में गुप्तचरों जैसी विचक्षणता से साहचर्य की उस प्रक्रिया का पुनर्निर्माण किया है और यह दिखाया है कि कोल-रिज, जिसका अध्ययन बहुत व्यापक था और जो बहुत रुचि से पुस्तकें पढ़ा करता था, एक उद्धरण या सन्दर्भ से दूसरे उद्धरण या सन्दर्भ की ओर किस तरह बढ़ता चलता था। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है उसकी सन्तुष्टि बहुत

आसानी से हो जाती है, कुछ थोड़े से बिल्कुल प्रसंग से कटे हुए शब्दों के आधार पर ही वह सृजन प्रक्रिया का वर्णन कर जाता है। वह कहता है कि 'शृंखलित अणु' (हेनरी जेम्स के प्रयोग में) या बिम्ब और विचार, टूट कर 'अवचेतन की मानसिक क्रिया के गहरे कुएँ में जा गिरते हैं' और फिर वे जब ऊपर आते हैं तो उनका रूप पहले से बदला हुआ होता है। जब कोलरिज का गहन अध्ययन फिर प्रकट होता है तो कभी तो हम उसमें 'नक्काशी' या 'पच्चीकारी' का काम पाते हैं और कभी एक 'अजूबा' सा दिखाई देता है। लोवेज औपचारिक लहजे में स्वीकार करते हैं कि "अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच कर सृजनात्मक ऊर्जा चेतन और अवचेतन दोनों बनी रहती है... वह चेतन रूप में उन बिम्बों की भीड़ को नियंत्रित करता है जो अवचेतन के महाकुण्ड में पहुँच कर अवचेतन ढंग से रूपान्तरित हो चुके हैं" लेकिन वह सृजन की प्रक्रिया में आने वाले वस्तुतः सोद्देश्य और रचनात्मक तत्वों की ओर ध्यान नहीं देते या उनकी व्याख्या करने का प्रयास नहीं करते।

वर्णनात्मक लेखक में हम उसके चरित्रों की सर्जना या कहानी की उद्भावना की बात सोचते हैं। रोमाण्टिक काल से ही, इन दोनों को बहुत हल्के रूप में लिया गया है और इन्हें या तो 'मौलिक' या वास्तविक लोगों की नकल (यह दृष्टिकोण प्राचीन साहित्य में भी देखने में आता है) या अन्य लेखकों का अनुकरण मान लिया जाता रहा है। इसके बावजूद, डिकेन्स जैसे नितान्त 'मौलिक' समझे जाने वाले उपन्यासकारों के चरित्रों के टाइप और कथा कहने की शैलियाँ मुख्यतः परम्परागत है, जिन्हें व्यावसायिक या संस्थाबद्ध साहित्य परम्परा से लिया गया है।

चरित्रों की सृष्टि को पहले से मौजूद साहित्यिक टाइपों, देखे-परखे लोगों, और खुद अपने आप का एक मिला-जुला रूप माना जा सकता है। हम कह सकते हैं कि यथार्थवादी मुख्यतः दूसरे लोगों के आचरण का सूक्ष्मता से अध्ययन करता है या उनके मनोभावों को पढ़ता है, जबकि रोमाण्टिक लेखक उसमें अपनी भावनाओं को आरोपित कर देता है; लेकिन इसके बावजूद हम इस विषय में आशंका कर सकते हैं कि क्या सजीव चरित्रचित्रण के लिए मात्र आचरण का सूक्ष्मता से अध्ययन करना ही पर्याप्त हो सकता है। एक मनोवैज्ञानिक का कहना है कि फास्ट, मेफिस्टोफिलीज, वर्थर और विल्हेम माएस्टर, ये सभी गेटे के अपने ही स्वभाव के अलग-अलग पहलुओं के आरोपित रूप हैं। उपन्यासकार के अपने 'स्व' के जितने संभावित रूप हो सकते है,

जिनमें वे भी शामिल हैं जिन्हें बुरा समझा जाता है, उसके अपने संभावित **मुखौटे** हैं। 'एक व्यक्ति की मनःस्थिति दूसरे व्यक्ति का चरित्र हुआ करता है।' दोस्तोएव्स्की के चारों कारामज़ोव भाई उसी के चार पहलू हैं। हमें यह भी नहीं समझना चाहिए कि उपन्यासकार अपनी नायिकाओं के मामले में अनिवार्य रूप से उनके पर्यवेक्षण तक ही सीमित रहता है। फ्लावेयर का कहना है, '**मदाम बोवेरी** मैं स्वयं ही हूँ।' यदि अपने स्व के विविध रूपों को भीतर से देख कर उनकी पूरी संभाव्यता को पहचाना जा सके तो ही वे 'सजीव' चरित्र बन सकते हैं, और ऐसी स्थिति में वे 'सतही' न होकर 'मुथरे' बन पड़ेंगे।

इन 'सजीव चरित्रों' का उपन्यासकार के वास्तविक स्व से किस तरह का सम्बन्ध होता है? ऐसा प्रतीत होगा कि उपन्यासकार के चरित्र जितने ही विविध प्रकार के होंगे और उनकी संख्या जितनी ही अधिक होगी, उसका व्यक्तित्व उतना ही अनिश्चित होगा। शेक्सपियर अपने नाटकों में तिरोहित हो जाते हैं; न इनमें न ही किसी उपाख्यान में ही हमें उतना मुथरा और अपने ढंग का निराला व्यक्तित्व मिलता है जो बेन जान्सन में देखने में आता है। कीट्स ने एक स्थान पर लिखा है कि कवि का चरित्र यह है कि उसका अपना कोई आपा रहे ही नहीं: "वह सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं होता है।....वह इयागो की कल्पना करते हुए भी उतना ही हर्षित होता है जितना किसी इमोगेन की कल्पना करते समय।...दुनिया में कवि से अधिक अकाव्यात्मक कोई चीज हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसका अपना कोई 'स्वरूप' नहीं होता--वह निरन्तर किसी अन्य को भरता-पूरता रहता है।"

अभी तक हम जिन सिद्धान्तों की चर्चा कर आये हैं वे सभी वस्तुतः लेखकों के मनोविज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। उसकी सृजन की प्रक्रियायें मनोवैज्ञानिकों की जिज्ञासा का विषय बनती हैं तो यह उचित ही है। वे कवियों का वर्गीकरण शारीरिक और मनोवैज्ञानिक टाइपों के अनुसार कर सकते हैं; वे उनकी मानसिक बुराइयों का वर्णन कर सकते हैं; यहाँ तक कि वे उनके अवचेतन मन की भी छान-बीन कर सकते हैं। मनोवैज्ञानिक अपने प्रमाण असाहित्यिक दस्तावेजों में पा सकता है या ये उसे स्वयं कृतियों में मिल सकते हैं। बाद की स्थिति में इनका अर्थ पूरी सावधानी से लगाने के लिए इन्हें दस्तावेजों में मिले प्रमाणों के आधार पर जाँचना होगा।

क्या इसी तरह मनोविज्ञान का उपयोग स्वयं साहित्यिक कृतियों का अर्थ और मूल्यांकन करने के लिए किया जा सकता है? इतना तो स्पष्ट ही है कि मनोविज्ञान सृजन की प्रक्रिया पर आलोक डाल सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, साहित्य रचना की विविध पद्धतियों, लेखकों के लिखने और संशोधन करने तथा दुबारा मजमून तैयार करने की ओर लोगों का ध्यान गया है। कृतियों की जनन प्रक्रिया (आरंभिक अवस्थाएँ, मसविदों, छाँटी गई सामग्रियों) का भी अध्ययन किया गया है। इसके बावजूद, इन प्रमाणों में से अधिकांश के आलोचनात्मक औचित्य को, और खासतौर से लेखकों की आदतों से लगी-जुड़ी अनेक कथाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर रखा गया है, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। संशोधनों, सुधारों और इसी तरह की दूसरी बातों के अध्ययन में बहुत कुछ ऐसा होता है जो साहित्यिक दृष्टि से लाभप्रद हो सकता है, क्योंकि यदि इनका अच्छी तरह प्रयोग किया जाये तो हमें आलोचनात्मक दृष्टि से किसी कृति की सार्थक दरारों, असंगतियों, मोड़ों और तोड़-मरोड़ का दर्शन हो सकता है। फ्यूलेरा ने इस तथ्य का विश्लेषण करके कि प्रूस्त ने अपने उपन्यास को, जिसमें समय के चक्र को वह आगे और पीछे मनचाहे ढंग से मोड़ लेते हैं (स्मृति प्रवाह शैली) किस तरह रचा, बाद के खण्डों पर प्रकाश डाला और इसके आधार पर हम इनके पाठ में अनेक पर्तों को अलग करने में समर्थ हुए हैं। पाठान्तरों के अध्ययन से लगता है कि हम लेखक के कारखाने की कुछ झलकें पा सकते हैं।

परन्तु इसके बावजूद, यदि हम अलग-अलग मसौदों, त्यक्त और छाँटे गये अंशों और काट-कूट को अधिक सुस्थिर मन से देखें तो अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मँजी हुई कृति को समझने और उसका मूल्यांकन करने के लिए ये आवश्यक नहीं हैं। इनमें एक अवान्तर संभावना के रूप में ही रुचि ली जा सकती है, अर्थात् इनके कारण अन्तिम कृति की विशेषताएँ निखर कर सामने आ जाती हैं। लेकिन यदि हम इन विकल्पों को अपने मन से सोचें, चाहे ये विकल्प लेखक के मन में आये हों या नहीं, तो भी हम उसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं।

अब रह गया स्वयं कृतियों में पाये जाने वाले 'मनोविज्ञान' का प्रश्न। हम नाटकों या उपन्यासों के चरित्रों को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सच्चा मान कर चलते हैं। सिर्फ इन्हीं विशेषताओं के कारण परिस्थितियों की सराहना की जाती है और कथानक स्वीकार किये जाते हैं। कभी-कभी कोई मनोवैज्ञानिक

सिद्धान्त, जिसे लेखक ने जान बूझकर अपनाया हो, या अनजाने, किसी चरित्र या परिस्थिति में फिट बैठता मालूम होता है। इस तरह लिली कैम्पवेल ने यह तर्क किया है कि हैम्लेट कुछ उस टाइप का आदमी है जिसे ऐलिज़बेथ कालीन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार 'विषादमय पित्तरोगी' की कोटि में फिट कर सकते हैं। इसी तरह, आस्कर कैम्पवेल ने यह दिखाने की कोशिश की है कि **ऐज यू लाइक इट** का जैको कफ-विकार से उत्पन्न अस्वाभाविक उदासी से ग्रस्त रोगी है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि वाल्टर शैण्डी अटपटी भाषा बोलने के रोग से आक्रान्त है जिसकी चर्चा लाक ने की है। स्तांदाल के नायक जूलियन सोरेल का विवेचन देस्त्यूत दि त्रासी के मनोविज्ञान के सन्दर्भ में किया गया है और प्रेम के विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों का वर्गीकरण स्तांदाल की पुस्तक **दे ल एमोर** के अनुसार किया गया है। रोडियन रास्कलनिकोव के इरादों और भावनाओं का विश्लेषण कुछ इस तरह किया गया है जिससे चिकित्सा-मनोविज्ञान की जानकारी की झलक मिलती है। प्रूस्त का स्मृति विषयक एक पूरा मनोविज्ञान था इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है, जो उसकी कृतियों के कठिन तर्क के लिए महत्त्वपूर्ण है। फ्रायड के मनोविज्ञान का तो कानराड एकेन या वाल्डो फ्रैंक जैसे उपन्यासकारों ने जान-बूझकर प्रयोग किया है।

सवाल यह उठाया जा सकता है कि क्या लेखक को अपने चरित्रों में और उनके आपसी सम्बन्धों में मनोविज्ञान को उतारने में सफलता मिली है? यहाँ सिर्फ उसके ज्ञान या सिद्धान्तों का विवरण देने से काम नहीं चलेगा। ये साहित्य में पायी जाने वाली दूसरी जानकारियों की तरह 'सामग्री' या 'विषय' हो सकते हैं, जैसे नौचालन, ज्योतिष या इतिहास के बारे में तथ्य। कुछ मामलों में तो इस विषय में भी आशंका हो सकती है कि लेखकों का अपने समकालीन मनोविज्ञान से सम्बन्ध भी था या यदि था तो यह उसी सीमा तक था जितना आलोचकों ने दिखाया है। हैम्लेट और जैको को एलिज़बेथकालीन मनोविज्ञान के किसी ढर्रे में ढालने का प्रयास भ्रामक है क्योंकि एलिज़बेथकालीन मनोविज्ञान अन्तर्विरोधों से भरपूर और भ्रामक तथा ऊलजलूल था और हैम्लेट और जैको एक टाइप से कुछ अधिक नहीं हैं। हालाँकि रास्कलनिकोव और सोरेल कुछ मनोवैज्ञानिक साँचों में फिट बैठते हैं पर वे पूरी तरह फिट नहीं बैठते और इतना भी कहीं-कहीं ही फिट बैठते हैं। सोरेल कभी-कभी तो नितान्त नाटकीय ढंग से आचरण करता है। रास्कलनिकोव के आरंभिक अपराध के

लिए जो प्रेरक कारण दिखाया गया है वह बहुत अपर्याप्त है। ये पुस्तकें मुख्यतः मनोवैज्ञानिक अध्ययन या सिद्धान्तों का भाष्य रूप न होकर नाटक या मेलोड्रामा हैं जहाँ मनोवैज्ञानिक प्रेरणा की अपेक्षा मार्मिक परिस्थितियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यदि कोई 'चेतना प्रवाह' पर आधारित उपन्यासों की छान-बीन करे तो उसे बहुत जल्द यह पता चल जाएगा। इनमें व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया का 'यथातथ्य' प्रस्तुतीकरण नहीं हुआ है कि चेतना-प्रवाह मस्तिष्क को नाटकीय रूप में प्रस्तुत करने, इस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने की एक युक्ति है कि फाकनर के **द साउण्ड एण्ड फ्यूरी** का वज्रमूर्ख बेन्जी, या श्रीमती ब्रूम किस ढंग के जीव हैं। लेकिन इस युक्ति में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे वैज्ञानिक या 'यथार्थवादी' कहा जा सके।

यदि हम यह मान भी लें कि कोई लेखक अपने पात्रों से 'मनोवैज्ञानिक सत्य' के अनुरूप आचरण कराने में सफल हो जाता है, तो भी हम यह सवाल उठा सकते हैं कि क्या इस तरह का 'सत्य' एक कलात्मक मूल्य है। महान् साहित्य का अधिकांश भाग ऐसा है जो अपने समकालीन या उत्तरकालीन मनोवैज्ञानिक मानकों का उल्लंघन करता है। यह असंभावित परिस्थितियों और मनमौजी इरादों को लेकर काम करता है। सामाजिक यथार्थ की ही तरह मनोवैज्ञानिक सत्य एक प्रकृतिवादी मानक है जिसका कोई सार्वलौकिक औचित्य नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ मामलों में ऐसा लगता है कि मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि से कलागत मूल्य बढ़ जाता है। ऐसे मामलों में यह महत्त्वपूर्ण कलात्मक मूल्यों की पुष्टि करता है और ये कलात्मक मूल्य है जटिलता और संश्लिष्टता। लेकिन इस तरह की अन्तर्दृष्टि मनोविज्ञान से इतर माध्यमों से भी आ सकती है। मस्तिष्क और इसकी कार्यविधि के सचेतन और सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में मनोविज्ञान कला के लिए अनावश्यक है और अपने आप में यह कोई कलात्मक मूल्य नहीं रखता।

कुछ सजग कलाकारों के विषय में हो सकता है कि मनोविज्ञान से उनका यथार्थ का बोध अधिक पक्का हुआ हो, इससे उनके पर्यवेक्षण में पैनापन आया हो या इससे उन्हें ऐसे प्रतिरूपों की ओर बढ़ने में सहायता मिली हो जिधर आज तक किसी की निगाह न गई हो। लेकिन मनोविज्ञान अपने आप में सर्जना की पृष्ठभूमि मात्र है; और कलाकृति में मनोवैज्ञानिक सत्य कलागत मूल्य तभी बन सकता है जबकि यह संगति और जटिलता में वृद्धि करे—संक्षेप में कहें तो, यदि यह कला बन कर आये।

नौ

साहित्य और समाज

साहित्य एक सामाजिक संस्था है। इसका माध्यम है भाषा, जो एक सामाजिक सर्जना है। प्रतीक-विधान और छन्द-विधान आदि की परम्परागत साहित्यिक युक्तियों की प्रकृति ही सामाजिक है। ये ऐसी रूढ़ियां और आदर्श हैं जिनका विकास केवल समाज में ही हो सकता था। इसके अलावा साहित्य 'जीवन' को प्रतिबिम्बित करना है; और हालाँकि प्राकृतिक जगत् और व्यक्ति के आन्तरिक या आत्मपरक जगत् का भी साहित्यिक 'अनुकरण' होता आया है, पर जीवन काफी अंशों में सामाजिक होता है। स्वयं कवि भी समाज का एक सदस्य होता है, उसकी एक खास सामाजिक हैसियत होती है: उसे कुछ सामाजिक प्रतिष्ठा और पुरस्कार भी मिलता है; वह अपनी बात एक पाठक वर्ग को संबोधित करके कहता है, चाहे यह पाठक वर्ग कितना ही खयाली क्यों न हो। सचाई तो यह है कि प्रायः साहित्य का जन्म कुछ विशेष सामाजिक संस्थाओं के निकट सम्पर्क में हुआ है; और आदिम जन-समुदायों में तो कविता को अनुष्ठान, जादू, काम या क्रीड़ा से अलग कर पाना भी असंभव हो सकता है। साहित्य का एक सामाजिक प्रयोजन या उपयोग भी होता है, जिसे विशुद्ध रूप से वैयक्तिक नहीं माना जा सकता। अतः साहित्यिक अध्ययन के प्रसंग में जो प्रश्न खड़े होते हैं वे कम से कम अपनी अन्तिम परिणति में या अपने अभिप्राय की दृष्टि से सामाजिक प्रश्न होते हैं: परम्परा और रूढ़ि के प्रश्न, आदर्श और प्रकार भेद के प्रश्न, प्रतीकों और पुराणकथाओं के प्रश्न। हम टोमर के शब्दों में कह सकते हैं:

"सौन्दर्य से सम्बन्धित संस्थायें सामाजिक संस्थाओं पर आधारित नहीं होतीं। वे सामाजिक संस्थाओं का अंग भी नहीं हैं। वे एक तरह की

सामाजिक संस्थाएँ हैं और दूसरी सामाजिक संस्थाओं से उनका गहरा लगाव है।"

परन्तु सामान्यतः 'समाज और काव्य' के विषय में जो जिज्ञासा की जाती है उसे बहुत संकीर्ण और सतही बना कर पेश किया जाता है। यह सवाल पूछा जाता है कि साहित्य का किसी विशेष सामाजिक स्थिति से, किसी आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रणाली से क्या सम्बन्ध है। साहित्य पर समाज के प्रभाव की कैफियत देने और इसकी परिभाषा करने के प्रयास किये जाते हैं और समाज में साहित्य की स्थिति निर्धारित करने और विचारने के प्रयत्न होते हैं। साहित्य को समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने-परखने का प्रयत्न खास-तौर से वे लोग करते हैं जो एक विशेष सामाजिक दर्शन की हिमायत करते हैं। मार्क्सवादी आलोचक न केवल साहित्य और समाज के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं अपितु इस विषय में भी उनकी स्पष्ट धारणा होती है कि ये सम्बन्ध कैसे हों, और ऐसा वे वर्तमान समाज के विषय में तो करते ही हैं, भावी 'वर्गहीन' समाज के विषय में भी करते हैं। वे मूल्यवादी, निर्णयात्मक आलोचना करते हैं जो साहित्य बाह्य राजनैतिक और नीतिशास्त्रीय मानकों पर आधारित होती है। वे हमें सिर्फ इतना ही बता कर संतोष नहीं कर लेते कि किसी लेखक की कृति के सामाजिक सम्बन्ध और आशय क्या हैं बल्कि यह भी बताते हैं कि उन्हें क्या होना चाहिए था या क्या होना उचित है। वे केवल साहित्य और समाज के अध्येता ही नहीं हैं अपितु इसके भविष्यज्ञ, मानीटर और प्रचारक भी हैं; और इन दोनों कार्यों को एक दूसरे से पृथक् रखने में उन्हें कठिनाई होती है।

साहित्य और समाज के आपसी सम्बन्धों की चर्चा डी बोनाल्ड के एक वाक्य से शुरू की जाती है कि 'साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है'। लेकिन इस सूक्ति का अर्थ क्या है? यदि इसका यह अर्थ लगाया जाये कि साहित्य में समकालीन सामाजिक स्थिति की 'यथातथ्य' झलक होती है, तो यह गलत है। यदि इसका अर्थ यह है कि साहित्य सामाजिक यथार्थ के कुछ पहलुओं का चित्रण करता है तो यह एक मोटी, पिटी पिटाई और अस्पष्ट बात हुई। यह कहना कि साहित्य जीवन को प्रतिबिम्बित और अभिव्यक्त करता है, और भी अस्पष्ट है। कोई भी लेखक अनिवार्य रूप से अपने अनुभव और जीवन की समग्र अवधारणा को अभिव्यक्त करता है; लेकिन यह कहना जाहिरा तौर पर गलत होगा कि वह पूरे जीवन को--या किसी एक समय

के समग्र जीवन को--पूरी तरह और अविकल रूप में अभिव्यक्त करता है। यह कहना कि लेखक को अपने समय के जीवन की भरपूर अभिव्यक्ति करनी चाहिए, कि उसे अपने युग और समाज का 'प्रतिनिधि' होना चाहिए एक विशिष्ट मूल्यपरक मानदण्ड है। इसके अतिरिक्त 'भरपूर' और 'प्रतिनिधि' शब्दों का पूरा विवेचन जरूरी है। अधिकांश सामाजिक आलोचनाओं में ऐसा लगता है कि इसका यह अर्थ लगाया जाता है कि लेखक को विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों अर्थात् सर्वहारा की दुर्गति के प्रति सचेत रहना चाहिए, या यहाँ तक कि उसकी प्रवृत्ति और सिद्धान्त भी वही होना चाहिए जो आलोचक का है।

हेगेल और टेन की आलोचना में सामाजिक या ऐतिहासिक महानता को कलात्मक महानता की समकक्षता में ला रखा गया है। कलाकार सत्य का वाहक होता है और अनिवार्य रूप से ऐतिहासिक और सामाजिक सत्यों का भी वाहक होता है। कलाकृतियाँ दस्तावेज का काम करती हैं, क्योंकि वे अपने आप में स्मारक हुआ करती हैं'। प्रतिभा और युग में तालमेल तो होता ही है। 'प्रतिनिधित्व' और 'सामाजिक सत्य' दोनों की व्याख्या करें तो पता चलेगा कि ये कलामूल्यों का कारण और परिणाम दोनों ही हुआ करते हैं। साधारण और औसत दर्जे की कलाकृतियाँ किसी आधुनिक समाजशास्त्री को उम्दा सामाजिक दस्तावेज मालूम हो सकती हैं, पर टेन की नजर में वे अभिव्यंजनारहित हैं और इसलिए वे अपने युग और जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। सच कहें तो साहित्य सामाजिक प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब नहीं है अपितु समग्र इतिहास का सार, सत्व और निचोड़ है।

लेकिन उत्तम यह होगा कि हम तब तक के लिए मूल्यपरक आलोचना की समस्या को स्थगित रखें जब तक कि हम साहित्य और समाज के बीच के वास्तविक सम्बन्धों को एक दूसरे से अलग नहीं कर लेते। इन विवरणात्मक (आदर्शमूलक से पृथक्) सम्बन्धों का स्पष्ट वर्गीकरण किया जा सकता है।

सबसे पहले, साहित्य के लेखक, पेशे और संस्थाओं के समाजशास्त्र का, साहित्यिक कृतित्व के समग्र आर्थिक आधार का, लेखक की सामाजिक हैसियत और दायरे का, उसके उन सामाजिक सिद्धान्तों का प्रश्न आता है जिनकी अभिव्यक्ति साहित्य-बाह्य घोषणाओं और कार्यों में हो सकती है। इसके बाद स्वयं साहित्यिक कृतियों की सामाजिक वस्तु, फलितार्थों और प्रयोजन की समस्या आती है। अन्ततः श्रोता की और साहित्य के वास्तविक सामाजिक

प्रभाव की समस्यायें आती हैं। यह प्रश्न ऐसा है जो किसी न किसी रूप में हमारी समस्या के इन तीनों भेदों—लेखक का समाज-विज्ञान, कृतियों की सामाजिक विषयवस्तु और समाज पर लेखक का प्रभाव—में प्रवेश कर जाता है, कि साहित्य किस सीमा तक सामाजिक अवस्था, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक विकास से निश्चित होता है या इनके ऊपर निर्भर करता है। हमें निर्भरता या कारण-कार्य संबंध का अर्थ निश्चित करना होगा; और अन्ततः हम साहित्य के एकीकरण की समस्या पर और विशेषतः इस समस्या पर आयेंगे कि हमारी अपनी संस्कृति किस रूप में एकीकृत होती है।

चूंकि हर लेखक समाज का एक सदस्य होता है अतः उसका अध्ययन एक सामाजिक प्राणी के रूप में किया जा सकता है। हालाँकि इसका मुख्य स्रोत उसकी अपनी जीवनी ही है, पर इस तरह का अध्ययन फैल कर उस पूरे जन समुदाय तक पहुँच सकता है जिसमें वह पैदा हुआ और जीवित रहा था। उसके सामाजिक दायरे, पारिवारिक पृष्ठभूमि और आर्थिक अवस्था के विषय में सूचनाओं का संग्रह करना संभव हो सकता है। हम यह दिखा सकते हैं कि साहित्य के इतिहास में अभिजात, बुर्जुआ और सर्वहारा वर्गों के लोगों ने ठीक कितना योगदान किया है। उदाहरण के लिए, हम यह दिखा सकते हैं कि अमेरिकी साहित्य के निर्माण में व्यावसायिक और वाणिज्यिक वर्गों से आये हुए बच्चे कितनी असाधारण भूमिका प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक यूरोप में यह तथ्य आँकड़ों से सिद्ध किया जा सकता है कि यहाँ के अधिकांश साहित्यजीवी मध्य वर्ग से आये थे क्योंकि अभिजात वर्ग या तो अपनी शानो-शौकत में व्यस्त था या आरामतलबी की जिन्दगी बसर कर रहा था और निम्न वर्ग को शिक्षा का अवसर ही नहीं मिल पाता था। इँगलैंड में इस नियम को काफी अपवादों के साथ ही लागू किया जा सकता है। प्राचीन अंग्रेजी साहित्य में छिट-फुट ऐसे साहित्यकार भी दिखाई दे जाते हैं जो किसानों और हुनरमन्द कामगरों के लड़के है। बर्न्स और कार्लाइल जैसे अपवादों का कुछ स्पष्टीकरण स्काटलैण्ड की लोकतांत्रिक शिक्षाप्रणाली के हवाले से दिया जा सकता है। अंग्रेजों के साहित्य में अभिजातवर्ग की भूमिका असाधारण रूप से अधिक थी—इसका कुछ कारण तो यह था कि यह वर्ग इस देश के विद्यावृत्ति वर्गों से कट कर बहुत अलग-थलग नहीं था। कुछ अन्य देशों में, जहाँ ज्येष्ठाधिकार नहीं था, अभिजात वर्ग और विद्यावृत्ति वर्ग में बड़ा अलगाव था। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़ कर गोनकारोव और चेखव के पहले के लगभग सभी आधुनिक रूसी

लेखक अभिजात वंशों के थे। यहाँ तक कि दोस्तोएव्स्की भी एक खास ढंग से एक कुलीन आदमी थे, हालाँकि उनके पिता, जो मास्को में गरीबों के एक अस्पताल में डाक्टर थे, अपने जीवन के अन्तिम भाग में ही भूमि और आसामी प्राप्त कर सके थे।

इस तरह के आँकड़े जुटा लेना तो आसान है पर उनकी व्याख्या करना कठिन है। क्या सामाजिक उद्भव स्थान के कारण ही सामाजिक सिद्धान्त या निष्ठा का विधान होता है? शैले, कार्लाइल और ताल्सताय अपने वर्ग के प्रति विद्रोह के खुले दृष्टान्त हैं। रूस के बाहर अधिकांश कम्यूनिस्ट लेखक सर्वहारा घरानों में पैदा नहीं हुए हैं। सोवियत और अन्य मार्क्सवादी आलोचकों ने रूसी लेखकों के उद्भव और सामाजिक निष्ठा का बिल्कुल ठीक-ठीक निश्चय करने के लिए बहुत व्यापक छानबीन की है। इस तरह पी० एन० साकुलिन ने किसानों, छोटे बुर्जुआ, लोकतांत्रिक बुद्धिजीवी वर्ग, वर्ग बाह्य बुद्धि जीवी वर्ग, अभिजात वर्ग और क्रान्तिकारी सर्वहारा के बीच साहित्य का सापेक्ष भेद बहुत सावधानी से करते हुए हाल के रूसी साहित्य का विवेचन किया है। अपेक्षाकृत प्राचीन साहित्य के अध्ययन में रूसी विद्वानों ने रूसी अभिजात वर्ग के भेदों और उपभेदों के बीच सविस्तार भेद किये हैं, जिनमें से पुश्किन और गोगोल, तुर्गनेव और ताल्सताय को इस वर्ग में उत्तराधिकार में मिली संपत्ति और बचपन के सहवास के आधार पर दिखाया जा सकता है। लेकिन यह सिद्ध करना कठिन है कि पुश्किन ने भूमिधारी कुलीन तबके के हितों को और गोगोल ने उकरेन के छोटे जमींदारों के हितों को आधार बना कर साहित्य-रचना आरंभ की थी। इस तरह का निष्कर्ष उनकी कृतियों की सामान्य विचारधारा से और किसी समूह, वर्ग या समय के परे उनकी कृतियों का जो प्रभाव पड़ा है, उसी से खण्डित हो जाता है।

लेखक की सामाजिक हैसियत, निष्ठा और विचारधारा से उठने वाले प्रश्नों में लेखक का सामाजिक उद्भव बहुत नगण्य भूमिका प्रस्तुत करता है क्योंकि इतना तो स्पष्ट ही है कि लेखक प्रायः अपने को एक दूसरे ही वर्ग की सेवा में लगाता है। अधिकांश दरबारी साहित्य उन लोगों ने लिखा था जिन्होंने निम्न हैसियत के परिवारों में जन्म लेने के बावजूद अपने आश्रयदाताओं की रुचि और विचारधारा अपना ली थी।

किसी लेखक की सामाजिक निष्ठा, भावना और विचारधारा का अध्ययन केवल उसकी रचनाओं में ही नहीं किया जा सकता, अपितु इसका अध्ययन

प्रायः उसके जीवनीपरक, गैर-साहित्यिक दस्तावेजों में भी किया जा सकता है। लेखक एक नागरिक भी रहा है, उसने सामाजिक और राजनैतिक महत्त्व के प्रश्नों पर अपना मत व्यक्त किया है, अपने समय के मसलों में भाग लिया है।

व्यक्तिगत लेखकों के राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोणों को लेकर बहुत सारा काम किया गया है; और पिछले कुछ वर्षों में इस ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया है कि इन दृष्टिकोणों मे क्या आर्थिक आशय निकलते हैं। इस तरह सी० एल० नाइट्स ने यह तर्क देते हुए कि बेनजान्सन का आर्थिक दृष्टिकोण गहन रूप से मध्ययुगीन था, यह दिखाया कि अपने समय के नाट्यकारों की तरह उसने भी सूदखोरों, आढ़तियों, सट्टेबाजों और 'उद्योगपतियों' पर व्यंग्य बाण बरसाये हैं। साहित्य की अनेक कृतियों—जैसे शेक्सपियर के 'इतिहास' और स्विफ्ट के **गुलिवर ट्रेवेल्स**—को उनके समय के राजनैतिक माहौल के बहुत निकट मान कर नया अर्थ दिया गया है। लेखक की घोषणाओं, निर्णयों और कार्यों को ही उसकी रचनाओं का वास्तविक सामाजिक आशय समझ लेने की भूल कदापि नहीं करन चाहिए। इन दोनों में फर्क हो सकता है। बाल्ज़ाक इस संभावित अलगाव के सबसे निराले उदाहरण है। हालांकि उनकी सहानुभूति पुरानी व्यवस्था, अभिजात वर्ग और चर्च के साथ मानी गई है पर उनकी प्रवृत्ति और कल्पना इनकी अपेक्षा अधिक संग्रही, सट्टेबाज और बुर्ज़ुआ वर्ग के नये सशक्त इन्सान की ओर झुकी हुई थी। सिद्धान्त और व्यवहार में, विश्वास और सृजनात्मक योग्यता में अपार भेद पाया जा सकता है।

यदि सामाजिक उद्भव, निष्ठा और विचारधारा की इन समस्याओं को एक प्रणाली का रूप दिया जाये तो इससे एक ऐसा समाज-विज्ञान सामने आयेगा जिसमें लेखक एक टाइप या विशेष देश और काल के टाइप का रूप ले लेगा। हम लोग लेखकों के बीच इस आधार पर भेद कर सकते हैं कि वे अपनी सामाजिक रीति-नीति से कितने एकाकार हैं। लोक साहित्य में वे सामाजिक रीति-नीति से बहुत निकट पाये जाते हैं, पर आज के खानाबदोश समाज में यह अलगाव या 'सामाजिक दूरी' की पराकाष्ठा पर पहुँच सकता है। कुल मिला कर देखें तो ऐसा लगता है कि पश्चिम में साहित्यकारों ने अपने सामाजिक वर्ग से अपना रिश्ता काट लिया है। वहाँ एक नये बुद्धिजीवी वर्ग की उत्पत्ति हुई है जो दूसरे वर्गों का बिचवई पेशेवर वर्ग है और दूसरे वर्गों की तुलना में अधिक स्वतंत्र है। साहित्यिक समाज-विज्ञान का काम है कि वह यह

पता लगाये कि इस वर्ग की सामाजिक हैसियत क्या है, कि यह शासक वर्ग से किस सीमा तक स्वतंत्र है, इसके गुजर-बसर का बिल्कुल ठीक स्रोत क्या है, और हर समाज में लेखक की प्रतिष्ठा क्या है।

इस इतिहास की सामान्य रूपरेखा अब तक बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी है। लोकप्रिय मौखिक साहित्य में हम गायक या कहानी कहनेवालों के कार्यभाग का अध्ययन कर सकते हैं जो अपने श्रोता समुदाय पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं। इनमें प्राचीन यूनान के चारण, प्राचीन ट्यूटानी **स्काप** पूर्वी देशो और रूस के किस्सागो आते हैं। प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में त्रासदी लेखक और पिण्डार जैसे मद्य देव की उपासना में गीत और स्तोत्र लिखने वाले एक विशेष अर्द्ध-धार्मिक स्थान रखते थे, और जैसा कि हम यूरिपिडीज की तुलना एस्केलीज के साथ करके देख सकते हैं, यह स्थिति धीरे-धीरे धर्म-निरपेक्ष होती गई। रोमन साम्राज्य के दरबारों में हमें यह सोचना होगा कि वर्जिल, होरेस और ओविड सीज़र और मिसीन्स की उदारता और सद्भाव के आश्रित थे।

मध्यकाल आने पर हम पाते हैं कि संन्यासी लोग अपनी एकान्त कोठरियों में, चारण या भाट दरबारों या सामन्तों के महलों में विराजमान हैं और पण्डित लोग सड़कों पर मारे-मारे फिर रहे हैं। लेखक या तो क्लर्क या पण्डित बन कर रह गया है या वह गायक, रंजक या वन्दी बन गया है परन्तु बोहेमिया के वेन्सस्लास द्वितीय या स्काटलैण्ड के जेम्स प्रथम तक अब कवि बनने लगे हैं—हालाँकि इनकी कविता शौकिया और कालयापन का साधन रह गई है। जर्मनी में कवि अपना संघ कायम कर लेते हैं, वे कविता का अभ्यास एक शिल्प के रूप में करने लगते हैं। पुनर्जागरण काल के साथ लेखकों का एक ऐसा दल सामने आया जिसके सदस्य आपस में एक दूसरे से लगाव नहीं रखते थे। इन्हें मानवतावादी लेखक कहा जाता था और ये कभी कभी अपने आश्रयदाताओं की तलाश में देश-देशान्तर का भ्रमण करते थे पेट्रार्क आधुनिक युग के पहले राजकवि हैं, जिनके मन में अपने पुनीत कार्य की एक गौरवपूर्ण धारणा थी, जब कि एरटीनो साहित्यिक पत्रकारों का पूर्व रूप है, जो धौंस की बदौलत जीविका कमाते हैं, और जिनका सम्मान नहीं किया जाता अपितु जिनसे लोग भय खाते हैं।

मोटे तौर पर कहें तो बाद का इतिहास कुलीन और अकुलीन आश्रय दाताओं की सहायता से प्रकाशकों के सहारे की ओर अपसरण है जो पाठक

के एजेण्ट के रूप में काम करते हैं। परन्तु अभिजात वर्ग के आश्रय की प्रथा सर्वव्यापी नहीं थी। चर्च ने और इसके कुछ ही बाद रंगमंच ने एक विशेष प्रकार के साहित्य को अवलम्बन देना शुरू किया। इँगलैंड में आश्रय की प्रथा अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में ही समाप्त होने लगी थी। कुछ समय तक साहित्य आर्थिक दृष्टि से बहुत बुरा पेशा रह गया था क्योंकि पुराने आश्रय-दाताओं के आश्रय से यह वंचित हो गया था और पाठक समुदाय मे इसे पूरा सहारा अभी मिल नहीं पा रहा था। इन परिवर्तनों की झलक ग्रब स्ट्रीट में डा० जान्सन के आरंभिक जीवन और लार्ड चेस्टरफील्ड को उनकी चुनौती में पाया जा सकता है। इसके बावजूद, इसमे एक ही पीढ़ी पहले पोप ने होमर की रचनाओं का अनुवाद करके बहुत सम्पत्ति जोड़ ली थी, जिसे कुलीन तबके के लोग और विश्वविद्यालयों के लोग मुँहमाँगे दाम पर खरीदते थे।

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में जब स्काट और बायरन ने लोकरुचि और लोक-मत पर बहुत गहरा प्रभाव डाला तभी जाकर लेखन आर्थिक दृष्टि से काफी लाभकर सिद्ध होने लगा। वाल्तेयर और गेटे ने यूरोप में लेखकों की स्वतंत्रता और सम्मान को बहुत अधिक बढ़ा दिया था। पाठक समुदाय की वृद्धि, **एडिनबर्ग** और **क्वार्टरली** जैसी समीक्षा पत्रिकाओं की स्थापना से साहित्य अधिकाधिक स्वतंत्र संस्था बनता गया। प्रास्पर डि बैरण्ट ने १८२२ में लिखते हुए यह दावा किया था कि साहित्य ने अठारहवीं शताब्दी में ही एक संस्था का रूप ले लिया था।

ऐश्ले थार्नडाइक ने बल देकर यह बात कही थी कि उन्नीसवीं शताब्दी में मुद्रित सामग्री को सबसे बड़ी विशेषता इसका जनसामान्य के स्तर पर आना या साधारणता नहीं है, बल्कि इसका विशेषीकरण है। अब यह मुद्रित सामग्री किसी एक या एकधर्मी जन-समुदाय को संबोधित करके नहीं लिखी गयी है : यह अनेक तरह के पाठक समुदायों में बँटी हुई है और इसलिए यह अनेक विषयों, रुचियों और प्रयोजनों में बँटी हुई है। श्रीमती क्यू० डी० लीविस ने **'फिक्शन एण्ड द रीडिंग पब्लिक'** में, जिसे थार्नडाइक की पुस्तकों पर एक प्रवचन माना जा सकता है, यह संकेत किया है कि अठारहवीं शताब्दी के जो किसान पढ़ना जानते थे उन्हें वे ही चीजें पढ़ने को मिलती थीं जिन्हें अभिजात और विश्वविद्यालयों के लोग पढ़ते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पाठकों को यदि पाठक न कह कर विविध पाठक वर्गों के नाम से पुकारा जाता है तो ऐसा करना बिल्कुल उचित ही है। हमारे अपने समय में आकर प्रकाशित पुस्तकों और पत्रिकाओं की संख्या और बढ़ गई। आज ९ से १० वर्ष की

उम्र तक के बालकों की पुस्तकें हैं, हाई स्कूल अवस्था के बालकों की पुस्तकें हैं, अध्ययन में ही रत रहने वाले लोगों की पुस्तकें हैं; व्यापारिक पत्रिकाएँ हैं, घरेलू पत्रिकाएँ हैं, रविवासरीय स्कूलों के साप्ताहिक हैं, सत्यकथाओं की पत्रिकाएँ हैं। आज प्रकाशक, पत्रिकाएँ और लेखक सबके अपने विशेष क्षेत्र हैं।

इस तरह साहित्य के आर्थिक आधार और लेखक की सामाजिक हैसियत का अध्ययन उस पाठक समुदाय के अध्ययन से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, जिसे ध्यान में रख कर वह लिखता है और जिस पर वह आर्थिक दृष्टि से निर्भर करता है। यहाँ तक कि अभिजात वर्ग भी एक पाठक वर्ग बन गया है, और प्रायः लेखक से बहुत कठिन माँग करता है जिसमें केवल व्यक्तिगत चाटुकारिता की अपेक्षा नहीं होती अपितु अपने वर्ग की रूढ़ियों की पुष्टि की भी अपेक्षा रहती है। यहाँ तक कि पुराने समाज में भी, जिसमें लोककाव्य का बोल-बाला था, अपने पाठकों और श्रोताओं पर लेखक को बहुत अधिक निर्भर करना पड़ता था। यदि उसकी रचना तत्काल तोष प्रदान नहीं करती तो वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक संप्रेषित नहीं हो सकती। कम से कम थियेटर में दर्शकों की भूमिका भी इतनी ही स्पष्ट थी। लोगों ने साउथ बैंक के खुले ग्लोब थियेटर के काल से, जिसमें हर तरह के दर्शक उपस्थित होते थे, ब्लैक फ्रायर्स के बन्द हाल के काल के बीच, जिसमें प्रायः उच्च श्रेणी के दर्शक आते थे, शेक्सपियर के नाटकों में आये परिवर्तनों का पता लगाने के भी प्रयत्न किये हैं। बाद में चलकर ज्यों-ज्यों पाठक वर्ग तेजी से फैलता, बिखरता और विविध प्रकार का होता जाता है और लेखक तथा पाठक के सम्बन्ध अधिक अपरोक्ष और तिरछे होते जाते हैं, लेखक और पाठकों के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन करना उतना ही कठिन होता जाता है। लेखक और पाठकों के बीच आने वाले मध्यस्थों की संख्या बढ़ती जाती है। हम सैलून, कहवाघर, गोष्ठी, अकादमी और विश्वविद्यालय जैसी संस्थाओं और संगठनों की भूमिका का भी अध्ययन कर सकते हैं। हम प्रकाशन-गृहों के साथ ही साथ पुस्तक समीक्षा और पत्रिकाओं के इतिहास का भी अध्ययन कर सकते हैं। आलोचक एक महत्त्वपूर्ण बिचवई बन जाता है। कलापारखी, पुस्तकप्रेमी, और संग्रहकर्त्ता एक विशेष तरह के साहित्य का समर्थन कर सकते हैं; और साहित्यकारों के संगठन स्वयं भी लेखकों या भावी लेखकों का एक विशेष पाठक वर्ग तैयार कर सकते हैं। अमेरिका में ऐसी महिलायें जो (वेबलन के कथनानुसार) व्यवसायियों के घरों की हैं और जिन्हें कलाओं के

लिए पूरी फुर्सत रहती है, साहित्यिक रुचि के निर्धारण में सक्रिय भाग लेने लगी हैं।

इसके बावजूद पुराने ढर्रे अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हो सके हैं। सभी आधुनिक सरकारें विभिन्न अनुपातों में साहित्य को आश्रय और पोषण देती हैं; और आश्रय का अर्थ निश्चित रूप में नियंत्रण और देख-रेख भी होता है। पिछले कुछ दशकों में समग्रतावादी राज्यों के सायास प्रभाव को जितना भी बढ़ा कर कहा जाये, वह थोड़ा ही होगा। यह प्रभाव ऋणात्मक और धनात्मक दोनों प्रकार का रहा है। ऋणात्मक रूप से दमन, पुस्तकों की होली, सेंसर, मुँह बन्द करना और भर्त्सना आदि आते रहे हैं। धनात्मक रूप में घोर आंचलिकता या सोवियत 'समाजवादी यथार्थवाद' का प्रोत्साहन आता है। यह एक तथ्य है कि राज्य ऐसे साहित्य का निर्माण करने में सफल नहीं हो सका है जो सैद्धान्तिक निर्देशों की पुष्टि करने के साथ ही साथ महान् साहित्य भी हो सके, पर इतने से ही यह बात खण्डित नहीं हो जाती कि साहित्य का सरकार द्वारा नियमन उन लोगों के लिए सुविधाएँ खड़ी करके साहित्य को प्रभावित करता है जो चाहे-अनचाहे सरकारी आदेश के अनुसार साहित्य रचना में तत्पर हो जाते हैं। इस तरह सोवियत रूस में साहित्य कम से कम सैद्धान्तिक रूप में सामुदायिक कला बनने लगा है और साहित्यकार फिर अपने समाज मे एक रूप होने लगा है।

किसी पुस्तक की सफलता, अतिजीविता, पुनःप्रतिष्ठा या किसी लेखक की प्रतिष्ठा और ख्याति मुख्यतः एक सामाजिक तत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अंशों में यह साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत आता है क्योंकि प्रतिष्ठा और यश की माप इस बात से की जाती है कि लेखक ने दूसरे लेखकों को वस्तुतः कितना प्रभावित किया है, साहित्यिक परम्परा को रूपान्तरित करने और बदलने की उसमें कितनी शक्ति रही है। कुछ अंशों में यह आलोचकों की अनुकूल प्रतिक्रिया पर भी निर्भर करता है। अभी तक इसका पता कमोबेश औपचारिक उक्तियों के आधार पर लगाया जाता था जिन्हें किसी विशेष युग के सामान्य पाठकों का प्रतिनिधि स्वर माना जाता था। अतः 'रुचि' का यह पूरा सवाल हालाँकि 'सामाजिक' है पर इसे एक अधिक स्थिर समाज-वैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया जा सकता है। विस्तृत छान-बीन से यह पता लगाया जा सकता है कि किसी विशेष कृति और उसके विशिष्ट पाठक वर्ग में कहाँ तक एकतानता थी जिसके कारण इस पुस्तक को इतनी सफलता

मिली। इसके लिए प्रमाण इसके संस्करणों से और बिकी प्रतियों से एकत्र किये जा सकते हैं।

हर समाज की स्तरबद्धता इसकी रुचि के विभिन्न स्तरों से प्रकट होती है। आमतौर पर तो उच्च वर्ग के आदर्श निम्न वर्ग द्वारा अपनाए जाते हैं, पर कभी-कभी यह क्रम उल्टा हो जाता है। इसका उदाहरण है लोक साहित्य और आदिम कलाओं में आज लोगों की दिलचस्पी। राजनैतिक तथा सामाजिक प्रगति और कलात्मक प्रगति के बीच अनिवार्य रूप से समवर्त्तिता नहीं पाई जाती। राजनीति में बुर्जुआ वर्ग के प्रभावशाली होने के बहुत पहले ही साहित्यिक नेतृत्व इस वर्ग के हाथ में आ गया था। आयु और लिंग (सेक्स) के अंतरों के कारण, विशिष्ट समूहों और संगठनों के कारण रुचि सम्बन्धी प्रश्नों में सामाजिक स्तरबद्धता में बाधा पड़ सकती है और यहाँ तक कि यह खण्डित भी हो सकती है। फैशन भी आधुनिक साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, क्योंकि आज के अपेक्षाकृत गतिशील समाज में उच्च वर्ग के आदर्शों की बहुत जल्दी नकल कर ली जाती है, अतः उन्हें निरन्तर बदलते रहने की आवश्यकता बनी रहती है। आज लोकरुचि में तेजी से हो रहे परिवर्त्तनों से पिछले दशकों में हुए त्वरित सामाजिक परिवर्त्तनों की और कलाकार तथा भावक के बीच के सामान्य सम्बन्धों की शिथिलता की झलक मिलती है।

आधुनिक लेखक के समाज से कट कर अलग हो जाने का दृष्टान्त ग्रब स्ट्रीट, बोहेमिया, ग्रीनविच विलेज और अपने देश को छोड़ कर चले जाने वाले अमेरिकी लेखकों में देखा जा सकता है, और इसका समाज-वैज्ञानिक अध्ययन होना बहुत जरूरी मालूम होता है। एक रूमी समाजशास्त्री, प्लेखनोव, का कहना है कि 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त तभी विकसित होता है जब कलाकार अनुभव करता है कि "उसके लक्ष्यों में और उस समाज के लक्ष्यों में, जिसका वह सदस्य है, एक निराशाजनक अन्तर्विरोध विद्यमान है। जब कलाकार अपने समाज के प्रति आक्रोश अनुभव करे और उसे इसे बदल पाने की कोई आशा नजर न आये।" लेविन एल० श्यूकिंग ने अपनी पुस्तक **शोशियालजी आफ लिटरेरी टेस्ट** में इनमें से कुछ समस्यायें उठाई हैं; एक अन्य स्थल पर उन्होंने अठारहवीं शताब्दी में भावक के रूप में परिवार और महिलाओं की भूमिका का विस्तृत अध्ययन किया है।

साहित्य निर्माण और इसके आर्थिक आधारों के बीच ठीक क्या सम्बन्ध है इस विषय में, या यहाँ तक कि इस विषय में भी कि जनता का लेखक पर

ठीक क्या प्रभाव पड़ता है, बहुत सारे साक्ष्य इकट्ठे किये गये हैं, पर इसके आधार पर साक्ष्य-समर्थित निष्कर्ष लगभग निकाले ही नहीं गये हैं। यह सम्बन्ध आश्रयदाता या जनता पर निर्भर करने या उसके आदेशों का पालन मात्र नहीं है, इतना तो बिल्कुल स्पष्ट है। लेखक अपने लिए एक विशिष्ट पाठकवर्ग तैयार करने में सफल हो सकते हैं; सचाई तो यह है, जैसा कि कोलरिज ने कहा था, कि हर नये लेखक को एक नई लोक-रुचि का निर्माण करना होता है, जिसके द्वारा उसकी कृतियों का रसास्वादन किया जा सकता है।

लेखक समाज से केवल प्रभावित ही नहीं होता है; वह उसे प्रभावित करता भी है। कला जीवन का प्रस्तुतीकरण ही नहीं करती अपितु वह उसे नया रूप भी देती है। लोग कथाओं के नायकों और नायिकाओं के नमूने पर अपने जीवन को ढाल सकते हैं। उन्होंने पुस्तकों के अनुसार प्रेम किये हैं, और आत्महत्यायें की हैं, चाहे यह पुस्तक गेटे की सारोज आफ वर्थर हो या ड्यूमा की मस्केटियर्स। लेकिन क्या हम किसी पुस्तक के इसके पाठकों पर पड़ने वाले निश्चित प्रभाव की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं? क्या व्यंग्य के प्रभाव का वर्णन कर पाना कभी भी संभव हो सकता है? क्या एडिसन ने अपने समाज के तौर-तरीके सचमुच बदले थे, या डिकेन्स ने कर्जदारों के कैदखानों, बच्चों के स्कूलों और अनाथालयों के सुधार की प्रेरणा भरी थी? क्या हैरिएट बीचर स्टोव सचमुच एक ऐसी ठिगनी औरत थी जिसने अमेरिका में गृहयुद्ध की आग फूंकी थी।[1] क्या गान विद द विण्ड ने श्रीमती स्टोव के संघर्ष के प्रति संयुक्त राज्य के प्रति उत्तरी राज्यों के पाठकों की भावना बदल दी थी? हेमिंग्वे और फाकनर ने अपने पाठकों को किस रूप में प्रभावित किया है? आधुनिक राष्ट्रवाद के जागरण पर साहित्य का कितना प्रभाव माना जा सकता है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्काटलैण्ड में वाल्टर स्काट के, पोलैण्ड में हेनरी शेनक्येविच के और चेकोस्लोवाकिया में एलोइस जायरासेक के ऐतिहासिक उपन्यासों ने राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाने में और ऐतिहासिक घटनाओं की याद जगाने में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

१—हैरिएट बीचर स्टोव एक अमरीकी लेखिका थीं जिनके उपन्यास अंकल टाम्स कैबिन ने दासों के प्रति लोगों के मन में अपार सहानुभूति भरी थी, और यह कहा जाता है कि दासप्रथा के प्रति अमरीका के उत्तरी राज्यों में जो आक्रोश फैला, उसका बहुत कुछ श्रेय इस उपन्यास को है।

—अनुवादक

हम यह मान कर चल सकते हैं कि बूढ़ों की अपेक्षा नौजवान पुस्तकें पढ़ कर अधिक मात्रा में और एकदम सीधे प्रभावित होते हैं, कि अनुभवहीन पाठक साहित्य को जीवन की व्याख्या न मान कर उसे जीवन का ही लिपिबद्ध रूप मान लेते हैं, कि जिन पाठकों ने बहुत कम पुस्तकें पढ़ी हैं वे उन्हें ऐसे लोगों की अपेक्षा अधिक सच मान कर चलते हैं जो पढ़ने-लिखने वाले हैं और जिनका अध्ययन काफी व्यापक है। क्या हम इस तरह की अटकलबाजी से आगे भी बढ़ सकते हैं? क्या हम इसके आधार पर प्रश्नावली का, या समाज-वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल की किसी अन्य रीति का उपयोग कर सकते हैं? इसके लिए यदि हम शुद्ध वस्तुवादी आधार तैयार करना चाहें तो ऐसा करना संभव नहीं होगा, क्योंकि यदि हम व्यक्ति-वृत्त (केस हिस्ट्री) तैयार करना चाहें तो इसके लिए जिन व्यक्तियों से प्रश्न किये जायेंगे उनकी यादों पर और विश्लेषण-बुद्धि पर निर्भर करना होगा, और उनसे जो साक्ष्य मिलेंगे उनको संहिताबद्ध करना होगा, उनका मूल्यांकन करना होगा, और यह करने वाला व्यक्ति भी ऐसा तो हो नहीं सकता कि उससे किसी तरह की चूक हो ही न सके। लेकिन यह सवाल कि 'साहित्य अपने पाठकों को प्रभावित कैसे करता है?' अनुभव-सापेक्ष है और यदि इसका कोई उत्तर हो सकता है तो वह अनुभव के आधार पर ही दिया जा सकता है; और चूंकि हम साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापकतम अर्थ में कर रहे हैं और समाज शब्द का प्रयोग भी इसके व्यापकतम अर्थ में कर रहे हैं अतः इसका आधार केवल कला-पारखी के अनुभव को ही नहीं बल्कि समस्त मानव जाति के अनुभव को बनाना पड़ेगा। अभी हमने इस तरह के प्रश्नों का अध्ययन लगभग शुरू ही नहीं किया है।

साहित्य और समाज के सम्बन्धों के अध्ययन का सबसे आसान तरीका है साहित्यिक कृतियों को सामाजिक दस्तावेज मान कर, सामाजिक यथार्थ की कल्पित तस्वीर मान कर उनका अध्ययन करना। इस विषय में कोई आशंका नहीं की जा सकती कि साहित्य से समाज की किसी न किसी तरह की तस्वीर खींची जा सकती है। सचाई तो यह है कि आरंभ से ही व्यवस्थित अध्ययन करने वाले लोग साहित्य का जिन रूपों में उपयोग करते रहे हैं उनमें से यह भी एक है। टामस वार्टन, जिन्हें अँग्रेजी कविता का पहला सच्चा इतिहासकार माना जाता है, ने यह तर्क दिया था कि साहित्य की यह एक 'अनूठी विशेषता है कि वह हर युग की विशिष्टताओं को बहुत सच्चाई से अंकित करता है, आचार-व्यवहार के नितान्त चित्रात्मक और अभिव्यंजनापूर्ण

पहलुओं को जिलाए रखता है। और उनकी तथा उनके अनेक पुरातनवादी उत्तराधिकारियों की दृष्टि में साहित्य मुख्यतः वेश-भूषा और आचार-व्यवहार का एक कोष था, सभ्यता और विशेषतः शौर्य के उत्थान और पतन के इतिहास का एक स्रोत था। जहाँ तक आधुनिक पाठकों का प्रश्न है उनमें से अधिकांश लोग विदेशों के बारे में अपनी मुख्य धारणा मिन्क्लेयर लेविस, और गाल्सवर्दी. बाल्ज़ाक और तुर्गनेव के उपन्यास पढ कर कायम करते हैं।

यदि साहित्य का उपयोग एक सामाजिक दस्तावेज के रूप में किया जाये तो साहित्य से सामाजिक इतिहास की कुछ रूपरेखा तैयार की जा सकती है। चासर और लैंगलैण्ड चौदहवीं शताब्दी के समाज के विषय में दो तरह की राय रखते हैं। बहुत पहले से ही यह माना जाता रहा है कि **कैण्टरबरी टेल्स** की भूमिका में सामाजिक प्रकार भेद का एक लगभग पूर्ण सर्वेक्षण मिलता है। शेक्सपियर के **मेरी वाइव्ज आफ विण्डसर,** बेन जान्सन के अनेक नाटकों और टामस डेलोनी की कृतियों से ऐसा लगता है कि उनमें एलिज़बेथकालीन मध्यवर्ग के विषय में काफी जानकारी भरी हुई है। एडिसन, फील्डिंग और स्मालेट ने अठारहवीं शताब्दी के नये बुर्जुआ वर्ग का; जेन आस्टिन ने उन्नीसवीं शताब्दी के ग्रामीण समाज और ग्रामीण पादरियों का; ट्रालप, थैकरे और डिकेन्स ने विक्टोरिया-युगीन जीवन का चित्रण किया है। पिछली शताब्दी के मोड पर गाल्सवर्दी हमारे सामने उच्च मध्यवर्ग का; वेल्ज़ निम्न मध्यवर्ग का; और बेनट आंचलिक नगरों का चित्र प्रदर्शित करते हैं।

अमरीकी जीवन की इसी तरह की सामाजिक तस्वीरें हैरिएट बीचर स्टोव और हाउल्ज़ से लेकर फैरल और स्टाइनबेक तक के उपन्यासों से तैयार की जा सकती हैं। बाल्ज़क के **ह्यूमन कामेडी** में लगता है कि इसके पृष्ठों में विचरते सैकड़ों चरित्रों के बीच राज्यक्रान्ति के बाद के पेरिस और फ्रान्स का जीवन सुरक्षित पड़ा है। प्रूस्त ने फ्रान्स के विनाशोन्मुख अभिजात वर्ग की सामाजिक परतों का अपार विस्तार के साथ चित्रण किया है। उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी जमींदारों के चित्र तुर्गनेव और तालस्ताय के उपन्यासों में मिलते है; व्यापारियों और बुद्धिजीवियों की झाँकी चेखव की कहानियों और नाटकों में और सामूहिक किसानों की झाँकियाँ शालकाफ की कृतियों में मिलती हैं।

इस तरह के उदाहरणों का कोई ओर-छोर नहीं है। हम हर एक लेखक की अपनी 'दुनिया' के उदाहरण जुटा सकते हैं उनका दिग्दर्शन करा सकते

हैं, यह बता सकते हैं कि किसने प्रेम और विवाह को, व्यवसाय को, पेशों को, कितना अंश दिया है, पादरियों को, चाहे वे मूर्ख हों या चालाक, सन्त प्रकृति हों या पाखण्डी, किस रूप में चित्रित किया है; या कोई जेन आस्टेन के नाविकों, प्रूस्त के नये अमीरों, या हाउल्ज़ की विवाहिता स्त्रियों के विषय में विशेषज्ञता प्राप्त कर सकता है। इस तरह के विशेषीकरण से हमें 'उन्नीसवीं शताब्दी के अमेरिकी उपन्यासों में जमींदारों और असामियों के आपसी सम्बन्ध', 'अंग्रेजी कथा-साहित्य में नाविकों का चित्रण', या 'बीसवीं शताब्दी के कथा साहित्य में आयर्लैण्ड से आकर बसे अमरीकियों का चित्रण' जैसे विषयों पर शोध प्रबन्ध मिल सकते हैं।

लेकिन इस तरह के अध्ययनों में यदि यह बात ध्रुव मानी जाती रही कि साहित्य मात्र जीवन का दर्पण या प्रतिकृति है और इसलिए जाहिरा तौर पर एक सामाजिक दस्तावेज है तो ऐसा लगता है कि इस तरह के अध्ययनों का कोई खास मूल्य नहीं होगा। इस तरह के अध्ययनों का कोई मतलब तभी हो सकता है जबकि हम जिस उपन्यासकार का अध्ययन करें उसकी कला-विधि को भी समझ सकें, और जब हम न केवल चलते ढंग से नहीं बल्कि ठोस आधार पर यह बता सकें कि उसने जो तस्वीर पेश की है उसका सामाजिक यथार्थ से क्या सम्बन्ध है। क्या इसे यथार्थवादी बनाने के ही इरादे से लिखा गया है? या यह कुछ स्थलों पर व्यंग्य है, विद्रूप है, एक रोमानी आदर्शीकरण है? कोन-ब्रामस्टेड ने जर्मनी के अभिजातवर्ग और मध्यवर्ग का बहुत सुथरा अध्ययन किया है और इस प्रसंग में उन्होंने हमें सचेत किया है: "केवल वही आदमी, जिसे साहित्य से इतर स्रोतों से किसी सामाजिक ढाँचे का ज्ञान है, यह पता लगा सकता है कि किसी विशेष सामाजिक टाइप और उसके आधार-व्यवहार का चित्रण उपन्यास में हुआ है या नहीं और यदि हुआ है तो किस सीमा तक।.....हर मामले में इस बात का नीर-क्षीर विवेक तो होना ही चाहिए कि इसमें कितना अंश कल्पना-प्रसूत है, कितना यथार्थमूलक पर्यवेक्षण है और कितना अंश लेखक की सिर्फ अपनी लालसाओं की अभिव्यक्ति है।"

इसी लेखक के आदर्श 'सामाजिक टाइप' विषयक मैक्स वेबर की परिकल्पना का प्रयोग करते हुए विभिन्न वर्गों की आपसी घृणा, नये अमीरों के व्यवहार, अकड़मिजाजी, यहूदियों के प्रति लोगों की दृष्टि जैसे सामाजिक तत्वों का अध्ययन किया है; और उसका तर्क है कि इस तरह के तत्व निरपेक्ष

तथ्य और व्यवहार के रूप नहीं हैं क्योंकि ये बहुत जटिल भावनाएँ हैं और इसलिए अन्य किसी स्थल की अपेक्षा इनका चित्रण कथा साहित्य में अधिक अच्छा किया गया है। सामाजिक भावनाओं और आकांक्षाओं का अध्ययन करने वाले लोग साहित्यिक सामग्री का उपयोग कर सकते हैं, बशर्ते कि उन्हें इनका ठीक टीक अर्थ करना आवे। सचाई तो यह है कि प्राचीन काल के समाजशास्त्रियों, अर्थात् राजनीति, अर्थशास्त्र, और सामान्य लौकिक समस्याओं के लेखकों ने बहुत कम साक्ष्य सँजोए हैं। अतः इनके अभाव में ये अध्येता साहित्यिक या कम से कम अर्ध-साहित्यिक सामग्री का उपयोग करने को विवश हैं।

इस तरह की सामाजिक भावनाओं के बहुत रोचक दृष्टान्त कथा-साहित्य के नायकों और नायिकाओं में, खलनायकों और खलनायिकाओं में देखने को मिलते हैं। इस तरह के अध्ययनों से हम नैतिक और धार्मिक विचारों के इतिहास का भी पता पाते हैं। हमें पता है कि मध्यकाल में विश्वासघातियों की क्या हैसियत थी और मध्यकाल के लोग सूदखोरों को किस नजर से देखते थे। यही प्रवृत्ति पुनर्जागरण काल में भी चलती आती है और यहाँ आकर हमें शाइलाक का और बाद में आकर मोलियर के ल' ऐवर (लोभ) का दर्शन होता है। बाद की शताब्दियों में खलनायकों के जो चित्र मिलते है वे किस 'जघन्य पाप' के उदाहरण हैं; और इनकी खलता की कल्पना व्यक्तिगत नैतिकता की दृष्टि से की गई है या सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से? उदाहरण के लिए वह बलात्कार करने वाला व्यक्ति है या विधवा के बन्धक का गबन करने वाला व्यक्ति?

सबसे क्लासिकी उदाहरण है पुनःस्थापन (रेस्टोरेशन) काल की अंग्रेजी कामदी। लैम ने इसे लम्पटता, व्यभिचार और दिखावटी शादियों का एक कल्पित जगत् माना है, पर क्या यह सचमुच ऐसा ही था? या जैसा कि मैकाले का कहना है, यह पतनशील, क्षुद्र और पाशविक अभिजात वर्ग का सही चित्रण था? या क्या हम इन दोनों विकल्पों को अस्वीकार करके यह देखने की कोशिश करें कि इनकी रचना समाज के किस विशेष तबके के लोगों ने किस तरह के भावकों को ध्यान में रख कर की थी? और क्या हम इस दृष्टि से न देखें कि यह एक प्रकृतिवादी या रीतिबद्ध कला थी या नहीं? क्या हम व्यंग्य और व्याजोक्ति, आत्मोपहास या कपोलकल्पना के रूप में देखने की चिन्ता में ही न पड़ें? शेष समस्त साहित्य की ही तरह ये नाटक भी

निरे दस्तावेज ही नहीं हैं; ये ऐसे नाटक हैं जिनके चरित्र गढ़े हुए हैं, परिस्थितियाँ गढ़ी हुई हैं, इनमें रंगमंचीय शादियाँ और शादी तय करने की रंगमंचीय स्थितियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इन विषयों पर ई० ई० स्टोल ने बहुतेरी दलीलें दी हैं और इनका उपसंहार करते हुए वह लिखते हैं: "इतना तो जाहिर है कि यह कोई 'वास्तविक समाज' नहीं है, यहाँ तक कि किसी 'फैशनेबल जीवन' की सच्ची तस्वीर भी नहीं है; जाहिर है कि यह क्रान्ति या महान् विप्लव के पहले या बाद का इँगलैंड नहीं है, यहाँ तक कि 'स्टुअर्ट शासकों के समय का इंगलैंड भी नहीं।" स्टोल जैसे लेखकों ने रूढ़ियों और परम्परा पर जितना भी बल क्यों न दिया हो, हम यह कह कर छुट्टी नहीं पा सकते कि साहित्य और समाज में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यहाँ तक कि नितान्त अलंकृत वर्णनों, चरवाहों के नितान्त यथार्थहीन गीतों, नितान्त अतिरंजित प्रहसनों की भी यदि अच्छी तरह जाँच-पड़ताल की जाए तो इसमें हमें उस समय के समाज के विषय में कुछ जानकारी मिल सकती है।

साहित्य किसी सामाजिक सन्दर्भ में, किसी संस्कृति के अंग के रूप में, एक विशेष माहौल में ही रचा जाता है। टेन ने **जाति, माहौल** और **क्षण** की त्रयी की चर्चा चलाई तो थी पर व्यवहारतः उसने माहौल को लेकर बहुत विस्तृत अध्ययन किया है। जाति एक अज्ञात और निश्चित इकाई है जिसका विवेचन टेन ने बहुत ढीले-ढाले ढंग से किया है। प्रायः करके तो यह सिर्फ एक कल्पित 'राष्ट्रीय चरित्र' या अंग्रेजी या फ्रान्सीसी होने की 'भावना' हुआ करती है। **क्षण** को माहौल की परिकल्पना में ही तिरोहित किया जा सकता है। समय के अन्तर का अर्थ है माहौल का अन्तर, लेकिन विश्लेषण की असल समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम 'माहौल' शब्द को कई टुकड़ों में तोड़ने की चेष्टा करें। ऐसा करने पर हम देखेंगे कि किसी साहित्यिक कृति का सबसे प्रत्यक्ष माहौल है उसकी भाषाई और साहित्यिक परम्परा, और यह परम्परा भी सामान्य सांस्कृतिक वातावरण में समाहित रहता है। यदि साहित्य का सम्बन्ध ठोस राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से जोड़ा जाये तो वह इनकी अपेक्षा बहुत अप्रत्यक्ष होगा। इसमें सन्देह नहीं कि मानव क्रिया कलाप के सभी क्षेत्रों के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हुआ करते हैं। हम उत्पादन की विधियों का भी कुछ सम्बन्ध साहित्य से जोड़ सकते हैं क्योंकि आर्थिक प्रणाली के साथ आमतौर पर शक्ति की एक प्रणाली का भी भाव लगा रहता है और इससे पारिवारिक जीवन के रूप भी अवश्य नियंत्रित

होते हैं। और शिक्षा में, प्रेम और यौन व्यवहार की धारणाओं में, मानव भावना की समस्त रूढ़ियों और परम्पराओं में परिवार बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी तरह प्रेम की रूढ़ियों, धार्मिक पूर्वाग्रहों तथा प्रकृति की संकल्पनाओं से गीति काव्य तक का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। लेकिन ये सम्बन्ध कुछ टेढ़े-मेढ़े हैं।

चाहे यह टेन का सिद्धान्त हो, जिसने मानव सर्जना का विवेचन जलवायु, शारीरिक आवश्यकताओं और सामाजिक तत्वों के समन्वय के आधार पर किया है, या हैगल और हैगल के अनुयायियों का सिद्धान्त हो जो 'आत्मा' को ही इतिहास की एकमात्र प्रेरक शक्ति मानते हैं, या मार्क्सवादियों का सिद्धान्त हो जो हर चीज का मूल उत्पादन की विधियों को मानते हैं, मानव क्रिया-कलाप के किसी भी एक रूप को शेष सभी का चालक मानना असंभव मालूम होता है। आरंभिक मध्य युग से लेकर पूंजीवाद के उत्थान काल तक उद्योगविद्या में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुए जब कि इस बीच सांस्कृतिक जीवन में और विशेषतः साहित्य में बहुत बड़े कायापलट हुए। यह भी नहीं है कि साहित्य में हमेशा, कम से कम तात्कालिक रूप से, किसी युग के उद्योगविद्या सम्बन्धी परिवर्त्तनों की ओर बहुत जागरूकता दिखाई जाती हो। औद्योगिक क्रान्ति के लक्षण अर्थशास्त्रियों और सामाजिक चिन्तकों को बिल्कुल स्पष्ट रूप से बहुत पहले ही दिखाई देने लगे थे, पर अंग्रेजी के उपन्यासों में इसके बहुत बाद उन्नीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक में (एलिज़बेथ गैस्केल, किंग्ज़ली, और कार्लट ब्राण्टी के साथ) ही इसे स्थान मिल सका।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि सामाजिक स्थिति से इस बात का निश्चय तो होता है कि इनमें कुछ निश्चित कला-मूल्यों की उपलब्धि संभव हो सकती है, पर इस बात का कोई निश्चय नहीं रहता कि अमुक मूल्य निश्चित रूप से उपलब्ध हो सकते हैं। हम मोटे तौर पर यह निश्चय तो कर सकते है कि किसी विशेष तरह के समाज में कला के क्या रूप संभव हैं और क्या असंभव, लेकिन इस बात की भविष्यवाणी करना संभव नहीं कि कौन से कला-रूप वस्तुतः सामने आयेंगे। अनेक मार्क्सवादी और मार्क्सवादी ही क्यों, दूसरे बहुत से लोग भी—अर्थशास्त्र से सीधे साहित्य पर आ धमकते हैं। उदाहरण के लिए, जान मेनार्ड कीन्स ने, जिन्हें असाहित्यिक भी नहीं कहा जा सकता, शेक्सपियर के अस्तित्व का हेतु निम्न तथ्यों को बताया है: "शेक्सपियर जिस काल में हुए उस काल में हमारी आर्थिक स्थिति ऐसी हो चुकी थी कि हमारे

बीच कोई उस जैसा व्यक्ति पैदा हो सके। महान् लेखक ऐसे वातावरण में अधिक प्रचुरता में पाये जाते हैं जो आमोद और उल्लास से भरपूर रहता है, जिसमें शासक वर्ग आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रहता है, और ये सारी बातें मुनाफे की वृद्धि से उत्पन्न होती हैं।" लेकिन मुनाफे की वृद्धि से दूसरे स्थानों पर महान् कवि पैदा होते दिखाई नहीं देते। इसका एक उदाहरण अमरीका की बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक की आर्थिक समृद्धि है। शेक्सपियर के बारे में यह आशावादी दृष्टि निर्विवाद हो ऐसी भी बात नहीं है। इसके विपरीत एक सूत्र रूसी मार्क्सवादियों ने निकाला है पर वह भी हमारे लिए इससे अधिक सहायक नहीं हो सकता: "विश्व के प्रति शेक्सपियर का दुःखान्त दृष्टिकोण सामन्ती अभिजात वर्ग की एकमात्र नाटकीय अभिव्यक्ति है, जो एलिज़बेथ के समय में अपनी पहले की प्रभावशाली स्थिति खो चुका था।" इस तरह के परस्पर विरोधी विचार, जो आशावाद और निराशावाद की अस्पष्ट श्रेणियों से जुड़े रहते हैं, न तो शेक्सपियर के नाटकों की उस सामाजिक विषयवस्तु का ही ठोस विवेचन कर पाते हैं जिनका इन नाटकों से कुछ पता लगाया जा सकता है, न ही राजनैतिक विषयों पर उनकी मान्यताओं का (जो ऐतिहासिक नाटकों में स्पष्ट लक्षित होते हैं) या एक लेखक के रूप में उनकी सामाजिक हैसियत का ठोस विवेचन कर पाते हैं।

लेकिन हमें इस बात से सावधान रहना चाहिए कि कहीं इस तरह के उद्धरणों से ही हम आर्थिक दृष्टि से साहित्य के अध्ययन की इति न समझ लें। हालाँकि मार्क्स ने अनेक अवसरों पर कुछ खयाली पुलाव पकाए हैं, परन्तु सामान्यतः साहित्य और समाज के आपसी सम्बन्धों की तिर्यकता उनकी पैनी निगाह से छूटने नहीं पाई थी। अपनी पुस्तक **क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकानमी** की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया था कि "कला की पराकाष्ठा के कुछ ऐसे काल देखने में आते हैं जिनका न तो समाज के सामान्य विकास से कोई सम्बन्ध दिखाई देता है न भौतिक आधार से और न ही इसके संगठनों के ढाँचे से। इसका साक्ष्य हमें आधुनिक राष्ट्रों की तुलना में यूनानियों को, या यहाँ तक कि शेक्सपियर को ही, रख कर मिल सकता है।" मार्क्स ने यह भी समझ लिया था कि आधुनिक काल के श्रम-विभाजन की सामाजिक प्रक्रिया के तीनों अंगों—'उत्पादक शक्तियों', 'सामाजिक सम्बन्ध', और 'चेतनता'—के बीच में एक निश्चित अन्तर्विरोध पाया जाता है। उन्हें यह आशा थी कि भावी वर्गहीन समाज में श्रम का विभाजन फिर खत्म हो जायेगा और

पुनः समाज के साथ एकाकार हो जायेगा। उनकी समझ में यह बात संभव मालूम होती थी कि हर आदमी एक सिद्धहस्त और यहाँ तक कि मौलिक चित्रकार हो सकता है।' 'कम्यूनिस्ट समाज में कोई आदमी अलग से चित्रकार नहीं होगा, बल्कि चित्रकार अधिक से अधिक एक ऐसा प्राणी होगा जो दूसरे कामों के साथ ही चित्र भी बना सकेगा।'

'घटिया किस्म के मार्क्सवादी' कहते हैं कि चर्च या राज्य के विषय में प्रतिक्रियावादी या प्रगतिशील आवाज उठाने वाला यह या वह लेखक बुर्जुआ था। इस घोषित नियतिवाद में, जिसमें यह माना जाता है कि चेतनता अनिवार्य रूप से पार्थिव 'अस्तित्व' के बाद आती है, कि बुर्जुआ बुर्जुआ होने के लिए लाचार है, और इस सामान्य नैतिक विचारणा में, जिसमें इन्हीं विचारों के लिए उसकी भर्त्सना की जाती है, एक विलक्षण अन्तर्विरोध पाया जाता है। सोवियत रूस में यह देखने में आता है कि बुर्जुआ घराने में पैदा होने वाले जो लेखक सर्वहारा के साथ हो गये हैं, उनकी सच्चाई में निरन्तर सन्देह किया जाता है, और उनके हर कलागत या नागरिक दोष को बुर्जुआ वर्ग में उनके जन्म लेने के सिर मढ़ा जाता है। लेकिन यदि मार्क्सवादी अर्थ में प्रगति सामन्तवाद से बुर्जुआ वर्ग से होती हुई 'सर्वहारा की तानाशाही' की ओर अग्रसर होती है, तो किसी भी मार्क्सवादी के लिए यही बुद्धिसम्मत और उचित था कि वह किसी भी समय के प्रगतिशील व्यक्ति की सराहना करता। उसे बुर्जुआ की इस बात के लिए तारीफ करनी चाहिए कि पूंजीवाद की आरंभिक अवस्था में उसने रहे-सहे सामन्तवाद का विरोध किया। परन्तु प्रायः मार्क्सवादी लेखक की आलोचना बीसवीं शताब्दी के दृष्टिकोण से करते हैं, या स्मिरनोफ और ग्रिब की तरह जो मार्क्सवादी 'भोंड़े समाजशास्त्र' के घोर निन्दक हैं वे बुर्जुआ लेखकों को उनकी सार्वजनीन मानवीय दृष्टि के नाम पर उबारने का प्रयत्न करते हैं। इस तरह स्मिरनोफ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शेक्सपियर 'बुर्जुआ वर्ग का मानवतावादी विचारधारा का आदमी था। बुर्जुआ वर्ग ने जब मानवता के नाम पर समाजवादी व्यवस्था को ललकारा था, तब उनके द्वारा प्रसूत कार्यक्रम का वह व्याख्याता बना था।' लेकिन मानवतावाद और कला की सार्वभौमिकता की परिकल्पना के आगे मार्क्सवादी सिद्धान्त घुटने टेक देता है, जो अपने मूल रूप में सापेक्षतावादी है।

मार्क्सवादी आलोचना का सर्वोत्तम रूप उस समय देखने में आता है जब यह किसी लेखक की कृति में व्यंजित या अन्तर्निहित सामाजिक आशयों का

उद्‌घाटन करती है। इस दृष्टि से यह फ्रायड, या नीट्‌शे, या परेतो की अन्तर्दृष्टियों पर आधारित व्याख्या की तकनीक के या शेलर-मैनहीम के "ज्ञान का समाजशास्त्र" की समकक्षता की एक तकनीक है। ये सभी के सभी बुद्धिजीवी बुद्धि, स्वीकृत सिद्धान्त या निरे विज्ञापन को शंका की दृष्टि से देखते हैं। इनमें मुख्य भेद यह है कि नीट्‌शे और फ्रायड की पद्धतियाँ मनोवैज्ञानिक हैं, जब कि पैरेत का 'अवशेषों' और 'यौगिकों' का विश्लेषण तथा शेलर-मैनहीम का 'विचारधारा' का विश्लेषण समाजशास्त्रीय है।

मैक्स शेलर, मैक्स वेबर और कार्ल मैनहीम की रचनाओं में 'ज्ञान का समाजविज्ञान' जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, उसमें इसका विस्तृत विवेचन किया गया है और यह निश्चित रूप से अपनी प्रतिस्पर्धी विचार-धाराओं से बाजी मार ले गया है। इसमें किसी विशेष मतवाद की पूर्वधारणाओं और आशयों की ही ओर दृष्टि नहीं खींची गई है, बल्कि इसमें छान-बीन करने वाले की छिपी मान्यताओं और पूर्वाग्रहों पर भी बल दिया गया है। यह अपने प्रति भी इतनी आलोचनापूर्ण और सावधान है कि इसका विवेचन बिल्कुल अस्पष्ट हो गया है। यह मार्क्सवाद या मनोविश्लेषण की तरह किसी एक ही तत्व को हर चीज का अनन्य निर्धारक मानने की ओर भी उतना झुका हुआ है। इन लेखकों ने धार्मिक पहलू को दूसरे पहलुओं से अलग करने में चाहे कितनी भी असफलता क्यों न पाई हो पर धर्म के विषय में मैक्स वेबर के अध्ययन बहुत मूल्यवान् हैं क्योंकि इसमें यह बताने का प्रयास किया गया है कि आर्थिक आचरण और संस्थाओं पर सैद्धान्तिक तत्वों का क्या प्रभाव पड़ता है। कारण यह है कि इसके पहले हमेशा केवल एक ही बात पर बल दिया गया था कि व्यक्ति के आदर्शों पर आर्थिक पहलुओं का क्या प्रभाव पड़ता है। यदि इसी तरह का एक अध्ययन इस बात को लेकर किया जाये कि समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है तो यह बहुत शुभ बात हो, हालाँकि इस तरह के अध्ययन में भी कुछ उसी तरह की कठिनाइयाँ आयेंगी जो मैक्स वेबर के समाज-विज्ञान के साथ आई थीं। विशुद्ध साहित्यिक तत्वों को अलग कर पाना, और इस प्रश्न का जवाब दे पाना कि यह प्रभाव इस विशेष साहित्यिक तत्व के कारण आया है या किन्हीं अन्य बातों के कारण जिनके लिए उस विशेष तत्व ने मात्र एक 'निकास' प्रदान किया है, उतना ही कठिन है जितना किसी विशेष धार्मिक तत्व को अलग करके उसके प्रभाव का निश्चय करना।

परन्तु 'ज्ञान के समाज-विज्ञान' का सबसे बड़ा दोष है इसकी अतिशय इतिहासवाद (हिस्टोरिसिज्म) की प्रवृत्ति; अपनी इस स्थापना के बावजूद कि विरोधी पहलुओं का समन्वय करके और इस तरह इनकी तीक्ष्णता को कम करके, 'वस्तुनिष्ठता' लाई जा सकती है, इसमें अन्ततः जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे बहुत संशयपूर्ण रहे हैं। साहित्य में इसको व्यवहृत करने में एक और दोष पाया जाता रहा है और वह है 'रूप' और 'वस्तु' को एक-दूसरे से जोड़ पाने की इसकी असमर्थता। मार्क्सवाद की तरह इसमें भी तर्कहीन व्याख्याओं की ही प्रधानता रही है और उसी की तरह यह भी सौन्दर्य-शास्त्र के लिए, और इस कारण आलोचना और मूल्यांकन के लिए एक बुद्धिसंगत आधार खड़ा करने में असमर्थ रहा है। यह बात साहित्य के अध्ययन में प्रयुक्त सभी बाह्य विधियों के विषय में सच है। किसी साहित्यिक कृति के विश्लेषण, विवेचन और यूल्यांकन के प्रति कोई भी चालू अध्ययन उचित न्याय नहीं कर सकता।

लेकिन 'साहित्य और समाज' की समस्या को दूसरे रूप में अर्थात् प्रतीकात्मक या सार्थक सम्बन्धों के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। ये सम्बन्ध हैं संगति, अन्विति, अनुरूपता, सामंजस्य, रचनात्मक अभिन्नता, शैलीगत सादृश्य या कोई भी अन्य ऐसे शब्द जिनसे हम किसी संस्कृति के एकीकरण और मनुष्य के विभिन्न क्रियाकलाप के बीच अन्तःसम्बन्धों को सूचित करना चाहें। सोरोकिन, जिन्होंने इन संभावनाओं पर बड़ी स्पष्टता से विचार किया है, इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एकीकरण की मात्रा हर समाज में अलग-अलग पाई जाती है।

मार्क्सवाद इस प्रश्न का कदापि उत्तर नहीं देता कि साहित्य समाज पर कितने अंशों में निर्भर करता है। अतः मूलभूत समस्याओं में से अनेक का अभी अध्ययन भी होना प्रारंभ नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए, कभी-कभी हम देखते हैं कि साहित्य की किसी विशेष विधा के निर्धारक कारणों के सामाजिक होने के विषय में तर्क दिये जाते हैं, जैसा कि उपन्यास का उद्भव बुर्जुआ वर्ग से मानने में या यहाँ तक कि इनकी प्रवृत्तियों और रूपविधान के ब्योरों तक में देखने में आता है। इसका उदाहरण है ई० बी० बर्गम का यह तर्क कि 'त्रासदी-मिश्रित-कामदी का जन्म अभिजातवर्ग की तुच्छता पर मध्यवर्ग की गंभीरता की छाप का परिणाम है' हालाँकि इनका दृष्टिकोण बहुत अधिक तर्कपूर्ण नहीं है। क्या स्वच्छन्दतावाद जैसी किसी व्यापक शैली

का कोई निश्चित सामाजिक कारण माना जा सकता है जो हालाँकि बुर्जुआ वर्ग से सम्बद्ध था पर साथ ही कम से कम जर्मनी में अपने आरंभ से ही बुर्जुआ विचारधारा के विरुद्ध था। इतना तो बेशक साफ जाहिर होता है कि साहित्यिक विचारधाराएँ और विषय किन्हीं रूपों में सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं पर कला-रूपों, विधाओं और वास्तविक साहित्यिक आदर्शों के मूल में कौन सी सामाजिक बातें होती हैं, इसका निश्चय बहुत कम ही किया जा सका है।

ऐसा करने का बहुत ठोस प्रयास साहित्य के जन्म के सामाजिक कारणों के अध्ययन में (व्यूचर के इस एकांगी सिद्धान्त में, जिसमें कविता का जन्म मजदूरों के तुकान्त पद्यों से माना जाता है) कला के जादुई कार्यभाग के विषय में अनेक मानव-वैज्ञानिकों के अध्ययनों में; जार्ज टामस के पाण्डित्यपूर्ण विवेचन में, जिसमें ग्रीक त्रासदी का सम्बन्ध अनुष्ठान और कर्मकाण्ड से तथा एस्कलीज के समय में एक निश्चित लोकतांत्रिक सामाजिक क्रान्ति से सप्रमाण दिखाने के प्रयत्न किये गये हैं; क्रिस्टाफर काडवेल के किंचित् अध्ययन में जिसमें कविता का स्रोत जन-जातियों की भावनाओं और व्यक्तिगत स्वतंत्रता विषयक बुर्जुआ के 'भ्रम' में करने का प्रयत्न किया गया है।

यह प्रश्न कि सामाजिक भावनाएँ 'रचना का आधार' बन सकती हैं और किसी कलाकृति में कलागत मूल्य के एक प्रभावशाली अंश के रूप में स्थान पा सकती हैं या नहीं, तभी उठाया जा सकता है जब कि इस बात को अन्तिम रूप से सिद्ध किया जा सके कि रूप-विधान का निर्धारण सामाजिक तत्वों से होता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि हालाँकि 'सामाजिक सत्य' अपने आप में कलात्मक मूल्य नहीं रखता, लेकिन इससे जटिलता और संश्लिष्टता जैसे कलात्मक मूल्यों की पुष्टि होती है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। ऐसी अनेक महान् साहित्यिक कृतियाँ हैं जिनकी कोई सामाजिक सार्थकता नहीं है। समाज-सापेक्ष साहित्य केवल साहित्य का एक प्रकार है और इसे साहित्यिक सिद्धान्त का सारभूत अंग तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि कोई यह न माने कि साहित्य यथार्थ जीवन की, और विशेषतः सामाजिक जीवन की 'अनुकृति' है। लेकिन साहित्य समाजशास्त्र या राजनीतिशास्त्र का स्थानापन्न नहीं है। इसका अपना ही लक्ष्य और औचित्य होता है।

दस

साहित्य और विचार

साहित्य और विचारों के बीच अनेक तरह के सम्बन्ध माने जा सकते हैं। अक्सर यह समझ लिया जाता है कि साहित्य एक तरह का दर्शन है, कि इसमें विचारों को शिल्प का जामा पहना दिया जाता है; और इसका विश्लेषण इस रूप में किया जाता है कि इससे 'प्रमुख विचारों' का दोहन किया जा सके। इस तरह के सामान्य करणों के रूप में कलाकृतियों का संक्षेपीकरण करने या सार रूप प्रस्तुत करने के लिए शोधार्थियों को प्रोत्साहित किया जाता है। बहुत पुराने समय के अनुसंधानों में इस पद्धति को मूढ़ता की सीमा तक पहुँचा दिया जाता था। इस प्रसंग में हमारा ध्यान खास तौर से शेक्सपियर पर अनुसंधान-कार्य करने वाले जर्मन विद्वान् उलिरची जैसे लोगों की ओर चला जाता है जिसने **मर्चेण्ट आफ वेनिस** के पीछे "कानून की जितनी ही पाबन्दी उतना ही अधिक अन्याय" का केन्द्रीय विचार होना प्रतिपादित किया था। हालाँकि आज अधिकांश विद्वान् ऐसे अतिशय बौद्धिकीकरण के विरोधी हो गये हैं, पर आज भी इस तरह के विवेचन किये जाते हैं जिनमें साहित्यिक कृतियों की मीमांसा इस तरह की जाती है मानो वे दार्शनिक ग्रन्थ हों।

इसका विरोधी दृष्टिकोण वह है जिसमें साहित्य में किसी तरह की दार्शनिक संगति मानने से इन्कार किया जाता है। दर्शन और काव्य पर एक भाषण के प्रसंग में जार्ज बास ने इस दृष्टिकोण को बहुत लट्ठमार ढंग से प्रस्तुत किया है: "....काव्य में पाये जाने वाले विचार प्रायः बासी और कभी-कभी नकली हुआ करते हैं, और सोलह साल से अधिक उम्र के किसी भी आदमी को कविता में जो कुछ कहा गया है सिर्फ उसी की दृष्टि से इसे

पढ़ना बिल्कुल बेकार मालूम होगा।" टी० एस० ईलियट के मतानुसार, 'न तो शेक्सपियर ने और न ही दान्ते ने ही किसी तरह का वास्तविक चिन्तन किया था'। बोएज़ के इस मत से हम सहमत हो सकते हैं कि अधिकांश कविताओं (और लगता है वह मुख्य रूप से गीति काव्य की बात सोच रहे हैं) की बौद्धिक विषयवस्तु को प्रायः बहुत अतिरंजित कर दिया जाता है। यदि हम उन तमाम विख्यात कविताओं का विश्लेषण करें जिनकी प्रशंसा उनके दर्शन के लिए की जाती है तो हम पाएँगे कि उनमें मनुष्य की नश्वरता और भाग्य की अस्थिरता के विषय में निरी साधारण बातें ही कही गई होती हैं। ब्राउनिंग जैसे विक्टोरियाकालीन कवियों की आप्त उक्तियाँ, जो बहुत से पाठकों को दैवी उद्गार जैसी मालूम होती हैं, अन्ततोगत्वा प्रायः आदिम सत्यों का निरा सूत्र रूप बन कर रह जाती हैं। यहाँ तक कि यदि हम कुछ सामान्य स्थापनाओं, जैसे कीट्स के 'सुन्दर सत्य, सत्य है सुन्दर' को अलग भी कर लें तो भी जब तक हमें यह किसी कविता का निष्कर्ष न मालूम हो जिसमें कला के स्थायित्व और मानवीय भावनाओं तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की अस्थिरता का दिग्दर्शन कराया गया है तब तक हम सत्य को सौन्दर्य और सौन्दर्य को सत्य का रूप मानने की इस स्थापना का जो अर्थ निकालते बनेगा वह निकालेंगे। किसी कलाकृति को मतवादी उक्तियों के स्तर पर और इससे भी बुरा यह कि प्रसंग से कटे चन्द उद्धरणों के स्तर पर उतार लाना किसी कलाकृति की समग्रता को समझने की दृष्टि से बहुत भयानक है। इसमें कृति के रूपबन्ध को विघटित कर दिया जाता है और उस पर बाह्य मानक लाद दिये जाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य का विवेचन इसे विचार और दर्शन के इतिहास का एक दस्तावेज मान कर किया जा सकता है, क्योंकि साहित्य का इतिहास बौद्धिक इतिहास के समानान्तर चलता रहता है और इसमें बौद्धिक इतिहास का प्रतिबिम्ब विद्यमान रहता है। कभी-कभी कुछ स्पष्ट उक्तियों और प्रसंगों से यह जाहिर होता है कि किसी कवि का किस विशेष दर्शन में विश्वास रहा है, या यह प्रमाणित होता है कि उसका कुछ दर्शनों से सीधा परिचय था जो एक युग में बहुत प्रसिद्ध रहे हैं या कम से कम उसे इसकी मोटी-मोटी बातों की जानकारी है।

पिछले कुछ दशकों में अमरीकी विद्वानों का एक पूरा सम्प्रदाय ही ऐसा सामने आया है जिसने अपने को इन प्रश्नों का अध्ययन करने की ओर दत्त-

चित्त किया है। इन्होंने अपनी पद्धति को 'वैचारिक इतिहास' की संज्ञा दे रखी है। इस विशिष्ट, सीमित पद्धति का विकास और हिमायत लवज्वाय ने किया था, और यह संज्ञा इसको देखते हुए कुछ भ्रामक सी है। ए० ओ० लवज्वाय ने **अस्तित्व की विराट् परम्परा** पर लिखी अपनी पुस्तक में बड़ी विदग्धता से इसकी प्रभावोत्पादकता का दिग्दर्शन कराया है। इस पुस्तक में उन्होंने प्लेटो से लेकर शेलिंग तक के विचारों के स्वरूप का पता लगाया है। विशुद्ध दर्शन, वैज्ञानिक चिन्तन, धर्मशास्त्र और—विशेषतः साहित्य—इन सभी प्रकार के चिन्तनों में उन्होंने विचार तत्व की खोज की है। उनकी पद्धति दर्शन के इतिहास की पद्धति से दो दृष्टियों से भिन्न है। लवज्वाय ने दर्शन के इतिहास के अध्ययन को केवल महान् चिन्तकों तक ही सीमित माना है और अपने 'विचारों के इतिहास' में छोटे चिन्तकों और कवियों को भी शामिल किया है। उनकी दृष्टि में ये छोटे विचारक और कवि बड़े विचारकों से ही अपने विचार प्राप्त करते हैं। इसके आगे दूसरा भेद वह यह करते हैं कि दर्शन के इतिहास में महान् सम्प्रदायों का अध्ययन किया जाता है, जब कि विचारों के इतिहास में विचारों की इकाइयों का पता लगाया जाता है अर्थात् इसमें दार्शनिकों के सम्प्रदायों को अलग-अलग टुकड़ों में बाँट लिया जाता है और उनमें से एक-एक के आशयों का अध्ययन किया जाता है।

लवज्वाय ने ये जो विशेष सीमाएँ खींची हैं उनका समर्थन **अस्तित्व की महान् परम्परा** जैसे विशिष्ट अध्ययन के आधार के रूप में तो हर तरह से किया जा सकता है पर सामान्य रूप में ये हमें पूर्णतः सहमत नहीं कर पाते। दार्शनिक संकल्पनाओं का इतिहास पूरी तरह से दर्शन के इतिहास में ही आता है और इसी रूप में इसे हेगल और विंडलबैंड ने बहुत पहले ही से शामिल किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूरे तन्त्र से विचारों की इकाइयों को अलग करके उनका अध्ययन करना उतना ही एकांगी है जितना साहित्य के इतिहास को पद्य-रचना, शब्दयोजना, या विम्ब-विधान के इतिहास तक सीमित कर लेना हो सकता होगा। इसके अतिरिक्त साहित्य के इतिहास में—विशेषतः जब उसमें पैस्कल, एमर्सन, नीत्शे जैसे लेखकों का विवेचन किया जा रहा हो—बौद्धिक इतिहास की समस्याओं का निरन्तर विवेचन करते रहना होता है। सचाई तो यह है कि आलोचना का इतिहास सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के इतिहास का ही एक अंग है—कम से कम यदि समकालीन कृतियों के सन्दर्भ से अलग,

इसके अपने स्वरूप का विवेचन किया जाय तो यह सौन्दर्यशास्त्रीय इतिहास का अंग बन ही जाता है।

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि अंग्रेजी साहित्य का इस तरह का विवेचन किया जा सकता है जिसमें दर्शन के इतिहास की झलक मिल सके। पुनर्जागरणकालीन प्लेटोवाद एलिज़बेथकालीन कविता में भरा पाया जाता है। स्पेंसर ने अपनी चार कविताओं में भौतिक तत्वों से स्वर्गीय सौन्दर्य तक पहुँचने के नव्य-प्लेटोवादी ऊर्ध्वक्रम का वर्णन किया है। **फेयरी क्वीन** में उसने प्रकृति और नश्वरता के झगड़े को खत्म करते हुए एक नित्य, अपरिवर्त्तनीय व्यवस्था का समर्थन किया है। मार्लो में हमें समकालीन इटालवी नास्तिकता और सन्देहवाद की झंकृति सुनाई देती है। यहाँ तक कि शेक्सपियर में भी पुनर्जागरणकालीन प्लेटोवाद के अनेक चिन्ह मिलते हैं जिसका उदाहरण **ट्रायलस** में युलिसिस का प्रसिद्ध व्याख्यान है। इसके साथ ही शेक्सपियर में माण्टेन और स्टोइक (सुखवादी) दार्शनिकों के भी कुछ क्षीण स्वर सुनाई देते हैं। उनकी संवेदना पर नये विज्ञान की कितनी गहरी छाप पड़ी थी, इसकी खोज तो हम कर ही सकते हैं, साथ ही पादरियों और तार्किकों का उसने जो अध्ययन किया है, उसे भी देख सकते हैं। मिल्टन ने स्वयं ही एक बिल्कुल निजी धर्मशास्त्र और सृष्टि-विज्ञान निकाला था जिसका एक अर्थ यह भी किया जाता है कि इसमें भौतिकतावादी और अफलातूनी दोनों तत्वों का समन्वय किया गया है, और इन दोनों को प्राच्य चिन्तन और नैतिकतावादियों आदि जैसे समकालीन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की भूमि पर उतारा गया है।

ड्राइडन ने दार्शनिक कविताएँ लिखी थीं जिनमें अपने समय के धर्मशास्त्रीय और राजनैतिक विवादों का विवेचन किया गया है और जिससे इस बात की साफ झलक मिलती है कि उसे प्रतिबुद्धिवाद, आधुनिक विज्ञान, सन्देहवाद और द्वैतवाद की जानकारी थी। टाम्सन को एक ऐसी पद्धति का आख्याता माना जा सकता है जिसमें न्यूटनवाद और शैफ्ट्सबरी के विचारों का समन्वय किया गया है। पोप के **एसे ऑन मैन** में दार्शनिक अनुगूंज भरी पड़ी है। ग्रे ने लॉक के सिद्धान्तों को लैटिन हेक्सामीटर (एक छन्द) में पद्यबद्ध किया था। लारेन्स स्टर्न लॉक के घोर प्रशंसकों में था और **ट्रिस्ट्रम शैण्डी** में आदि से अन्त तक उसने लॉक के साहचर्य और काल सम्बन्धी विचारों का हास्य के लिए प्रयोग किया है।

स्वच्छन्दतावादी कवियों में कॉलरिज स्वयं भी काफी महत्त्वाकांक्षी दार्शनिक था और इस दिशा में उसे कुछ प्रतिष्ठा भी प्राप्त है। काण्ट और शेलिंग का उसने बहुत गहन अध्ययन किया था और उसने उनके विचारों का प्रतिपादन किया है, हालाँकि ऐसा सर्वत्र आलोचनात्मक ढंग से नहीं किया है। हालाँकि कोलरिज की कविताओं पर उसके व्यवस्थित दर्शन का बहुत क्षीण रंग नजर आता है पर उसके माध्यम से अनेक जर्मन और नव्य-अफलातूनी विचारों को अंग्रेजी काव्य परम्परा में पहली बार प्रवेश मिला या उनकी एक और लहर आई। काण्ट का कुछ असर वर्ड्सवर्थ पर भी दिखाई देता है और इस बात का भी दावा किया जाता है कि उसने हार्टले के मनोविज्ञान का बहुत गहन अध्ययन कर रखा था। शैले पर पहले तो अठारहवीं शताब्दी के फ्रान्सीसी दार्शनिकों और उनके अंग्रेज अनुयायी गाडविन का गहरा प्रभाव पड़ा था लेकिन बाद में उसने स्पाइनोजा, बार्कली और प्लेटो के विचारों को आत्मसात् कर लिया था।

विज्ञान और धर्म के बीच विक्टोरिया काल में जो विवाद चला था उसकी बहुत खुली अभिव्यक्ति टेनिसन और ब्राउनिंग की कविताओं में मिलती है। स्विनबर्न और हार्डी की कविताओं में अपने समय की निराशावादी नास्तिकता झलकती है, जब कि हाप्किन्स पर डन्स स्काउटस का असर है। जार्ज ईलियट ने फ्वारबैक और स्ट्रास की कृतियों का अनुवाद किया था, शा सैमुअल बटलर औ नीत्शे का अध्ययन किया करते थे। बिल्कुल हाल के लेखकों ने फ्रायड को या उनके विषय में पढ़ा है। ज्वायस केवल फ्रायड और युंग को ही नहीं जानते थे अपितु उन्होंने वाइसो, जीआर्डेनो ब्रूनो का और निःसन्देह टामस ऐक्विनास का भी अध्ययन किया था। येट्स पर थियोसोफी, रहस्यवाद और यहाँ तक कि बर्कली का भी गहरा प्रभाव था।

दूसरे साहित्यों में इस तरह की समस्याओं का अध्ययन संभवतः अधिक प्रचुरता में हुआ है। दान्ते के धर्मशास्त्र के अनगिनत अर्थ लगाये गये हैं। फ्रान्स में ई० गिल्सन ने मध्यकाल के दर्शन विषयक अपने पाण्डित्य का प्रयोग रैबले और पैस्कैल के अंशों की टीका करने में किया है। पाल हैजार्ड ने सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में बड़े कौशल से यूरोपीय नैतिक चेतना की संक्रान्ति पर एक पुस्तक लिखी थी जिसमें उन्होंने नवचेतना के विस्तार की छानबीन की थी और इसके बाद की एक पुस्तक में उन्होंने समूचे यूरोप में इन विचारों की स्थापना की खोज की थी। जर्मनी में इस विषय में बहुत से अनुसंधान-

कार्य हुए हैं जिनमें शिलर पर काण्ट का प्रभाव, गेटे का प्लाटिनस और स्पाइनोज़ा से, क्लीस्ट का काण्ट से, हेबल का हैगल से सम्पर्क दिखाया गया है या ऐसे ही दूसरे विषयों का अध्ययन किया गया है। जर्मनी में विशेषतः स्वच्छन्दतावादी काल में फिक्टे, शेलिंग और हैगेल कवियों के साथ मिल-जुल कर रहते थे और तब हाल्डरलिन जैसे शुद्ध कवि भी प्रमाण मीमांसा और अध्यात्म जैसे प्रश्नों पर विधिवत् मनन करना जरूरी मानते थे। रूस में दोस्तोएव्सकी और ताल्सताय की चर्चा अनेक बार उन्हें महज एक धार्मिक चिन्तक मान कर की गयी है, और यहाँ तक कि पुश्किन की भी ऐसी व्याख्या की गयी है जिसमें उन्हें चिन्तक ठहराया गया है। प्रतीकवादी आन्दोलन के समय में रूस 'तात्विक आलोचकों' का एक सम्प्रदाय उठ खडा हुआ था जो साहित्य की व्याख्या अपनी निजी दार्शनिक स्थापनाओं के आधार पर करते थे। रोजनोफ, मरखोव्स्की, शेस्टोफ, बर्दयेफ, याचेस्लाव इवानोफ इन सभी ने दोस्तोएव्स्की पर या उसकी रचनाओं आदि पर लिखा है। कहीं-कहीं तो इन लोगों ने उसके ग्रन्थों का उपयोग सिर्फ अपना सिद्धान्त बघारने के लिए और कभी उसको एक विचार पद्धति में बदलने का प्रयत्न करने में किया है पर उन्होंने शायद ही कहीं इस बात का ध्यान रखा होगा कि वह एक उपन्यासकार भी था।

लेकिन इस तरह के अध्ययनों के अन्त में, और अच्छा हो कि आरंभ में ही कुछ सवाल खड़े कर लिये जायें जिनका साफ-साफ उत्तर प्रायः नहीं दिया जाता है। किसी कवि की कृतियों में दार्शनिकों के विचारों की झलक से उस लेखक के, और विशेष रूप से शेक्सपियर जैसे किसी लेखक के अपने विचारों का निश्चित पता कहाँ तक चल पाता है? कवि और दूसरे लेखक दार्शनिक विचारों को कितने स्पष्ट और व्यवस्थित ढंग से मानते थे? क्या यह मानना कि बीती सदियों के हर लेखक का एक व्यक्तिगत दर्शन हुआ करता था, वह महसूस करता था कि उससे इस बात की माँग की जाती है, या वह ऐसे लोगों के बीच रहता था जो व्यक्तिगत ढंग के विचारों को प्रोत्साहित करते थे, या इसमें रुचि लेते थे, प्रायः बहुत घटिया दर्जे का कालदोष नहीं हुआ करता? क्या साहित्य के इतिहासकार अभी हाल तक के लेखकों के दार्शनिक विश्वासों की संगति, स्पष्टता और व्याप्ति को अक्सर बहुत अधिक तूल नहीं दे बैठते हैं?

यहाँ तक कि यदि हम ऐसे लेखकों की बात सोचें जो बहुत अधिक आत्मसजग रहे हैं, और इक्के-दुक्के मामलों में स्वयं भी दार्शनिक चिन्तक रहे हैं

और जिन्होंने ऐसी कविताएँ लिखी हैं जिन्हें 'दार्शनिक' कहा जा सकता है, तो भी हमें ये सवाल करने होंगे : क्या कविता अधिक दार्शनिक होने के कारण ही अच्छी कविता हो जाती है? क्या कविता का मूल्यांकन उस दर्शन के मूल्यों को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए जिसे इसमें अपनाया गया है, या इस बात के आधार पर कि जिस दर्शन को अपनाया गया है उसमें लेखक की पैठ कितनी है? या, क्या इसका मूल्यांकन दार्शनिक मौलिकता के आधार पर किया जाना चाहिए—इस आधार पर कि इसमें पम्परागत चिन्तन में कितना सुधार लाया गया है? टी० एस० ईलियट ने शेक्सपियर की तुलना में दान्ते को अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि उन्हें दान्ते का दर्शन शेक्सपियर से अधिक प्रौढ़ मालूम हुआ था। एक जर्मन दार्शनिक हर्मन ग्लाकनर का तर्क है कि कविता और दर्शन के बीच उससे अधिक अलगाव अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता जितना दान्ते में पाया जाता है, क्योंकि दान्ते ने एक पूरी विचार पद्धति को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया था और उसमें उसने किसी तरह का परिवर्त्तन नहीं किया। कविता और दर्शन के बीच सच्चा गठबन्धन यूनान के सुकरात से पहले के एम्पिडोक्लीज जैसे कवि-चिन्तकों में, या पुनर्जागरण काल में पाया जाता है जब फीसिनो या गियोनाडो ब्रूनो ने कविता और दर्शन, काव्यदर्शन या दार्शनिक काव्य लिखा, और इसके बाद आकर गेटे में पाया जाता है जो कवि होने के साथ ही साथ एक मौलिक दार्शनिक भी था।

लेकिन क्या इस तरह के दार्शनिक मानदण्ड साहित्यिक आलोचना के मानदण्ड बनाये जा सकते हैं? क्या पोप की रचना **एसे आन मैन** की भर्त्सना इसलिए की जानी चाहिए कि इसके स्रोतों में उदारतावाद और अलग-अलग अंशों में तो सुसम्बद्धता पाई जाती है परन्तु इसकी समग्रता में कुल मिला कर असंगतियाँ पाई जाती हैं? क्या शैले को इस आधार पर अच्छा या बुरा कवि कहा जा सकता है कि अपने जीवन के एक खास समय में वह गाडविन के अनगढ़ भौतिकवाद से एक तरह की अफलातूनी प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हुआ था? नयी पीढ़ी के पाठकों का कुछ ऐसा अनुभव है कि शैले की कविताएँ अस्पष्ट, नीरस और उबाऊ हैं। क्या उनके मन पर पड़ने वाली इस छाप का खण्डन यह सिद्ध करके किया जा सकता है कि यदि इन कविताओं का ठीक से अर्थ किया जाये तो उसके दर्शन में कुछ सार नजर आयेगा, या यह या वह अंश निरर्थक नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध उसके समय

के अमुक वैज्ञानिक या किंचित् वैज्ञानिक अवधारणा से है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सभी मानदंड बौद्धिक नासमझी पर, दर्शन और कला के कार्यों में घालमेल करने पर, साहित्य में विचारों को वस्तुतः किस तरह प्रवेश मिलता है इसे न समझ पाने पर आधारित हैं।

दार्शनिक पद्धति की इस अतिशय बौद्धिकता के विरुद्ध इन आपत्तियों को खास तौर से जर्मनी में विकसित कुछ पद्धतियों में ध्यान रखा गया है। रुडोल्फ-अंगर ने (डिल्थे के विचारों का उपयोग करते हुए) बहुत साफ ढंग से एक ऐसी पद्धति की हिमायत की है जिसका प्रयोग बहुत पहले से होता आया था, पर जिसकी पूरी संभावनाओं का विधिवत् उपयोग नहीं किया गया था। उनका यह तर्क बिल्कुल दुरुस्त है कि साहित्य बिम्ब और पद्य में रूपान्तरित दर्शन नहीं है, अपितु साहित्य जीवन के प्रति एक सामान्य भावना की अभिव्यक्ति करता है, कि कवि आम तौर पर उन्हीं समस्याओं का बेतरतीब ढंग से समाधान करते हैं जो दर्शन का विषय होती हैं, पर कवियों के उत्तर अलग-अलग युगों और परिस्थितियों में अलग-अलग हुआ करते हैं। अंगर ने इन 'समस्याओं' का वर्गीकरण किंचित् मनमाने ढंग से नीचे लिखे रूप में किया है: भाग्य की समस्या जिसका अर्थ उन्होंने स्वतंत्रता और आवश्यकता, आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध माना है; धार्मिक समस्या जिसमें ईसामसीह की व्याख्या और मुक्ति तथा पाप के प्रति दृष्टिकोण भी आता है; प्रकृति की समस्या जिसमें प्रकृति के प्रति मोह जैसे प्रश्न तो आयेंगे ही लेकिन साथ ही पुराण-कथाएँ और जादू आदि से सम्बन्धित प्रश्न भी आयेंगे। समस्याओं के अगले समूह को अंगर मनुष्य की समस्यायें कहते हैं। इसका सम्बन्ध मनुष्य की संकल्पना विषयक प्रश्नों से है पर साथ ही ऐसे प्रश्नों से भी है कि मनुष्य का मृत्यु से क्या सम्बन्ध है, उसकी प्रेमविषयक संकल्पना क्या है; और अन्ततः कुछ समस्याओं का सम्बन्ध समाज, परिवार और राज्य से है। लेखकों के दृष्टिकोण का अध्ययन इन्हीं समस्याओं के सन्दर्भ में किया जा सकता है और कुछ ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें इन समस्याओं के इतिहास का एक कल्पित स्वाभाविक विकास के रूप में पता लगाने का प्रयत्न किया गया है। वाल्टर रेम ने एक बहुत बड़ी पुस्तक जर्मन कविता में मृत्यु की समस्याओं पर लिखी है। पॉल बलकोन ने अठारहवीं शताब्दी और स्वच्छन्दतावादी युग में प्रेम की अवधारणा पर एक ग्रन्थ लिखा है।

दूसरी भाषाओं में भी इसी तरह की पुस्तकें मिलती हैं। मैरियो प्राज़

की पुस्तक **रोमैण्टिक एगोनी** को, जैसा कि इटालवी भाषा में इसके शीर्षक **स्वच्छन्दतावादी साहित्य में काया, मृत्यु और शैतान** से जाहिर है, और मृत्यु पर आधारित पुस्तक कहा जा सकता है। सी० एस० की पुस्तक **ऐलिगरी आफ लव** अलंकार-विधान का इतिहास तो है ही साथ ही इसमें प्रेम और विवाह के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण के बारे में भी बहुत कुछ लिखा गया है, और थियोडोर स्पेंसर ने **डेथ एण्ड एलिज़बेथन ट्रैजेडी** (मृत्यु और एलिज़-बेथयुगीन त्रासदी) पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें भूमिका भाग में पुनर्जाग-रण काल की तुलना में मध्यकाल की मृत्यु सम्बन्धी संकल्पनाओं की खोज की गयी है। इसका सिर्फ एक ही उदाहरण दें, मध्यकाल के लोग आकस्मिक मृत्यु से सबसे अधिक खौफ खाते थे क्योंकि मौत के पहले इसकी तैयारी और पश्चाताप होना जरूरी है, जबकि माण्टेन सोचते हैं कि आकस्मिक मृत्यु सबसे अच्छी होती है। उसके सामने अब यह ईसाई दृष्टिकोण नहीं रह गया था कि मौत ही जीवन का लक्ष्य है। एच० एन० फेयरचाइल्ड ने अंग्रेजी की अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी की कविता की धार्मिक प्रवृत्तियों की खोज इन दोनों शताब्दियों के लेखकों को धार्मिक जोश के आधार पर बाँटते हुए की है। फ्रान्स में एव्वी ब्रेमाण्ड के ग्रन्थ **हिस्ट्री आफ द रिलिजस सेण्टीमेण्टस इन द सेवण्टीन्थ सेंचुरी** में अधिकांश सामग्री साहित्य से ही ली गई है; और मांगलां और त्राहार्द ने भावुकता, प्रकृति के प्रति स्वच्छन्दतावाद से पहले का लगाव और फ्रान्सीसी क्रान्तिकारियों की कृतियों में पाई जाने वाली विलक्षण संवेदनशीलता का बहुत सुन्दर अध्ययन किया है।

यदि अंगर की सूची का सर्वेक्षण किया जाये तो कि उन्होंने जो समस्यायें गिनाई हैं, उनमें से कुछ निरी दार्शनिक, सैद्धान्तिक समस्यायें हैं जिनको देखते हुए सिडनी के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'कवि सिर्फ एक लोकप्रिय दार्शनिक रहा है', जबकि दूसरी समस्यायें या तो भावुकता या संवेदनशीलता के इतिहास में आती हैं न कि वैचारिक इतिहास में। कभी-कभी तो सिद्धान्त-मूलक समस्यायें शुद्ध भावनात्मक समस्याओं से आ मिलती हैं। मनुष्य का प्रकृति के प्रति जो दृष्टिकोण होता है उस पर सृष्टि-विज्ञान और धार्मिक चिन्तन का गहरा प्रभाव तो पड़ता ही है साथ ही इस पर सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं, साहित्यिक रूढ़ियों और संभवतः देखने के ढंग में हुए शरीर क्रियात्मक परिवर्त्तनों का भी प्रभाव पड़ता है। लैण्ड्सकेप (भूदृश्य) से कैसी अनुभूति होनी चाहिए, यह बात हालाँकि यात्रियों, चित्रकारों और बागीचों

का डिजाइन बनाने वाले ही तय करते हैं, परन्तु मिल्टन और टामसन जैसे कवि और रस्किन जैसे लेखकों का भी इस पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

भावुकता का इतिहास लिखने में बहुत कठिनाइयाँ उठ खड़ी होंगी, क्योंकि भावुकता की ठीक-ठीक पकड़ नहीं हो सकती, और इसके साथ ही इसमें उतार-चढ़ाव नहीं हुआ करता है। जर्मनों ने निश्चित रूप से मानव भावनाओं में होने वाले परिवर्तनों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बखाना है, और इसके विकास की एक रूपरेखा तैयार की है जो सुलझी होते हुए भी सन्देहास्पद लगती है। इसके बावजूद, इस विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि भावना में परिवर्त्तन होते रहते हैं; कम से कम इसकी अपनी रूढ़ियाँ और फैशन तो होते ही हैं। बाल्ज़क ने बड़े विनोदी स्वर में एम ह्यूलाट को जिनकी प्रेम के प्रति दृष्टि में अठारहवीं शताब्दी का छिछलापन पाया जाता है और जो मदाम मानेफ की दृष्टि से भिन्न है जिनके सामने पुनःस्थापन काल की गरीब और कमजोर महिलाओं की नई रूढ़ि है, टिप्पणी की है। अठारहवीं शताब्दी के पाठकों और लेखकों की आँखों से बहने वाली आँसुओं की धारा तो साहित्य के इतिहास की एक आम सी बात थी। गिलर्ट जो जर्मनी के एक काफी बुद्धिजीवी और प्रतिष्ठित कवि माने जाते हैं, ग्रैण्डिसन और क्ली-मेण्टाइन के वियोग पर तब तक रोते रहे जब तक उनका रूमाल, किताब, मेज, और यहाँ तक कि फर्श भी भींग नहीं गया, और उन्होंने एक पत्र में इसका उल्लेख बड़े गर्व से किया था। और डाक्टर जान्सन जैसे आदमी तक, जिनके हृदय को बहुत कोमल नहीं बताया जाता है कम से कम उनके वर्ग में आने वाले हमारे समसामयिक बुद्धिजीवियों की तुलना में बहुत बेताब होकर रोने-सिसकने लगते थे।

व्यक्तिगत लेखकों का अध्ययन करते हुए भी अंगर का किंचित् भावु-कतापूर्ण दृष्टिकोण एक दृष्टि से अधिक सुविधाजनक है, क्योंकि ऊपरी तौर पर गढ़े गए विचारों और भावनाओं का इसमें बहुत अधिक खोल कर बयान नहीं किया गया है। किसी कलाकृति की विषयवस्तु को निरे सूत्रों और तथ्य-कथन पर लाकर उतार देने का खतरा इसमें बहुत कम है।

इन भावनाओं के अध्ययन के फलस्वरूप कुछ जर्मन दार्शनिक इस चिन्ता में लगे हैं कि क्या इन्हें कुछ निश्चित प्रकार के भावदर्शनों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इस दिशा में सबसे सफल प्रयास डिल्थे ने किया है जिसमें साहित्य के इतिहासकार के रूप में सदा से अनुभव और विचार के पारस्परिक

अन्तर पर बहुत अधिक बल दिया है। उनकी दृष्टि में इतिहास में इसके तीन मुख्य टाइप मिलते हैं : प्रत्यक्षवाद (पाजीटिविज्म) जिसका स्रोत डेमाक्रिटस और लुक्रिटस से होता है और जिसमें हाब्स, फ्रान्सीसी विश्वकोशकार, आधुनिक पदार्थवादी और प्रत्यक्षवादी आते हैं। वस्तुवादी आदर्शवाद, जिसमें हेराक्लिटस, स्पाइनोज़ा, लीबनिज़, शेलिंग और हेगल आते हैं; और द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद, या 'स्वाधीनता का आदर्शवाद' जिसमें प्लेटो, ईसाई धर्मशास्त्री, काण्ट और फिक्टे आते हैं। इसमें पहला वर्ग आत्मिक तत्वों की व्याख्या भौतिक आधार पर करता है, दूसरा वर्ग यथार्थता को एक आन्तरिक यथार्थता की अभिव्यक्ति मानता है और भाव तथा मूल्य में किसी तरह के द्वन्द्व को स्वीकार नहीं करता, तीसरा आत्मा को प्रकृति से स्वतंत्र मानता है। इसके बाद डिल्थे विशिष्ट लेखकों को इन टाइपों से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। बाल्जक और स्तांदाल पहले टाइप में आते हैं; गेटे दूसरे टाइप में और शिलर तीसरे में। यह वर्गीकरण मात्र सायास स्वीकृति और घोषणा पर आधारित नहीं है अपितु यह माना जाता है कि इसका पता नितान्त अबौद्धिक कला से भी लगाया जा सकता है। ये टाइप सामान्य मनोवैज्ञानिक भावना से भी जुड़े हुए हैं। इस तरह यथार्थवाद का लगाव बौद्धिक प्राधान्य से है, वस्तुवादी आदर्शवाद का भावनाओं की प्रधानता से और द्वैतात्मक आदर्शवाद का संकल्प की प्रधानता से है।

हर्मन नोल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये टाइप चित्रकला और संगीत पर भी लागू हो सकते हैं। रेम्ब्रां और रुबेन्स वस्तुवादी आदर्शवादियों की कोटि में आते हैं; वेलास्कस और हाल्स जैसे चित्रकार यथार्थवादियों की कोटि में और माइकेल ऐंजेलो आत्मवादी आदर्शवादियों की कोटि में आते हैं। बेलिओज़ पहली श्रेणी में, शुबर्ट दूसरी में और बीथोवन तीसरी में आते हैं। संगीत और चित्रकला के विषय में दिया गया तर्क बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि ये तीनों टाइप साहित्य में भी बाह्य रूप से किसी बौद्धिक विषयवस्तु के अभाव में भी विद्यमान रह सकते हैं। अंगर ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ये अन्तर मोरिक, सी० एफ० मीयर और लिलयनक्रान की छोटी गीति रचनाओं के ऊपर भी इसी तरह लागू होता है। अंगर और नोल ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऐसे उपन्यासों में भी जिनमें किसी तरह की सामाजिक विषयवस्तु नहीं पाई जाती, केवल शैली या दृश्यों के हवाले से भी भावदर्शन का पता लगाया जा

सकता है। यहाँ पहुँच कर यह सिद्धान्त बदल कर मूलभूत कलात्मक शैलियों के सिद्धान्त का रूप ले लेता है। वैंज़ेल ने इसे वोल्फलिन के **ललित कलाओं के इतिहास के सिद्धान्त (प्रिन्सिपल आफ आर्ट हिस्ट्री)** से और ऐसे टाइपों का अध्ययन करने वाले ऐसे ही दूसरे ग्रन्थों से जोड़ने की चेष्टा की है।

ये चिन्तन बहुत रोचक हैं और यहाँ जिस सिद्धान्त का विवेचन किया गया है, जर्मनी में उसके अनेक रूपों का आविर्भाव हुआ है। इनको साहित्य के इतिहास पर भी लागू किया गया है। उदाहरण के लिए वाल्ज़ल को उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मनी में, और संभवतः समस्त यूरोपीय साहित्य में, एक स्पष्ट विकास दिखाई देता है: पहले दूसरा टाइप (गेटे और स्वच्छन्दतावादियों का वस्तुवादी आदर्शवाद), फिर पहला टाइप (यथार्थवाद) जो धीरे-धीरे दृश्य जगत् के प्रति अधिक सजग होता जाता है और प्रभाववाद का रूप ले लेता है, और अंत में तीसरा टाइप जो अभिव्यंजनावाद के एक आत्मपरक द्वैतात्मक आदर्शवाद के रूप में आता है। वाल्ज़ल की पद्धति में यह ही नहीं बताया गया है कि अमुक अमुक परिवर्त्तन हुए हैं बल्कि यह भी बताया गया है कि अमुक परिवर्त्तन एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और इस तरह इनका होना बिल्कुल स्वाभाविक है। विश्वदेवतावाद एक खास अवस्था में पहुँच कर प्रकृतिवाद में, और प्रकृतिवाद प्रभाववाद में बदल जाता है, और प्रभाववाद की आत्मपरकता एक नये आदर्शवाद में पर्यवसित हो जाती है। यह पूरा क्रम द्वन्द्वात्मक है और इसकी चिन्तन पद्धति हेगेल से मिलती-जुलती है।

यदि इन विवेचनों पर हम शान्त मन से विचार करें तो हमें इनके सुथरेपन के कारण ही इन पर सन्देह होगा। हमें यह शंका भी होगी कि इन टाइपों की संख्या क्या तीन ही होनी जरूरी है। उदाहरण के लिए, स्वयं अंगर ने वस्तुवादी आदर्शवाद के दो भेद माने हैं; इनमें से एक में समरसता पाई जाती है जिसका प्रतिनिधित्व गेटे करते हैं, और दूसरा, जिसका प्रतिनिधित्व बोईम, शेलिंग और हेगेल करते हैं, द्वन्द्वात्मक है। इसी तरह के आक्षेप 'प्रत्यक्षवाद' के विविध प्रकारों को लेकर भी उठाये जा सकते हैं, जिनमें ऐसे बहुत से दृष्टिकोणों को समेटा गया है जो आपस में काफी अनमेल पड़ते हैं। लेकिन इस वर्गीकरण की एक-एक बात को लेकर उठाये जाने वाले आक्षेपों से अधिक महत्त्वपूर्ण है इस उपक्रम के पीछे लगी समग्र अवधारणा के विषय में की जाने वाली आशंका। इस तरह के प्रकार-भेद के परिणामस्वरूप साहित्य को मोटे तौर पर तीन वर्गों में या अधिक से अधिक पाँच-छह शीर्षकों में बाँटते हैं।

इसमें किसी कवि या कृति की अपनी असल विशिष्टता की या तो उपेक्षा कर दी जाती है या उनका महत्त्व बहुत घटा दिया जाता है। ब्लेक, वर्ड्सवर्थ और शैले जैसे परस्पर भिन्न कवियों को यदि 'वस्तुवादी आदर्शवादियों' की कोटि में रखा भी जाये तो साहित्यिक दृष्टि से इससे कोई खास लाभ नहीं होगा। कविता के इतिहास को तीन या अधिक प्रकार के भावदर्शनों में बाँट देने में कोई तुक नजर नहीं आता। अन्ततः इस सिद्धान्त में उग्र और अतिशय सापेक्षतावाद का भाव लगा हुआ है। इसके पीछे यह धारणा अवश्य लगी है कि ये तीनों प्रकार समान महत्त्व के हैं और कोई भी कवि अपनी भावना, या विश्व के प्रति मूलतः तर्कहीन और पूर्वनिश्चित प्रवृत्ति के आधार पर इनमें से किसी एक को चुनने को लाचार है। इसका अर्थ यह भी है कि कवि केवल इतने ही प्रकार के होते हैं, और प्रत्येक कवि को इनमें से किसी एक प्रकार का नमूना माना जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह समूचा सिद्धान्त इतिहास के एक सामान्य दर्शन पर आधारित है, जिसमें यह मान लिया जाता है कि न केवल अलग-अलग कृतियों में बल्कि एक काल और इतिहास में भी कला और दर्शन के बीच एक निकट और अनिवार्य सम्बन्ध हुआ करता है। यहाँ हमें गेस्ट्सजेशिष्ट की मान्यताओं की चर्चा कर लेनी होगी।

गेस्ट्सजेशिष्ट (मानस इतिहास) का प्रयोग व्यापक रूप में बौद्धिक इतिहास के लिए, लवज्वाय के विचारों के इतिहास के लिए किया जा सकता है और इस शब्द के साथ यह सुविधा है कि बौद्धिक इतिहास की अपेक्षा इसका कुछ कम बौद्धिकीकरण किया गया है। **गेस्ट** (मानस) अधिक व्यापक शब्द है जिसमें वे समस्यायें भी आ जाती हैं जिन्हें प्रायः भावना के इतिहास के अन्तर्गत माना जाता है। परन्तु **गेस्ट** का 'वस्तुपरक भावना' की समूची अवधारणा से बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं है। लेकिन **गेस्ट्सजेशिष्ट** शब्द जर्मनी में अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसमें यह माना जाता है कि हर युग की अपनी एक आत्मा होती है और इसका लक्ष्य होता है किसी युग के धर्म से लेकर पोशाक तक की विविध बाह्य अभिव्यक्तियों के आधार पर उस युग की आत्मा का पुर्ननिर्माण करना। हम लोग वस्तुओं के पीछे लगी हुई उस समग्रता की खोज करते हैं और सभी तथ्यों की व्याख्या उस काल की आत्मा को ध्यान में रख कर करते हैं।[1]

१—एच० जी० एपलशाइमर।

इसमें यह माना जाता है कि समस्त सांस्कृतिक और अन्य सभी मानवीय क्रियाएँ एक दूसरे से बिल्कुल लगी जुड़ी होती हैं और समस्त कलाएँ और विज्ञान एक समानान्तर धरातल पर चलते हैं। इस पद्धति का आरंभ श्लेगल के साथ हुआ था और इसके सबसे विख्यात और जोरदार हिमायती स्पेंग्लर हुए हैं। लेकिन इसे मानने वाले कुछ अकादमिक लोग भी रहे हैं जो पेशे से साहित्य के इतिहासकार रहे हैं और जिन्होंने इसका प्रयोग अधिकांशतः साहित्यिक सामग्री के ऊपर किया है। कोर्फ जैसे कुछ विद्वानों ने बहुत संयम और औचित्य से किया है। कोर्फ ने १७५० से १८३० तक के जर्मन साहित्य के इतिहास का अध्ययन किया है और इसमें यह सिद्ध किया है कि जर्मन साहित्य तर्कसंगति और अतर्कसंगति के द्वन्द्व के मार्ग से आगे बढ़ता हुआ हेगल के समन्वय की ओर अग्रसर हुआ है। उधर साइसार्ज, डेट्सबिन, स्तेफान्स्की और माइस्नर जैसे लोगों ने बिल्कुल हवाई, अस्पष्ट, अर्ध-रहस्यवादी और शब्दाडम्बरपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। यह पद्धति मुख्यतः सादृश्य पर आधारित है जिसमें ऋणात्मक और धनात्मक दोनों तरह के सादृश्य आते हैं। ऋणात्मक सादृश्य में किसी विशेष युग में पाई जानेवाली भिन्नताओं पर बल दिया जाता है जबकि समानताओं को भुला दिया जाता है और धनात्मक सादृश्य में किसी विशेष काल की घटनाओं और रचनाओं की समानताओं पर बल दिया जाता है तथा भिन्नताओं को भुला दिया जाता है। इस तरह का बौद्धिक चमत्कार प्रदर्शित करने के लिए प्रायः रोमाण्टिक काल और बैरक काल को ही चुना गया है।

इसका एक अच्छा उदाहरण बैरक काल के साहित्य पर लिखी इजनर की पुस्तक है जिनमें इस काल की मूल प्रकृति परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का संघर्ष मानी गयी है और इस मान्यता को बड़ी कठोरता से उद्योग विद्या से लेकर अन्वेषणों तक पर्यटन से लेकर धर्म तक के समस्त मानव-क्रिया-कलाप पर लागू किया गया है। समस्त सामग्री को प्रसार और संकेन्द्रण, ब्रह्माण्ड और पिण्ड, पाप और मोक्ष, विश्वास और तर्क, निरंकुशता और लोकतंत्र जैसी श्रेणियों में बड़े कटे-छँटे रूप में रखा गया है। इस तरह के सार्वदेशिक साम्य दिखाते हुए माइजनर बड़े आत्मविश्वास से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बैरक काल की समस्त अभिव्यक्तियों में संघर्ष, अन्तर्विरोध और तनाव पाया जाता है। अपने समानधर्माओं की तरह ही माइजनर कभी यह बुनियादी सवाल नहीं पूछते कि इसी तरह की विरोधी प्रवृत्तियाँ किसी भी दूसरे

ाल में ढूँढ़ी जा सकती हैं या नहीं। वे यह प्रश्न भी नहीं उठाते कि अपने वंशद अध्ययन के बल पर उन्होंने जो उद्धरण चुने हैं, उनके बल पर ही या सत्रहवीं शताब्दी में इनसे सर्वथा भिन्न विरोधी प्रवृत्तियाँ सिद्ध की जा ाकती हैं या नहीं।

इसी तरह कोर्फ अपने ग्रन्थ में हर चीज को 'तर्कसंगति या बुद्धिवाद' और 'अतर्कसंगति या भावुकता' के पक्ष और प्रतिपक्ष में बाँट कर उनका समन्वय 'स्वच्छन्दतावाद' में दिखाते हैं। कोर्फ के विवेचन में तर्कनावाद झट 'क्लासिकीवाद' का बाना पहन लेता है और अतर्कनावाद आवेश और संकोच (स्टौर्म और स्ट्रेस) का रूप ले लेता है जब कि जर्मन स्वच्छन्दतावाद को इन दोनों का समन्वय सिद्ध किया जाता है। जर्मन भाषा में इस तरह की विरोधी प्रवृत्तियों को लेकर अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं जिनमें कैसीरर और साइसार्ज की पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। कैसीरर ने जहाँ बहुत सन्तुलित विवेचन प्रस्तुत किया है वहीं साइसार्ज ने बहुत तोड़-मरोड़ की है। कुछ जर्मन लेखकों ने इन वैचारिक प्रकार-भेदों को या तो जातीय टाइपों से जोड़ा है या इनको निरे जातीय टाइपों के रूप में ही देखा है। जर्मन या कम से कम ट्यूटन भावुक सिद्ध किये गये हैं, जब कि लातीनी लोगों को तर्कना प्रधान माना गया है; या इसी तरह ये टाइप शैतानी और बौद्धिक टाइपों की तरह मूलतः मनोवैज्ञानिक हो सकते हैं। अन्ततः ये वैचारिक टाइप शैलीगत संकल्पनाओं का स्थान ले सकते हैं। ये क्लासिकी और स्वच्छन्दतावादी, बैरक और गाथिक प्रवृत्तियों में पर्यवसित हो जाते हैं और इनके कारण एक विशाल साहित्य का जन्म होता है जिसमें नृतत्व, मनोविज्ञान, विचारशास्त्र और ललित कला का इतिहास एक-दूसरे में बिल्कुल उलझे हुए दिखाये जाते हैं।

लेकिन किसी एक काल या जाति या कलाकृति को सर्वथा एकनिष्ठ मानना बहुत आपत्तिजनक है। ललित कलाओं में भी बहुत से अपवादों के साथ ही समानान्तर प्रवृत्तियों का होना स्वीकार किया जा सकता है। कविता और दर्शन में समानान्तर प्रवृत्तियों के विषय में तो और भी आशंका की जा सकती है। इस प्रसंग में हमें अंग्रेजी की स्वच्छन्दतावादी कविता की ओर ध्यान देना होगा जिसका बोलबाला उस काल में था जब अंग्रेजी और स्काट दर्शनों पर सामान्य बोध (कामनसेन्स) पर आधारित दर्शन और उपयोगितावाद का गहरा प्रभाव था। यहाँ तक कि जिन कालों में साहित्य और दर्शन में निकट सम्पर्क मालूम होता है उन कालों में भी इन

दोनों के बीच वस्तुतः उससे बहुत कम संयोग होता है जितना कि इस जर्मन पद्धति में माना जाता है। जर्मन स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का अध्ययन अधिकांशतः फिक्टे या शेलिंग द्वारा (जो पेशे से दार्शनिक थे) विकसित दर्शन को और श्लेगेल और नोवैलिस जैसे दर्शन और साहित्य के बीच में आने वाले लोगों द्वारा (जिनकी साहित्यिक कृतियों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण और कला की दृष्टि से बहुत सफल नहीं माना जा सकता) विकसित दर्शन को ध्यान में रख कर किया जाता है। जर्मन स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के महानतम कवियों, नाटककारों या उपन्यासकारों ने या तो समकालीन दर्शन से बहुत हल्का सम्बन्ध जोड़ा है जैसा कि ई० टी० ए० हाफमैन और आइकेनड्राफ के सम्बन्ध में देखा जा सकता है, जो एक परम्परावादी कैथलिक थे या उन्होंने स्वच्छन्दतावादी दार्शनिकों से विपरीत एक दार्शनिक दृष्टि अपनाई थी जैसा कि ज्यां पाल रिक्टर ने, जिसने फिक्टे का खण्डन किया या क्लाइस्ट ने किया जो काण्ट से आहत अनुभव करता था। यहाँ तक कि जर्मन स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के समय में भी दर्शन और साहित्य के बीच गहरा लगाव नोवालिस और फ्रेड्रिक श्लेगल के छिटफुट अंशों और सैद्धान्तिक विवेचनों को ही तर्क का आधार बना कर सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें फिक्टे का शिष्य माना जाता है। फिक्टे के दार्शनिक विचार इन लेखकों के जीवन काल में प्रायः अप्रकाशित रह गये थे और ठोस साहित्यिक कृतियों की रचना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

दर्शन और साहित्य के बीच निकट सम्बन्ध प्रायः वंचनापूर्ण होता है और इसके समर्थन में जो तर्क दिये जाते हैं उनमें प्रायः अतिरंजना से काम लिया जाता है क्योंकि ये साहित्यिक विचारधारा, पेशे से सम्बन्धित अभिप्रायों और कार्यक्रमों के अध्ययनों पर आधारित होते हैं। ये अभिप्राय और कार्यक्रम अनिवार्यतः वर्त्तमान सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं से गृहीत होते हैं, लेकिन इनका कलाकारों के वास्तविक कार्य-व्यवहार से बहुत दूर का ही नाता हो सकता है। साहित्य और दर्शन के बीच निकट सम्पर्क के प्रति इस सन्देह के कारण इस बात से तो कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसी काल की समान सामाजिक पृष्ठभूमि के कारण और इसके परिणाम स्वरूप दर्शन और साहित्य दोनों पर पड़ने वाले समान प्रभाव के कारण इन दोनों के बीच अनेक तरह के सम्बन्ध पाये जाते हैं और यहाँ तक कि इनमें कुछ समानान्तर प्रवृत्तियों की भी संभावना रहती है। लेकिन यहाँ भी दोनों की समान सामा-

जिक पृष्ठभूमि की धारणा वस्तुतः भ्रामक हो सकती है। दार्शनिक प्रायः समाज के ऐसे विशिष्ट वर्ग से आते हैं जो सामाजिक लगाव और जन्म की दृष्टि से समाज के उस तबके से बहुत अधिक भिन्न होता है। साहित्य की अपेक्षा दर्शन का बहुत गहरा लगाव चर्च (धर्म) और अकादमी (ज्ञानपीठ) से रहा है। मनुष्य-जाति की दूसरी सभी क्रियाओं की तरह इसका भी अपना इतिहास है, इसकी भी अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति है: हमें ऐसा लगता है कि इसके गुट और आन्दोलन साहित्य से उतना निकट लगाव नहीं रखते जितना कि **मानस इतिहास** के हिमायती लोग मानते हैं।

यह कहना कि साहित्य में 'युग बोध' के अनुसार परिवर्त्तन होते रहते हैं, उस स्थिति में एकदम गलत है जब कि यह भावना कठिन और अस्पष्ट समस्याओं का संकेत देने वाली न रह कर काल्पनिक और निराधार बन जाती है। भावना के इतिहास को केवल इसी बात में सफलता मिली है कि इसमें एक पूरी शृंखला में से किसी एक (किसी एक ललित कला या दर्शन) के मानदण्डों को समस्त सांस्कृतिक क्रियाकलाप पर आरोपित करके युग-सत्य की विशिष्टता निश्चित की जाती है और फिर इसके बाद क्लासिकी प्रवृत्ति और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति, या बुद्धिवाद और भावुकता जैसे परस्पर विरोधी और अस्पष्ट आधारों पर अलग-अलग साहित्यिक कृतियों का विवेचन किया जाता है। पाश्चात्य सभ्यता की अविच्छिन्न धारा को समझने की दृष्टि से भी 'युग सत्य' की अवधारणा बहुत घातक रही है। इसमें अलग-अलग युगों को दूसरों से एकदम अलग और कटा हुआ दिखाया जाता है और इनमें जो क्रान्तियाँ दिखाई जाती हैं, उन्हें इतना आमूल परवर्त्तनवादी माना जाता है कि मानस इतिहासकार अपने निष्कर्ष में न केवल ऐतिहासिक सापेक्षतावाद का, (जिसमें यह माना जाता है कि कोई भी एक युग उतना ही अच्छा है जितना कि दूसरा) घोर हिमायती बन जाता है, बल्कि इसमें वैयक्तिकता और मौलिकता की एक भ्रान्त धारणा अपनाई जाती है जिसमें मानव प्रकृति, सभ्यता और ललित कलाओं के शाश्वत तत्वों की भी उपेक्षा कर दी जाती है। स्पेंग्लर बाहरी प्रभावों से सर्वथा अछूते सांस्कृतिक चक्र की बात करते हैं जिसका विकास एक अपरिहार्य आवश्यकता से होता है। ये चक्र दूसरे कालों से बिल्कुल अछूते होते हुए भी रहस्यमय ढंग से एक-दूसरे के समानान्तर होते हैं। प्राचीन काल मध्य काल के आने तक एक दम खत्म हो जाता है। इसमें पश्चिमी साहित्य के क्रम-विकास को या तो पूरी तरह अस्वीकार कर दिया गया है, या भुला दिया गया है।

इन नकली सिद्धान्तों के कारण मनुष्य-जाति के एक सामान्य इतिहास या कम से कम पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास की असल समस्या को ओझल नहीं होने देना चाहिए। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युग-बोध के इतिहासकारों ने परस्पर-विरोधी और समान प्रवृत्तियों पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करके जो समाधान प्रस्तुत किये हैं, उनमें बिना किसी तर्क-वितर्क के पहले से ही यह मान लिया गया है कि शैलियाँ और विचार निरन्तर पलटा खाते रहते हैं, और इसमें जो यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य-जाति की समस्त क्रियाओं में गहरा लगाव होता है वह अधकचरा और प्रायः बचकाना होता है।

इतिहास दर्शन और सभ्यता के अनन्य तत्वों जैसी लम्बी-चौड़ी समस्याओं पर विचार करने के स्थान पर साहित्य के अध्येता को ऐसी ठोस समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिए जिनको अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है और यहाँ तक कि जिनपर यथेष्ट चर्चा तक नहीं की जा सकी है। एक प्रश्न यह है कि विचार साहित्य में प्रवेश कैसे करते हैं। जहाँ तक ये विचार कच्चा माल या निरी सूचना बन कर रह जाते हैं वहाँ तक साहित्य में पाये जाने वाले विचारों का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। यह प्रश्न वहाँ खड़ा होता है जहाँ, और जब इन विचारों को किसी कला-कृति के ताने-बाने में स्थान दिया जाने लगता है, जब ये उसके नियामक तत्व बन जाते हैं, संक्षेप में कहें तो जब सामान्य अर्थ में ये विचार नहीं रह जाते हैं, अपितु प्रतीक और मिथ का रूप ले लेते हैं। वर्णनात्मक काव्य का एक बहुत बड़ा क्षेत्र ऐसा है जिसमें विचारों का सीधा उल्लेख कर दिया जाता है, जिसमें उन्हें छन्द में बाँध दिया जाता है या रूपकों और अलंकारों से कुछ सजा दिया जाता है। जार्ज सैण्ड और जार्ज ईलियत जैसे लेखकों ने कुछ वैचारिक उपन्यास भी लिखे हैं जिनमें हमें सामाजिक, नैतिक या दार्शनिक समस्याओं का विवेचन मिलता है। मेलविल के उपन्यास **मोबी डिक्** में जिसमें समूचे कार्य-व्यापार का कोई न कोई मिथक अर्थ है, या ब्रिजेज की कविता **टेस्टामेण्ट आफ ब्यूटी** में, जिसमें कवि ने अपनी ओर से एक ही दार्शनिक रूपक रखा है, यह लगाव कुछ ऊपरी स्तर पर पाया जाता है। दोस्ताएव्स्की के उपन्यासों में विचारों का उद्घाटन चरित्रों और घटनाओं के माध्यम से किया गया है। ब्रदर्स कारामजोफ में चारों भाई प्रतीकात्मक हैं और इनके माध्यम से एक ऐसा वैचारिक द्वन्द्व दिखाया गया है जो इसके साथ ही साथ वैयक्तिक नाटक का रूप भी

लिये हुए है। वैचारिक निष्कर्ष मुख्य पात्रों के वैयक्तिक विनाश से अलग नहीं है।

लेकिन क्या गेटे के **फाउस्ट** या दोस्ताएव्स्की के **ब्रदर्स** जैसे दार्शनिक उपन्यास और कविताएँ अपनी दार्शनिक अर्थवत्ता के कारण ही उत्कृष्ट रचनाएँ कही जा सकती हैं? हमने जिस तरह यह तर्क दिया था कि मनोवैज्ञानिक या सामाजिक सत्य का कोई कलागत मूल्य नहीं, क्या उसी तरह हम यह तर्क नहीं दे सकते कि 'दार्शनिक सत्य' का कोई कलागत मूल्य नहीं होता? दर्शन, वैचारिक विषय वस्तु, यदि ठीक सन्दर्भ में हो तो उससे कलागत मूल्यों में वृद्धि होती मालूम होती है क्योंकि इससे संश्लिष्टता और संगति जैसे कला-मूल्यों की पुष्टि होती है। वैचारिक अन्तर्दृष्टि से कलाकार की पैठ बहुत गहरी हो जाती है और वह अपने विषय के मर्म में पहुँचने में समर्थ होता है। लेकिन ऐसा नहीं भी हो सकता है। यदि कलाकार विचारों को पचा न सके तो इनकी अधिकता उसके लिए बाधक सिद्ध होगी। क्रोचे ने यह दलील दी है कि **डिवाइन कामेडी** में एक पर एक ऐसे अंश आते हैं जिन्हें छन्द-बद्ध धर्म-शास्त्र और विज्ञानाभास कहा जा सकता है। **फाउस्ट** का दूसरा भाग तो असन्दिग्ध रूप से अतिशय बौद्धिकता से बोझिल है, यह और दोस्तोएव्स्की में, हमें कलागत सफलता और विचारों की बोझिलता में एक विरोध-सा मालूम होता रहता है। ज़ोसिमा का चरित्र, जिसके माध्यम से दोस्तोएव्स्की अपनी बात कहते हैं, उतना अच्छा नहीं बन पड़ा है जितना इवान करामज़ोफ का। एक निचले स्तर पर टामस मान के उपन्यास **मैजिक माउण्टेन** में वही अन्तर्विरोध दिखाई देता है। इसके आरंभिक अंश जिनमें वे सैनेटोरियम का जीवन चित्रित करते हैं, कला की दृष्टि से बाद के अंश से अधिक उच्च कोटि का है जिसमें दर्शन बघारा गया है। परन्तु इसके बावजूद साहित्य के इतिहास में कुछ ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं, जब विचारों से एक दीप्ति सी आ जाती है, जब पात्र और दृश्य केवल विचारों का प्रतिनिधित्व ही नहीं करते अपितु उनके मूर्त रूप होते हैं, जबकि दर्शन और ललित कलाओं में एकात्मकता सी आ जाती है। बिम्ब विचार बन जाते हैं और विचार बिम्ब का रूप ले लेते हैं। पर क्या ये अनिवार्य रूप से चोटी की कृतियाँ ही होती हैं, जैसा कि कुछ दार्शनिक रुझान रखने वाले आलोचक मानते हैं? क्रोचे ने **फाउस्ट** के दूसरे भाग की चर्चा करते हुए यह तर्क दिया है कि जब कविता इस रूप में उत्कृष्ट हो जाती है, अर्थात् अपने आप से, उत्कृष्ट हो जाती है, तो इसका महत्व कविता की

दृष्टि से घट जाता है, और इसे अधम काव्य कहा जाना चाहिए, कहें यह माना जाना चाहिए कि इसमें काव्य-तत्व का अभाव है और उनका तर्क उचित मालूम होता है। कम से कम यह तो मानना ही होगा कि दार्शनिक कविता में चाहे जितनी भी एकात्मता पाई जाये, यह कविता का मात्र एक प्रकार है और जब तक हम कविता को मन्त्र दर्शन और मूलतः रहस्यमयी न मानें, तब तक इस तरह की कविता को प्रमुखता नहीं दी जा सकती। कविता दर्शन की स्थानापन्न नहीं है; इसकी अपनी सार्थकता होती है, अपना लक्ष्य होता है। अन्य कविताओं की तरह दार्शनिक कविताओं को इनकी विषय-वस्तु के आधार पर नहीं परखा जाना चाहिए अपितु इस आधार पर परखा जाना चाहिए कि इनमें एकात्मता और कलात्मक प्रखरता कितनी विद्यमान है।



ग्यारह

साहित्य तथा अन्य कलाएँ

साहित्य और अन्य ललित कलाओं तथा संगीत के बीच अनेक सम्बन्ध पाय जाते हैं और ये संबन्ध बहुत जटिल हैं। कुछ ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं जिनमें कविता ने चित्रकला या मूर्तिकला या संगीत से प्रेरणा ली है। प्राकृतिक वस्तुओं और व्यक्तियों की ही तरह दूसरी कलाकृतियाँ भी कविता का विषय बन सकती हैं। कवियों ने मूर्तिकला, चित्रकला या संगीत तक की रचनाओं का वर्णन किया है, इससे कोई खास सैद्धान्तिक समस्या नहीं खड़ी होती। कहा जाता है कि स्पेंसर ने कुछ चित्रों की प्रेरणा टेपेस्ट्रियों और स्वांगों से पाई थी; क्लाड लोरां और सैल्वेटर रोज़ के चित्रों ने अठारहवीं शताब्दी की कविता के प्रकृति-चित्रों को प्रभावित किया था; कीट्स ने अपनी कविता 'ओड ऑन ग्रीसियन अर्न' के कई ब्योरे क्लाड लोरां के एक विशिष्ट चित्र से लिये थे। स्टीफेन लाराबी के विचार में ग्रीक मूर्तिकला की सारी अन्तर्कथाएँ और निरूपण अंग्रेजी कविता में पाये जा सकते हैं। अलबर्ट थीबो ने यह सिद्ध किया है कि मलार्मे ने लन्दन की नैशनल गैलरी में बूशेर के एक चित्र से प्रेरित होकर एक कविता लिखी थी। कवियों ने, और विशेषतः ह्यूगो, गोत्थे, टीक और पारनेसियन कवियों (फ्रान्सीसी कवियों का एक सम्प्रदाय) जैसे उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों ने विशेष चित्रों को विषय बना कर कविताएं लिखी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवियों के चित्रकला विषयक अपने सिद्धांत रहे हैं, और चित्रकारों को वे अपने-अपने ढंग से पसन्द करते रहे हैं, जिसका अलग से अध्ययन हो सकता है और जिसे कम या अधिक साहित्य-विषयक सिद्धान्तों और साहित्यिक रुचियों से जोड़ा जा सकता है। यहाँ शोध का एक

विशाल क्षेत्र पड़ा है, जिसकी कुछ आंशिक छान-बीन पिछले कुछ दशकों में की गयी है।

इसी तरह साहित्य भी चित्रकला और संगीत का और विशेषत: गेय संगीत का विषय बन सकता है, क्योंकि साहित्य का, और विशेषत: गीतों और नाटकों का, संगीत के साथ चोली-दामन का साथ रहा है। मध्यकालीन भजनों और एलिज़बेथकालीन गीति-काव्य के विषय में अनेक ऐसे अनुसंधान-कार्य हुए हैं और आज भी होते जा रहे हैं, जिनमें इनकी संगीतात्मकता पर बल दिया गया है। कला के इतिहास में विद्वानों का एक पूरा जत्था—इविनपैनोफ्स्की, फ्रित्ज़ सैकल और दूसरे लोग—सामने आया है जो कला-कृतियों के संकल्पनात्मक और प्रतीकात्मक अर्थों का और प्राय: इनके साहित्यिक सम्बन्धों और आकांक्षों का अध्ययन करता है।

स्रोतों और प्रभावों, प्रेरणा और सहयोग के इन स्पष्ट प्रश्नों से आगे इनसे भी महत्वपूर्ण एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। साहित्य ने कभी-कभी निश्चित रूप से चित्र-कला का प्रभाव पैदा करने का—शब्द-चित्र बनाने का, संगीत का प्रभाव उत्पन्न करने का—अपने को संगीत में ढालने का प्रयास किया है। कभी-कभी कविता ने मूर्त होना चाहा है। जैसा कि लेसिंग ने **लेओकआन** और इविन बैबिट ने अपनी पुस्तक **न्यू लेओकआन** में किया है। उस तरह कोई आलोचक कला-विधाओं को एक-दूसरे में गड्ड-मड्ड करने की भर्त्सना कर सकता है लेकिन इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि ललित कलाओं ने एक-दूसरे की विशेषताओं को अपनाने की चेष्टा की है और वे बहुत दूर तक इन विशेषताओं को उपलब्ध करने में सफल भी रही हैं। कविता हर दृष्टि से मूर्तिकला, चित्रकला या संगीत का रूप ले सकती है, इस बात की संभावना से बेशक इन्कार किया जा सकता है। लैण्डर, गोत्थे या एरेदिया तक की कविताओं के साथ मूर्त शब्द का प्रयोग एक अस्पष्ट रूपक के रूप में ही किया जाता है, जिसका मतलब केवल यह होता है कि कविता में किसी न किसी रूप में ग्रीक मूर्तियों की विशेषता को उतारा जा सकता है। इसमें वह शीतलता भरी जा सकती है जो संगमर्मर में पाई जाती है, या वही स्थिरता, शान्ति, तीखे उभार और स्पष्टता उतारी जा सकती है जो पत्थरों को तराश कर या प्लास्टर को ढाल कर पैदा की जाती है। लेकिन हमें यह मानना होगा कि कविता में जो शीतलता पैदा की जाती है वह संगमर्मर के स्पर्श से उत्पन्न होने वाली शीतलता की अनुभूति से, या उसकी शुभ्रता को देखकर जाग्रत होने वाली शीतलता

की कल्पना से सर्वथा अलग चीज है; कविता की स्थिरता मूर्ति की स्थिरता से बिल्कुल अलग चीज है। जब कालिन्स की 'ओड टु ईवनिंग' कविता को मूर्त कविता कहा जाता है तो इसमें ऐसा कुछ भी नहीं कहा जाता जिससे मूर्ति-कला से इसका सच्चा सम्बन्ध जाहिर हो सके। अगर विश्लेषण करने पर कुछ हाथ आता है तो वह है मन्द मन्थर गति और शब्द चयन, जो इतना विलक्षण होता है कि पाठक को एक-एक शब्द की ओर ध्यान देने को बाध्य होना पड़ता है और इस तरह पढ़ने की गति मन्द पड़ जाती है।

लेकिन होरेस के इस सूत्र से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'कविता वही है जो चित्र उपस्थित कर दे।' हालांकि कविता में दृश्य तत्व की मात्रा को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बखाना जा सकता है लेकिन कविता के कुछ युग और कुछ कवि ऐसे हुए हैं जो अपने पाठकों की आँखों के आगे चित्र खींच देते थे। लेसिंग ने रियास्तो की कविताओं में नारी-सौन्दर्य के नख-शिख वर्णन की आलोचना करते हुए ठीक ही कहा है कि उनका कोई दृश्य प्रभाव नहीं पड़ता (हालांकि काव्य की दृष्टि से ये वर्णन हर तरह से प्रभावपूर्ण हैं), लेकिन अठारहवीं शताब्दी के चित्रात्मक काव्य रचने वाले कवियों को हँस कर नहीं उड़ाया जा सकता; और आधुनिक साहित्य में शैतोब्रियाँ से लेकर प्रूस्त तक ने अनेक ऐसे वर्णन प्रस्तुत किये हैं जिनमें कम से कम चित्रकला की प्रभावोत्पादकता की झलक मिलती है, या जिन्हें पढ़कर हमारे मन में ऐसे दृश्य-चित्र उपस्थित होते हैं जिनसे समकालीन चित्रकला की याद ताजी हो जाती है। यदि हम ऐसे किसी पाठक की कल्पना करें जो चित्रकला से पूर्णतः अपरिचित हो तो, हालांकि इस बात में सन्देह किया जा सकता है कि कवि उसके मन में सचमुच चित्र की छाप डाल सकता है, इतना स्पष्ट है कि हमारी सामान्य सांस्कृतिक परम्परा के भीतर लेखकों ने चित्र-कथाओं, अठारहवीं शताब्दी के प्रकृति चित्रों की छवि अंकित की है और ह्विस्लर आदि जैसे प्रभाववादी चित्रकारों का प्रभाव अपनी रचनाओं में भरने में सफलता पाई है।

हालांकि यह एक आम मान्यता है कि कविता में संगीत का प्रभाव पैदा किया जा सकता है, पर यह संदिग्ध है कि वह ऐसा करने में सचमुच सफलता पा सकती है या नहीं। जब हम विशेषण करते हैं तो पाते है कि कविता की 'संगीतात्मकता' संगीत की 'मेलोडी' से एक बिल्कुल भिन्न चीज है। इसका अर्थ होता है ध्वनियों का विशेष विन्यास, व्यंजन वर्णों का कम प्रयोग, या कुछ रिद्मिक प्रभावों का अस्तित्व। टीक जैसे स्वच्छन्दतावादी कवियों और बाद के

वरलेन जैसे कवियों का संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न बहुत जगह में पद्य के अर्थमय ढाँचे को तिरोहित करने, तर्कसंगत वाक्य-विन्यास की उपेक्षा करने, और वाच्यार्थ के स्थान पर व्यंग्यार्थ पर बल देने का प्रयास कहा जा सकता है। फिर भी बाह्य रूपरेखा को धुंधला बनाना, अर्थ को गूढ़ बनाना और तर्कहीनता लाना सही अर्थों में 'संगीतात्मक' नहीं कहा जा सकता। लीमोटीव, सोनाटा, या सिंफनी जैसे संगीतात्मक रूपबन्धों का अनुकरण अधिक ठोस मालूम होता है। लेकिन आवृत्ति, या किन्हीं विरोधी और पूरक मनःस्थितियों को हालांकि संगीत रचना का अनुकरण करने के इरादे से रखा जाता है तो भी यह कहना कठिन है कि ये प्रत्यावृत्ति, विरोध आदि जैसे सुपरिचित साहित्यिक अलंकारों से मूलतः अलग हैं जो अन्य सभी ललित कलाओं में पाये जाते हैं। कुछ इने-गिने उदाहरण इस बात के भी पाये जाते हैं जिनमें कविता से संगीतात्मक ध्वनियाँ फूटती सी लगती हैं। वरलेन की एक कविता में एक वाद्य-यंत्र का स्वर और पो की कविता 'बेल्स' में घण्टियों के खनकने की सी ध्वनि आती है, लेकिन यह प्रभाव भी केवल अनुप्रास के बल पर पैदा किया गया है।

बहुत सी कविताएँ संगीत के साथ गाने के आशय से लिखी गयी हैं, जैसे एलिज़बेथकालीन तानें और समस्त लिब्रेटो (गीत कथाएँ) आपेरा के लिए लिखी गयी हैं। कुछ थोड़े से ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जिनमें कवि और संगीतकार एक ही आदमी रहा है। लेकिन यह सिद्ध करना कठिन है कि कविता और संगीत दोनों की रचना किसी ने भी एक ही प्रक्रिया में की है। वैग्नर जैसा प्रतिभाशाली आदमी तक अपने 'आपेरा नाटकों' की रचना उन्हें संगीत में बाँधने से वर्षों पहले कर लिया करता था; और इस विषय में भी कोई सन्देह नहीं कि अनेक गीति-रचनाएँ पहले से तैयार की हुई धुनों में फिट करने के लिए रची गयी थीं। लेकिन जब हम संगीत की दृष्टि से नितान्त सफल उपयुक्त गीतों की बात सोचते हैं तो भी संगीत और महान कविताओं का संबन्ध बहुत क्षीण ही मालूम होता है। गुम्फित और गठी हुई कविताएँ संगीत की सेटिंग में पूरी तरह ठीक नहीं बैठतीं, जब कि हीन और विल्हेम म्यूलर की आरंभिक रचनाओं जैसी औसत या घटिया दर्जे की कविताएँ शूबर्ट और शूमन जैसे संगीतकारों के लिए उत्कृष्ट गीत सिद्ध हुई हैं। यदि कविता साहित्यिक दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की हुई तो संगीत की सेटिंग प्रायः इसके रूपबन्ध को ऐसे अवसरों पर भी तोड़-मरोड़ और बिगाड़ देती है जहाँ संगीत का अपना मल्य बना रहता है। इसका उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं

है क्योंकि वेर्डी के आपेराओं में शैक्सपियर के आथेलो के अधिकांश अंश साम की लगभग सारी सेटिंग और गेटे की कविताएँ इस मान्यता की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य और संगीत के बीच कुछ सहयोग हुआ करता है; परन्तु उच्च कोटि की कविता का झुकाव संगीत की ओर नहीं होता और महान संगीत शब्दों की अपेक्षा नहीं रखता।

ललित कलाओं और साहित्य के बीच साम्य के कारण लोग प्रायः यह दावा करते पाये जाते हैं कि इस चित्र और उस कविता से मेरे मन में एक जैसे ही मनोभाव उत्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए, मोज़ार्ट का संगीत, या वाटो का कोई प्रकृति-चित्र देखने पर या हल्के होटलों के गीत सुन कर मेरा जी हल्का हो जाता है। परन्तु शुद्ध विश्लेषण के लिए इस तरह के साम्य का कोई महत्व नहीं होता। किसी संगीत-रचना को सुनने से जो आनन्द मिलता है, वह सामान्य आनन्द या किसी विशेष लहजे का आनन्द नहीं होता अपितु यह एक आवेगा होता है जो संगीत का अनुसरण करता है और इस तरह संगीत के प्रतिरूप से बिल्कुल जुड़ा हुआ होता है। संगीत में हमें ऐसे आवेगों की अनुभूति होती है जिनमें वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले आम आवेगों की एक सामान्य सी छाया हुआ करती है। और जब हम इन आवेगों की बहुत निकट से व्याख्या करते हैं तब भी हम उस विशिष्ट वस्तु के पास नहीं फटक पाते जिससे ये आवेग उत्पन्न हुए रहते हैं। दो कलाओं के बीच ऐसे साम्य जो किसी पाठक या दर्शक की अपनी प्रतिक्रियाओं में बने रहते हैं और जो दो कलाओं के प्रति हमारी प्रतिक्रिया में पाई जाने वाली भावात्मक समानता की चर्चा करके ही रह जाते हैं, कभी पूरी तरह जाँचे नहीं जा सकते और इस तरह इनसे हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं हो सकती।

एक दूसरा प्रचलित तरीका है कलाकारों के आशयों और सिद्धान्तों का। हम इतना तो निःसन्देह सिद्ध कर सकते हैं कि सभी कलाओं के सिद्धान्तों और सूत्रों के पीछे कुछ समानताएँ पाई जाती हैं और अलग-अलग कलाओं के कलाकारों के अपने उद्देश्यों के विषय में हमें बिल्कुल एक ही या एक जैसी उक्तियाँ भी मिल सकती हैं। लेकिन साहित्य में क्लासिसिज्म (शास्त्रीयता) का हम जो अर्थ लेते हैं, संगीत में इसका उससे बिल्कुल अलग अर्थ होगा क्योंकि चन्द टुकड़ों को छोड़ दें तो सही माने में हमें किसी तरह के प्राचीन संगीत का पता नहीं है जो उसी तरह संगीत के विकास का आधार बन सकता था जैसे साहित्य के निर्माण में प्राचीन काल का साहित्य बना था। इसी तरह पाम्पेई और

हरक्यूलेनियम के भित्तिचित्रों की खुदाई से पहले की चित्रकला को क्लासिकी चित्रकला से प्रभावित नहीं कहा जा सकता, हालांकि क्लासिकी सिद्धान्तों और ऐपेलीज़ जैसे ग्रीक चित्रकारों तथा किसी विच्छिन्न चित्र-परम्परा के हवाले अक्सर मिलते हैं जो प्राचीन काल से मध्यकाल में होती हुई उन तक पहुँची होगी। तो भी मूर्तिकला और स्थापत्य का आदर्श क्लासिकी नमूने और उनसे जन्मी कला-शैलियाँ ही रही हैं और इस अर्थ में ये कलाएँ साहित्य से भी बहुत आगे निकल जाती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि विभिन्न कलाओं में सिद्धान्तों और अभीष्ट आशयों का अर्थ बहुत अलग-अलग हुआ करता है और इनसे किसी कलाकार की अपनी क्रिया—उसकी रचना और उसकी विषय-वस्तु और रूप के विषय में कोई ठोस निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते।

लेखकों के अपने आशयों को मान कर चलना किसी विशिष्ट टीका के लिए कितना अविश्वसनीय हो सकता है यह उन इक्की-दुक्की स्थितियों में देखा जा सकता है जिनमें कवि और कलाकार एक ही होता है। उदाहरण के लिए ब्लेक और रोजेटी की कविताओं और चित्रों की तुलना करने पर पता चलेगा कि उनकी कविताओं और चित्रों की तकनीकी विशेषताओं की तो बात ही अलग रही, उनकी प्रकृति तक न केवल भिन्न है अपितु एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत है। एक बेढंगे से छोटे जानवर का शीर्षक दिया गया है 'टाइगर, टाइगर, बर्निंग ब्राइट' (शेर! तेजोदीप्त शेर)। थैकरे ने अपने उपन्यास **वैनिटी फेयर** के चित्र स्वयं बनाये थे, परन्तु बेकी शार्प का इसमें जो तीसमारखाँ जैसा चित्र बनाया गया है उसका उपन्यास में इसके चरित्र से कोई मेल नहीं बैठता। माइकेल-ऐंजेलो के सानेटों, मूर्तियों और चित्रों में हालांकि नव्य-अफलातूनी विचार मिलते हैं और कुछ मनोवैज्ञानिक समानताएँ भी मिलती हैं पर संरचना और गुणवत्ता में इनमें कोई तुलना नहीं हो सकती। इससे यह जाहिर होता है कि किसी कलाकृति का 'माध्यम' मात्र एक तकनीकी अड़चन नहीं है जिस पर काबू पाने के बाद ही कलाकार अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कर सकता है, बल्कि यह एक ऐसा तत्व है जिसका निर्धारण, परम्परा से, पहले से ही हुआ रहता है और इसमें अन्य बातों के निर्धारण की बहुत शक्ति होती है जिससे हर कलाकार की कलादृष्टि और अभिव्यंजना रूपायित और परिष्कृत होती है। कलाकार सामान्य मानसिक बिम्बों में नहीं सोचता है अपितु वह ठोस सामग्री के रूप में सोचता है और इस ठोस माध्यम का अपना इतिहास होता है जो प्रायः दूसरे माध्यमों से बिल्कुल भिन्न होता है।

कलाकार के अपने आशयों और सिद्धान्तों को आधार मान कर चलने से अधिक मूल्यवान है ललित कलाओं की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर उनकी तुलना करना। ललित कलाओं और साहित्य का पोषण जिस समान देश, काल और समाज के बीच होता है, उसका ब्योरा पाना संभव है और इस तरह इन पर पड़ने वाले समान प्रभावों की ओर संकेत करना भी संभव है। विभिन्न कलाओं में समानान्तर प्रवृत्तियों का उल्लेख केवल इसलिए किया जाता है कि ऐसा करते समय उनकी सर्वथा भिन्न सामाजिक पृष्ठभूमियों की उपेक्षा कर दी जाती है जिनको ध्यान में रख कर वह कलाकृति रची गयी थी और जिनसे उसका जन्म हुआ था। किसी विशेष कला की रचना करने या कराने वाले सामाजिक वर्ग एक ही देश और काल में एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। गाथिक गिरजाघरों की सामाजिक पृष्ठभूमि फ्रांसीसी महाकाव्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि से भिन्न हैं; मूर्तियाँ जिन लोगों को पसन्द आती रही हैं और जो उनके लिये पैसा खर्च करते रहे हैं, वे उपन्यासों के पाठकों से भिन्न वर्ग के रहे हैं। यह धारणा कि हर कला की एक देश और काल की सामाजिक पृष्ठभूमि बिल्कुल एक जैसी होती है जितनी भ्रामक है उतनी ही भ्रामक यह धारणा है कि सभी कलाओं की बौद्धिक पृष्ठभूमि बिल्कुल एक और समान रूप से प्रभावशाली होती है। चित्रकला की व्याख्या समकालीन दर्शन को ध्यान में रखते हुए करना बहुत कठिन मालूम होता है। इसका एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। चार्ल्स डि टोने ने ब्रूगल की प्रौढ़ावस्था के चित्रों को सर्वेश्वरवाद का एक दृष्टान्त मान कर इनकी व्याख्या की है और इन्हें क्यूसैनस या पैरसेल्सस की समकक्षता में रखा है तथा यह दावा किया है कि इनसे स्पाइनोज़ा और गेटे का पूर्वाभास मिलता है। इससे भी अधिक खतरनाक है 'युग बोध' के सन्दर्भ में कला की 'व्याख्या' करना, जैसा कि जर्मन मानस इतिहास के समर्थक करते आये हैं और जिसकी हम एक अलग सन्दर्भ में आलोचना कर आये हैं।

एक या एक जैसी सामाजिक और बौद्धिक पृष्ठभूमि से उत्पन्न होने वाली सच्ची समानताओं का ठोस ढंग से शायद ही कभी विश्लेषण किया गया होगा। उदाहरण के लिए, ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें सप्रमाण यह दिखाया गया हो कि किसी एक काल या माहौल की सभी कलाएँ 'प्राकृतिक' वस्तुओं के ऊपर अपने क्षेत्र का विस्तार या संकोच कैसे करती हैं, या कि कला के आदर्श विशिष्ट सामाजिक वर्गों से कैसे जुड़े-बँधे रहते हैं और इस तरह उनमें एक

समान परिवर्तन होते रहते हैं, या सौन्दर्य मूल्यों में सामाजिक क्रान्तियों के साथ कैसे परिवर्तन होते रहते हैं। यह शोध के लिए एक बिल्कुल अछूता-सा क्षेत्र है, फिर भी इसमें विविध कलाओं की तुलना की जाये तो काफी आशाजनक परिणाम निकलेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि इस पद्धति से अनावश्यक साम्य नहीं दिखाये जा सकते, बल्कि विभिन्न कलाओं के विकास पर पड़ने वाले एक जैसे प्रभावों को ही सिद्ध किया जा सकता है।

जाहिर है कि कलाओं की तुलना का सबसे महत्वपूर्ण उपाय है कला की वास्तविक वस्तुओं का और इस तरह उनके संरचनात्मक सम्बन्धों का विश्लेषण। पाठकों या दर्शकों या लेखक और कलाकार के मनोविज्ञान का अध्ययन और साथ ही सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन अपने दृष्टिकोण से चाहे कितना भी ज्ञानवर्धक क्यों न हो, जब तक हम इन्हें पृष्ठभूमि में न रखें और कृतियों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित न करें तब तक ललित कलाओं के तुलनात्मक इतिहास की तो बात ही दूर रही, हम कलाओं का उपयुक्त इतिहास भी नहीं तैयार कर सकते। दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक हमारे पास कलाओं के बीच इस प्रकार की तुलना का कोई साधन नहीं रहा है। यहाँ पर एक बहुत कठिन प्रश्न आ खड़ा होता है: कलाओं के वे कौन से तत्व हैं जो सब में समान रूप से पाये जाते हैं और जिनको लेकर इनके बीच तुलना की जा सकती है? क्रोचे के सिद्धान्त तक में हमें कोई मार्गदर्शन नहीं मिलता, जिसमें सभी सौन्दर्य-शास्त्रीय स स्याओं को अन्तःप्रज्ञा की क्रिया पर केन्द्रित किया गया है, जिसे बड़े रहस्यमय ढंग से अभिव्यंजना से अभिन्न माना गया है। क्रोचे का यह दावा है कि अभिव्यंजना की रीतियों का अस्तित्व होता ही नहीं है और 'कलाओं का सौन्दर्यमूलक वर्गीकरण करने के प्रयास को, वह बेतुका बताते हैं और इस तरह कला विधाओं और प्रकारों में भेद करने का जोरदार खंडन करते हैं। जॉन ड्यूई ने अपनी पुस्तक **आर्ट एज़ एक्सपीरिएन्स** में इस बात पर बल दिया है कि सभी कलाओं में कुछ समान तत्व होते हैं क्योंकि कुछ ऐसी सामान्य शर्तें हैं जिनके पूरी हुए बिना अनुभव हो ही नहीं सकता, परन्तु हमारी समस्या को देखते हुए हमें इससे भी कुछ विशेष लाभ नहीं होता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्त कलात्मक सर्जनाओं में या कहें मनुष्य की समस्त सर्जनाओं में, कार्यों और कलाओं में कुछ समान बातें पाई जाती हैं। लेकिन ये ऐसे समाधान हैं जो कलाओं की तुलना करने में हमें सहायता नहीं देते। थियोडोर मायर ग्रीन ने अपेक्षाकृत अधिक ठोस ढंग से कलाओं के तुलनीय तत्वों की परिभाषा करते

हुए जटिलता, अखंडता और 'रिद्म' (लय) की चर्चा की है और इस बात का बहुत जोरदार ढंग से दावा किया है कि 'रिद्म' शब्द मूर्त कलाओं पर भी लागू होता है। इस बात का इतना जोरदार समर्थन जॉन ड्यूई ने भी नहीं किया था। परन्तु किसी संगीत-रचना की रिद्म और किसी स्तम्भावलि की रिद्म के आपसी भेद को ऐसी स्थिति में मिटा पाना असंभव सा लगता है जहाँ न तो विन्यास ही कृति की अपनी बनावट से लिया गया है न टेम्पो ही। जटिलता और अखंडता मात्र 'वैविध्य' और 'अन्विति' के ही दूसरे नाम हैं और इसलिए ये भी हमारे लिए बहुत दूर तक उपयोगी नहीं हैं। संरचना के आधार पर समस्त ललित कलाओं में समान रूप से पाये जाने वाले तत्वों को खोजने के बहुत कम प्रयास ऐसे हुए हैं जो इससे आगे जा सके हों। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के गणित के एक विद्वान् जी० डी० बर्कहाफ ने **इस्थेटिक मेजर** नाम से एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने यह सिद्ध किया है कि सादे कला-रूपों का और संगीत का एक समान गणितीय आधार होता है और पद्य की 'संगीतात्मकता' के अध्ययन को भी उन्होंने इसी में शामिल किया है जिसकी परिभाषा भी उन्होंने गणितीय समीकरणों और गुणांकों के रूप में की है। परन्तु पद्य में यूफोनी (कर्णमधुरता) की समस्या को अर्थ से अलग करके नहीं सुलझाया जा सकता और इस धारणा की पुष्टि इस बात से भी होती है कि बर्कहाफ ने एडगर एलेन पो की कविताओं को उच्चकोटि का सिद्ध किया है। यदि उनके इस पाण्डित्य-पूर्ण प्रयास को स्वीकार भी कर लिया जाये तो इससे कविता की मूलतः 'साहित्यिक' विशेषताओं और दूसरी कलाओं के बीच की खाई और बढ़ेगी जिनमें 'लालित्य की मात्रा' साहित्य की अपेक्षा अधिक ही पाई जाती है।

कलाओं के बीच साम्य ढूंढ़ने की समस्या ने बहुत पहले ही यह सिद्ध कर दिया था कि साहित्य पर भी शैली विषयक उन अवधारणाओं को लागू किया जाये जिनका पता समस्त ललित कलाओं के इतिहास से चल पाया है। अठारहवीं शताब्दी में स्पेंसर की रचना **फेयरी क्वीन** की संरचना और गाथिक गिरजाघरों के गौरवपूर्ण बिखराव को लेकर असंख्य तुलनाएँ की गयी थीं। अपनी पुस्तक **द डिक्लाइन ऑफ द वेस्ट** में स्पेंग्लर ने एक संस्कृति की सभी ललित कलाओं में सादृश्य दिखाते हुए, अठारहवीं शताब्दी के घुमावदार फर्नीचरों, शीशमहलों, ग्राम गीतों, पोर्सिलेनों के दृश्य कक्ष-संगीत की चर्चा की है, 'शृंगारी गीतों की टिशन शैली' की बात की है और फ्रांज़ हाल्स के **ऐलेग्रो फिरोस** (वेग) और फान डाइक के **एनदान्ते कान मोटो** का हवाला दिया है। जर्मनी

में ललित कलाओं में सादृश्य ढूँढ़ने की इस विधि से प्रेरित होकर गाथिक मनुष्य और बैरक भावना के ऊपर बहुत सी पुस्तकें और लेख लिखे गये हैं और इसके फलस्वरूप 'रोकोको' और 'बीडरमियर' जैसे शब्दों का साहित्य में प्रयोग होने लगा है। साहित्य के काल-विभाजन में साहित्यिक इतिहासकारों को गाथिक, रिनेसां (पुनर्जागरण), बैरक, रोकोको, रोमाण्टिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद), बीडरमियर, रियलिज्म (यथार्थवाद), इम्प्रेशनिज्म (प्रभाववाद), एक्सप्रेशनिज्म (अभिव्यंजनावाद) के एक दूसरे से कटी-छंटी कला-शलियों के अनुक्रम ने बहुत प्रभावित किया और इन्हें साहित्य पर भी आरोपित किया गया। यहाँ जिन शैलियों का नाम गिनाया गया है उनको दो वर्गों में बाँटा गया है, और ये मूलतः क्लासिकी और रोमाण्टिक प्रवृत्तियों के बीच पाये जाने वाले विरोध को ही प्रस्तुत करती हैं : गाथिक, बैरक, स्वच्छन्दतावाद और अभिव्यंजनावाद एक सिरे पर आते हैं और पुनर्जागरण, नव्य क्लासिकी प्रवृत्ति, यथार्थवाद दूसरे सिरे पर। रोकोको और बीडरमियर को पूर्ववर्ती शैलियों अर्थात् बैरक और स्वच्छंदतावादी शैलियों का बाद का ह्रासोन्मुख और अलंकृत विभेद माना जा सकता है। साम्य दिखाते समय प्रायः साम्य ढूँढ़ने की हद कर दी गयी है; और जिन लेखकों ने इस पद्धति को अपनाया है उनमें से सर्वविख्यात लेखकों की कृतियों में भी बेतुकी बातें बड़ी आसानी से ढूँढ़ी जा सकती हैं।

कला विषयक इतिहास की श्रेणियों को साहित्य में स्थानान्तरित करने का सबसे ठोस प्रयत्न आस्कर वाल्ज़ेल ने किया है जिन्होंने वुल्फलिन के मानकों को लागू किया है। अपनी पुस्तक **प्रिंसिपल आफ आर्ट हिस्ट्री** में वुल्फलिन ने शुद्ध रूप से संरचना के आधार पर पुनर्जागरणकालीन और बैरक कला के बीच भेदक रेखा खींची है। उन्होंने कुछ प्रतिधर्मी तत्वों की खोज की जिन्हें किसी काल के किसी भी तरह के चित्र, स्थापत्य या मूर्ति पर घटित किया जा सकता है। उनका मत है कि पुनर्जागरणकालीन कला रैखिक (लाइनियर) है, जब कि बैरक कालीन कला 'रंगीन' (पेन्टरली) है। रैखिक का अर्थ यह है कि किसी आकृति या वस्तु की रूपरेखा बिल्कुल साफ-साफ गढ़ी गई है, जब कि रंगीन का अर्थ यह है कि प्रकाश और रंग ही रचना के मूल तत्व हैं जो कि बाह्य रूपरेखा को धूमिल करते हैं। रिनेसाँ के चित्रों में और मूर्तियों में 'आबद्ध' रूप का प्रयोग होता है, इसमें आकृतियाँ सविन्यस्त और सुन्तुलित बनायी जाती हैं, जब कि बैरक काल में 'मुक्त' रूप पसन्द किया जाता है जिसमें रचना अविन्यस्त रहती है, चित्रों के केन्द्र पर जोर न देकर किसी कोने पर जोर दिया जाता है

या चित्र के चौखटे से बाहर की ओर संकेत रहता है। रिनेसां के चित्र 'सपाट' होते हैं या कम से कम इन्हें अलग-अलग पश्चवर्ती धरातलों पर रचा जाता है, जब कि बैरक चित्र 'गहरे' होते हैं या हमारी आँखों को दूर और अस्पष्ट पृष्ठभूमि की ओर खींचते मालूम होते हैं। रिनेसां के चित्र स्पष्टतः अलग-अलग टुकड़ों में होते हैं और इस अर्थ में इन्हें 'विभक्त' चित्र कहा जा सकता है; बैरक चित्र अखंड हैं, बिल्कुल गठे हुए हैं और इनका ताना-बाना एक-दूसरे से बिल्कुल जुड़ा हुआ है। रिनेसां की कृतियाँ 'साफ' हैं, जबकि बैरककालीन कृतियाँ इनकी अपेक्षा अधिक 'अस्पष्ट', धुंधली और धूमिल हैं।

वुल्फलिन अपने निष्कर्ष पर ठोस कला-कृतियों का बहुत सूक्ष्मता से विश्लेषण करने के बाद पहुँचे हैं। और उन्होंने यह बताया है कि रिनेसां से बैरक काल की ओर बढ़ने की एक अनिवार्यता सी थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस क्रम को उलटा नहीं जा सकता। वुल्फलिन ने इस प्रक्रिया का जिसे शारीरिक नहीं माना जा सकता, इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं दिया है कि ऐसा लोगों के देखने का ढंग बदलने के कारण संभव हुआ। यह दृष्टिकोण जिसमें देखने के ढंग में परिवर्तन पर बल दिया जाता है, शुद्ध गठन या रचनागत परिवर्तन पर बल दिया जाता है फील्डर और हाइल्डब्राण्ड के दृश्यता विषयक सिद्धान्तों से शुरू होता है और उन्होंने इसे ज़िमरमैन और हर्बर्ट के अनुयायी एक सौन्दर्यशास्त्री से लिया था। लेकिन वुल्फलिन ने भी खासतौर से अपनी बाद की घोषणाओं में यह स्वीकार किया था कि उनकी पद्धति की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। और उन्होंने कलारूपों का जो इतिहास तैयार किया है उससे कला के इतिहास की सारी समस्याओं का निराकरण नहीं हो जाता। यहाँ तक कि आरंभ में भी उन्होंने 'व्यक्तिगत' 'और स्थानीय' शैलियों के होने की बात स्वीकार की थी और उन्हें ऐसा लगा था कि उन्होंने जिन टाइपों का जिक्र किया है, वे सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के अतिरिक्त अन्यत्र भी पाये जा सकते हैं, हालांकि उनमें ये अपेक्षाकृत कम स्पष्ट मिलेंगे।

वाल्ज़ल ने १९१६ में प्रिंसिपल्स ऑफ आर्ट हिस्ट्री पढ़ा और उससे प्रभावित होकर वुल्फलिन के वर्गीकरणों को साहित्य पर घटित करने का प्रयत्न किया। शेक्सपियर के नाटकों के रचनाविधान का अध्ययन करते हुए वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शैक्सपियर बैरक परम्परा में आते हैं क्योंकि उनके नाटकों की रचना उस सन्तुलित ढंग से नहीं हुई है जिनका दर्शन वुल्फलिन को रिनेसां के चित्रों में हुआ था। गौण चरित्रों की संख्या, उनका अव्यवस्थित वर्गीकरण, नाटक के

अलग-अलग अंकों में अलग-अलग प्रसंगों पर बल: ये सभी विशेषताएँ यही सिद्ध करती हैं कि शेक्सपियर की शैली ठीक वही थी जो बैरक चित्रकारों की थी। इसके विपरीत कार्ने और रसीन, जिन्होंने अपने नाटकों की रचना एक ही केन्द्रीय चरित्र को ध्यान में रख कर की हैं, और अलग-अलग अंकों में अरस्तू द्वारा निर्धारित परम्परागत नमूने के अनुसार बल दिया है, रिनेसाँ वाले वर्ग में आते हैं। वाल्ज़ल ने पहले तो इस विषय पर एक पतली सी पुस्तक लिखी और फिर बाद में अनेक पुस्तकों और लेखों में पहले तो कुछ संयत ढंग से और फिर अधिक जोरदार ढंग से इस स्थानान्तरण का विस्तृत विवेचन और ओचित्य सिद्ध करना शुरू कर दिया।

वुल्फलिन की कुछ श्रेणियों को बड़ी आसानी और सफाई से साहित्यिक रूप दिया जा सकता है। कला के स्पष्टतः दो रूप पाये जाते हैं—एक वह जिसमें रूपरेखा साफ रखी जाती है और अलग-अलग हिस्सों को बिल्कुल अलग रखा जाता है, और दूसरी वह जिसमें गठन शिथिल होता है तथा रूपरेखा धूमिल रहती है। ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। फिट्ज़ स्ट्राइख ने रिनेसाँ और बैरक प्रवृत्तियों के लिए वुल्फलिन की इन श्रेणियों को जर्मन क्लासिकी और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों में पाये जाने वाले विरोध का वर्णन करने के लिए लागू किया है जिससे यह जाहिर होता है कि यदि इन श्रेणियों का अर्थ कुछ उदारता के साथ किया जाये तो ये निखोट क्लासिकी कविताओं और अनगढ़, खण्डित और स्पष्ट स्वच्छन्दतावादी कविताओं में पाये जाने वाले फर्क को बयान करने में समर्थ हो सकती हैं। परन्तु ऐसी स्थिति में हमारे पास साहित्य के समूचे इतिहास का वर्णन करने को प्रतिधर्मी शब्दों की केवल एक ही जोड़ी रह जाती है। यदि वुल्फलिन की इन दोनों श्रेणियों को नये सिरे से बिल्कुल साहित्यिक अर्थ में ही रखा जाये तो भी इससे कलाकृतियों को केवल दो ही श्रेणियों में रखने में मदद मिल सकती है जिनकी विस्तृत छानबीन करने पर यह पता चलता है कि ये क्लासिकी और स्वच्छान्दतावादी, कठोर और शिथिल रूप-बन्ध, मूर्त्त और चित्रात्मक कला के बीच किये गये पुराने भेदों से अलग नहीं हैं: इस द्वन्द्वात्मकता का पता श्लेगेल को भी था, शेलिंग और कोलरिज को भी था, और इस निष्कर्ष पर वे सैद्धान्तिक और साहित्यिक बहसों के जरिये पहुँचे थे। वुल्फलिन के ये दो प्रतिधर्मी शब्द सभी क्लासिकी और छद्म-क्लासिकी कला को एक वर्ग में रखते हैं और दूसरी ओर गाथिक, बैरक और स्वच्छन्दतावादी आदि विविध आन्दोलनों को एक साथ जोड़ कर रखते हैं। रिनेसां और बैरक

काल के बीच निश्चित रूप से सातत्य बना हुआ था और यह सातत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु इस सिद्धान्त से ऐसा लगता है कि इसमें इस सातत्य को ठीक उसी तरह ओझल कर दिया गया है जैसे स्ट्राइख ने जर्मन साहित्य पर इसे धटित करते हुए शिलर और गेटे के विकास के रूप में छद्म क्लासिकी प्रवृत्ति तथा अठारहवीं शताब्दी के आरंभ के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के बीच एक कृत्रिम विरोध भाव दिखाया है जब कि 'स्टार्म और स्ट्रेस' की व्याख्या किये बिना ही इसे अतर्क्य मान कर छोड़ दिया गया है। सचाई तो यह है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ के जर्मन साहित्य में एक ऐसी तुलनात्मक एकता पाई जाती है जिसे एक-दूसरे से अनमेल विरोधी प्रवृत्तियों में तोड़ पाना असंभव मालूम होता है। इस तरह वुल्फलिन का सिद्धान्त कला-कृतियों को पुराने क्रिया-प्रतिक्रिया, रूढ़ि और विद्रोह, या द्वन्द्वात्मक विकास-पद्धति के उत्थान-पतन में वर्गीकृत करने और इन्हीं की स्थापना या पुष्टि करने में हमारा सहायक हो सकता है, परन्तु जब इसका सामना साहित्य की जटिल प्रक्रिया से होता है तब यह वास्तविक विकास अतिशय वैविध्यपूर्ण प्रतिरूप से ताल-मेल बैठाने में असमर्थ रहता है।

वुल्फलिन की इन दोनों संकल्पनाओं को साहित्य में स्थानान्तरित करते हैं तो एक और महत्वपूर्ण समस्या भी बिल्कुल अछूती ही रह जाती है। हम लोग इस ध्रुव तथ्य की भी किसी तरह व्याख्या नहीं कर सकते कि कलाओं का विकास एक ही गति से और एक ही साथ नहीं हुआ। कभी-कभी साहित्य कलाओं के पीछे-पीछे चलता मालूम होता है: उदाहरण के लिए, हम उस युग के किसी अंग्रेजी साहित्य की बात भी नहीं सोच सकते जब कि इंग्लैण्ड में गिरजाघरों का निर्माण हुआ था। कुछ अन्य कालों में संगीत साहित्य से और दूसरी कलाओं से पिछड़ा हुआ मालूम होता है : उदाहरण के लिए, सन् १८०० से पहले हम 'रोमाण्टिक संगीत' की बात नहीं कर सकते जब कि बहुत सारी रोमाण्टिक कविताएँ इसके पहले लिखी जा चुकी थीं। हमें इस बात का कोई कारण आसानी से समझ में नहीं आता कि स्थापत्य में चित्रात्मकता का प्रवेश होने से कम से कम साठ साल पहले चित्रात्मक कविताएँ लिखी जाने लगी थीं। यदि इन इक्के-दुक्के उदाहरणों को गलत ढंग से चुना गया हो और इस तरह इनको खण्डित किया जा सके तो भी इनका समाधान एक बिल्कुल सीधे सिद्धान्त से नहीं किया जा सकता, जिसमें यह माना जाता है कि संगीत हमेशा कविता से एक पीढ़ी पीछे रहता है। जाहिर है कि सामाजिक तत्वों का पार-

स्परिक सम्बन्ध स्थिर करने का प्रयास किया जाना चाहिए और ये तत्व हर मामले में अलग-अलग हुआ करते हैं।

हमारे सामने एक दूसरी समस्या आ उपस्थित होती है कि कुछ विशेष काल या राष्ट्र किसी एक या दो कलाओं में ही बहुत उर्वर रहे हैं जब कि दूसरों में वे या तो बिल्कुल बंजर रहे हैं या मात्र दूसरों की नकल करते रहे हैं या उपजीवी रहे हैं। इसका एक उदाहरण एलिज़बेथकाल की साहित्यिक समृद्धि है जिसके साथ अन्य किसी कला का उत्कर्ष देखने में नहीं आया था। एमिल लेगीइस ने अपनी पुस्तक **हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर** में इसका कारण बताते हुए लिखा है कि कारण चाहे जो भी हो, राष्ट्र की आत्मा किसी एक या दूसरी कला पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करती है, कि स्पेंसर अगर इटली में पैदा हुए होते तो वह टिशन या वेरोनीज़ हुए होते या यदि वह नीदरलैण्ड में पैदा हुए होते तो रेम्ब्रां या रूबन्ज़ हुए होते। अंग्रेजी साहित्य के बारे में तो यह बड़ी आसानी से बताया जा सकता है कि अन्य कलाओं की उपेक्षा के लिए प्योरिटनिज़्म उत्तरदायी है लेकिन नितान्त धर्मनिरपेक्ष साहित्य में इतनी उर्वरता और चित्रकला में लगभग सर्वथा गतिरोध के बीच पाये जानेवाले अन्तर के लिए इतनी सी बात काफी नहीं मानी जा सकती। लेकिन ये सारे प्रश्न हमें यहाँ से बिल्कुल दूर ठोस ऐतिहासिक समस्याओं की ओर खींचते हैं।

विभिन्न कलाओं—मूर्त कलाएँ, साहित्य और संगीत—का अपना अलग-अलग विकास हुआ करता है, और इस विकास का अपना वेग और खंडों का आन्तरिक गठन बिल्कुल अलग-अलग हुआ करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका आपस में निरन्तर सम्बन्ध बना रहता है, लेकिन ये सम्बन्ध ऐसे प्रभाव नहीं हुआ करते हैं जो एक विन्दु से शुरू होते हो और दूसरी कलाओं का विकास इनसे निर्धारित होता हो। इनके द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों का एक जटिल तंत्र हुआ करता है जो दोतरफा काम करता है। इसमें एक कला दूसरी से प्रभावित होती है और फिर उलट कर पहली को प्रभावित करती है, और यह प्रभाव जिस कला में प्रवेश करता है उसमें पहुँच कर बिल्कुल रूपान्तरित हो जाता है। यह किसी 'युग-सत्य' का सीधा-सादा मामला नहीं है जिससे सभी कलाएँ निर्धारित होती हैं और जो हर कला में व्याप्त रहता है। हमें किसी मनुष्य के समग्र सांस्कृतिक क्रिया-कलाप को स्वतः विकसित होने वाली एक पूरी व्यवस्था के रूप में भी देखना होगा। इस पूरी व्यवस्था में अनेक कड़ियाँ हुआ करती हैं और इन कड़ियों के अपने आदर्श हुआ करते हैं जो हर हालत में

अपनी पड़ोसी कड़ियों के आदर्शों से अभिन्न नहीं हुआ करते। अपने व्यापक अर्थ में कला के इतिहासकार का कार्य, जिसमें साहित्य और संगीत के इतिहासकार भी आते हैं, प्रत्येक कला में ऐसी वर्णनात्मक शब्दावली का विकास करना है जो उस विशिष्ट कला की अपनी प्रकृति पर आधारित हो। इस तरह आज कविता को एक नये काव्यशास्त्र की आवश्यकता है, विश्लेषण की एक ऐसी प्रविधि की आवश्यकता है जो अन्य ललित कलाओं की शब्दावली को मात्र काव्य में स्थानान्तरित करने से उपलब्ध नहीं हो सकती। साहित्यिक कला कृतियों के विश्लेषण के लिए इस तरह की एक सफल शब्द-राशि गढ़ लेने के बाद ही हम साहित्यिक कालों को सीमा में बाँध सकते हैं और यह सीमा 'युग सत्य' से प्रभावित आध्यात्यिक सत्ताओं से तैयार की गयी सीमा नहीं होगी। शुद्ध साहित्यिक विकास की इस तरह की रूपरेखा तैयार कर लेने के बाद ही हम यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि यह विकास दूसरी कलाओं के विषय में इसी तरह स्थिर किये गये विकास से किसी रूप में मिलता है या नहीं। जैसा कि हम देख सकते हैं, यह उत्तर सीधे 'हाँ' या 'नहीं' के रूप में नहीं होगा। यह समानान्तर प्रवृत्तियों का रूप न लेकर संयोगों और विच्छेदों के एक जटिल प्रतिरूप के रूप में होगा।



खण्ड : चार

साहित्य का अंतरंग अध्ययन

बारह

साहित्यिक कलाकृति का विश्लेषण

इसके पहले कि हम किसी कला-कृति के विभिन्न स्तरों का विश्लेषण कर सकें, हमें ज्ञान-मीमांसा विषयक एक बहुत कठिन प्रश्न उठाना होगा और वह है किसी कला कृति के 'अस्तित्व का रूप' 'या तात्विकीय स्थिति' (जिसे इसके आगे संक्षिप्तता के ख्याल से 'कविता' कहेंगे)। 'सच्ची' कविता क्या होती है; हम किसे इसका आदर्श मान सकते हैं; इसके अस्तित्व का क्या रूप होता है? इन प्रश्नों का यदि सही उत्तर मिल जाये तो हमारी आलोचना विषयक अनेक समस्यायें हल हो जायें, और किसी साहित्यिक कृति के उचित विश्लेषण का रास्ता साफ हो जाये।

इस प्रश्न का कि कविता क्या है और हम ऐसी कविता या सामान्य ढंग से कहें तो साहित्यिक कृति कहाँ पा सकते हैं, पुराने समय से ही अनेक उत्तर दिये जाते रहे हैं और अपनी ओर से कोई उत्तर देने की हम चेष्टा करें, इसके पहले ही इनकी आलोचना होनी चाहिए और इन्हें अपने रास्ते से अलग कर देना चाहिए। इसका सबसे पुराना और सर्वविदित उत्तर यह रहा है कि कविता एक 'शिल्पतथ्य' या 'कलाकृति' है, यह उसी ढंग की एक चीज है जिस ढंग की कोई मूर्ति या चित्र रचना होती है। इस रूप में कविता सफेद कागज या चर्मपत्र पर अंकित काली रेखाओं या यदि हम किसी बेबीलोनियाई कविता की बात सोचें तो मिट्टी की तख्ती पर खुदी रेखाओं से अभिन्न है। जाहिर है कि यह उत्तर बिल्कुल असन्तोषजनक है। सबसे पहले हमें मौखिक 'साहित्य' का एक विशाल भण्डार मिलता है। ऐसी अनेक कविताएँ या कहानियाँ हैं जिन्हें कभी लिखित रूप दिया ही नहीं गया, और जो आज तक बनी हुई हैं। इस तरह काली स्याही की रेखाएँ कविता को लिपिबद्ध करने का तरीका मात्र हैं, जिन्हें

पहले से ही कहीं अन्यत्र विद्यमान मानना होगा। यदि हम लेखन का या यहाँ तक कि समस्त मुद्रित पुस्तकों का नाश कर दें तो भी हम कविता को नष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि उस अवस्था में यह मौखिक रूप में या मैकाले जैसे किसी व्यक्ति की स्मृति में सुरक्षित रह सकती है, जिसका दावा था कि उसे पूरा - **पैराडाइज़ लास्ट** और **पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस** कण्ठस्थ है। दूसरी ओर यदि हम किसी चित्र या स्थापत्य के नमूने को नष्ट कर दें तो यह पूरा नष्ट हो जायेगा; हालांकि इसके योरे दूसरे किसी माध्यम में सुरक्षित रह सकते हैं और यहाँ तक कि हम खोई हुई चीज को नये सिरे से रचने की कोशिश भी कर सकते हैं। पर ऐसी स्थिति में हम एक सर्वथा भिन्न कलाकृति का निर्माण करेंगे। (चाहे यह पहली कृति से कितनी भी मिलती-जुलती क्यों न हो), जब कि किसी पुस्तक की प्रति को या यहाँ तक कि उसकी समस्त प्रतियों को नष्ट करके भी हम उस कलाकृति पर हाथ नहीं लगा सकते।

कागज पर लिखी चीज ही 'वास्तविक' कविता नहीं है, इस तथ्य को एक दूसरे तर्क से भी प्रमाणित किया जा सकता है। छपे हुए पन्ने पर अनेक ऐसे तत्व आ जाते हैं जो कविता से बाहर की चीज होते हैं: टाइप का आकार, प्रयुक्त टाइप का प्रकार (रोमन, इटैलिक), पृष्ठ का आकार और ऐसी ही दूसरी अनेक बातें। यदि हम इस दृष्टिकोण को सच्चे मन से मान लें कि कविता 'शिल्पतथ्य' होती है तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि प्रत्येक प्रति या कम से कम अलग-अलग ढंग से छपा प्रत्येक संस्करण एक अलग शिल्पतथ्य हुआ करता है। संभवतः ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं रह जाएगा कि अलग-अलग संस्करणों को उसी कृति की प्रतियाँ माना जाय। इसके अतिरिक्त, हम पाठक लोग प्रत्येक मुद्रित संस्करण को किसी कविता का शुद्ध संस्करण नहीं मानते। यह बात ही कि हम किसी ऐसी पुस्तक के पाठ में छापाखाने की भूलें सुधारने में समर्थ होते हैं जिसे हम पहले पढ़ चुके होते हैं, या कुछ मामलों में पाठ को सच्चा अर्थ देने में समर्थ होते हैं, यह जाहिर करता है कि हम मुद्रित पंक्तियों को ही शुद्ध पंक्तियाँ नहीं मानते। इस तरह हमने यह सिद्ध कर दिया है कि कविता (या कोई साहित्यिक कलाकृति) अपने मुद्रित संस्करण से अलग भी अपना अस्तित्व रख सकती है; और यह कि मुद्रित कलाकृति में अनेक ऐसे तत्व होते हैं जिन्हें हम किसी सच्ची कविता में शामिल नहीं मान सकते।

लेकिन इस नकारात्मक निष्कर्ष से हमें लेखन और मुद्रण के आविष्कार के बाद से कविता को लिपिबद्ध करने की हमारी पद्धति के अपार व्यावहारिक

महत्व को नजरअन्दाज नहीं कर देना चाहिए। इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि हमारे साहित्य का काफी बड़ा भाग गायब हो गया है, और इस तरह पूरी तरह नष्ट हो चुका है क्योंकि इसके लिखित अभिलेख गायब हो चुके हैं और सैद्धान्तिक दृष्टि से संभव मौखिक उपाय या तो उन्हें सुरक्षित रखने में असमर्थ रहा है या इसमें बाधा पड़ गयी है। लेखन ने, और विशेषतः मुद्रण ने हमारी साहित्यिक परम्परा की अक्षुण्णता को संभव बनाया है और कला कृतियों की एकरूपता और विश्वसनीयता को बढ़ाने में बहुत बड़ा योगदान किया है। इसके अतिरिक्त, कम से कम कविता के इतिहास के कुछ कालों में, चित्र-लेख किसी पूर्ण कलाकृति का अंग बन गया है।

जैसा कि अर्नेस्ट फेनोलोसा ने सिद्ध किया है, चीनी कविता में चित्रात्मक भावसंकेत कविता के समग्र अर्थ का एक हिस्सा होता है। परन्तु पश्चिमी परम्परा में भी **ग्रीक ऐन्थालजी** (ग्रीक काव्य संग्रह) की भी कुछ कविताएँ चित्रात्मक हैं, जार्ज हर्बर्ट की 'आल्टर' या 'चर्च फ्लोर' और मेटाफिजिकल कवियों की ऐसी ही कविताएँ जिनकी तुलना यूरोप में ही स्पेन के गांगोरिज्म, इटालवी मैरिनिज्म, जर्मन बैरक काव्य, और दूसरे स्थानों की कविताओं से की जा सकती है, चित्रात्मक लिपि में लिखी गयी हैं। अमरीका (जैसे कमिंग्स), जर्मनी (आर्नो हाल्ज़), फ्रान्स (मलार्मे, ऐपोलिनेयर) और दूसरे स्थानों की आधुनिक कविताओं में भी चित्रात्मक कौशल अपनाये गये हैं जैसे पंक्तियों की बेतरतीब सजावट, या कविता की पहली पंक्ति पृष्ठ के पाद भाग से शुरू करना, छपाई में अलग-अलग रंगों का प्रयोग आदि। स्टर्न ने अठारहवीं शताब्दी में ही अपने उपन्यास **ट्रिस्ट्रैम शैण्डी** में कोरे और अबरीदार पन्नों का उपयोग किया था। इस तरह की सभी युक्तियाँ किसी कलाकृति का अविभाज्य अंग हुआ करती हैं। हालांकि हम जानते हैं कि अधिकांश कविताएँ इनसे मुक्त होती हैं, परन्तु ऐसे मामलों में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसके अतिरिक्त कविता के मुद्रण की भूमिका इस तरह के अपेक्षाकृत ऊटपटांग प्रयोगों तक ही सीमित नहीं है। पद्य की पंक्तियों का अन्त, उनका पदों में विन्यास, गद्य के अंशों का अनुच्छेदों में विन्यास, चाक्षुष तुकें या श्लेष जिन्हें केवल वर्त्तनी के जरिये ही समझा जा सकता है, और इसी तरह की अनेक युक्तियाँ किसी कला-कृति का अविभाज्य अंग समझी जानी चाहिए। कविता के शुद्ध रूप से मौखिक होने का सिद्धान्त इन सभी बातों की उपेक्षा करता है परन्तु किसी कला-कृति के पूर्ण विश्लेषण में इस तरह की युक्तियों की उपेक्षा

नहीं की जा सकती। हालांकि चित्रात्मक युक्तियों का प्रयोग ऐसा नहीं है कि इसे अपरिहार्य माना जाय, पर साहित्य में यह संगीत की अपेक्षा, जिसके मुद्रित पृष्ठ भी उसी स्थिति में होते हैं जिस स्थिति में कविता के मुद्रित पृष्ठ, अधिक पाया जाता है। संगीत में इस तरह के प्रयोग बहुत कम होते हैं, हालांकि ऐसी बात नहीं कि इस तरह के प्रयोग बिल्कुल पाये ही न जाते हों। सोलहवीं शताब्दी के ग्रीक गीतों की संगीत-लिपि उतारने में अनेक तरह के चाक्षुष उपाय (रंग इत्यादि) काम में लाये गये हैं। हैण्डेल ने, जिन्हें एक 'शुद्ध' और 'निरपेक्ष' संगीत-रचयिता माना जाता है, लाल सागर की बाढ़ के विषय में जिसमें 'जल की दीवार सी खड़ी हो गयी थी' एक समूह गान लिखा था और संगीत के छपे पन्नों पर इसकी स्वर-लिपि इस तरह लिखी गयी है कि इससे बराबर दूरी पर लगे विन्दुओं से एक कतार सी बन जाती है जिससे यह संकेत मिलता है कि एक दीवार सी खड़ी हो गयी है।

हम लोगों ने अपनी चर्चा एक ऐसे सिद्धान्त से शुरू की है जिसके आज संभवतः बहुत कम पक्के समर्थक रह गये हैं। हमारे प्रश्न का दूसरा उत्तर साहित्यिक कलाकृति का सार कविता के सुनाने वाले या पढ़ने वाले के मुंह से उच्चरित ध्वनियों में निहित मानता है। इस समाधान को मानने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक है और विशेष रूप से इसके समर्थक काव्य पाठ करने वाले लोग हैं। परन्तु यह समाधान भी पहले जैसा ही असन्तोषजनक है। किसी कविता का प्रत्येक मुखर या सस्वर पाठ मात्र एक कविता का पाठ ही हुआ करता है, न कि स्वयं कविता। इसका स्तर लगभग वही हुआ करता है जो किसी संगीतकार द्वारा किसी संगीत के प्रस्तुतीकरण का। अब हम अपने पहले तर्क पर लौटें तो ऐसा बहुत सा लिखित साहित्य है जिसे कदापि उच्चरित किया ही नहीं जा सकता। इस तथ्य को अस्वीकार करने के लिए हमें कोई ऐसा सिद्धान्त गढ़ना होगा, जैसा कि व्यवहारवादियों ने गढ़ रखा है, कि प्रत्येक मौन पाठ के साथ हमारे उच्चारण तन्त्र में भी कम्पन होता रहता है। सचाई तो यह कि जब तक हम लगभग निरक्षर न हों, या कोई विदेशी भाषा पढ़ने के लिए माथापच्ची न कर रहे हों, या जान-बूझ कर ध्वनि को फुसफुसा कर उच्चरित न कर रहे हों तब तक हम प्रायः पूरे छपे शब्द को फोनीमों (स्वनियों) के अनुक्रम में तोड़े बिना ही पढ़ते हैं, और इस तरह हम उनका मौन उच्चारण भी नहीं करते हैं। तेजी से पढ़ते समय तो हमारे पास इतना समय भी नहीं रहता है कि हम ध्वनियों को अपने ध्वनितंत्र से उच्चरित भी कर सकें। इसके

अतिरिक्त यह मानना कि कविता का अस्तित्व उसके मुखर पाठ में है, हमें इस अद्‌भुत निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि उच्चरित न होने की स्थिति में कविता का अस्तित्व ही नहीं होता, और प्रत्येक पाठ में इसका नवनिर्माण होता है।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि किसी कविता के प्रत्येक पाठ में शुद्ध कविता के अतिरिक्त अन्य चीजें भी मिली होती हैं। हर बार कविता के प्रस्तुतीकरण के साथ इसमें इससे बाहर के अनेक तत्व लगे रहते हैं और लगी रहती हैं उच्चारण, उतार, चढ़ाव, वेग, बलाघात सम्बन्धी अपनी विलक्षणताएँ—इन तत्वों का निश्चय पाठ करने वाले के व्यक्तित्व से होता है या वह कविता का जो अर्थ करता है ये उसके लक्षण और साधन होते हैं। इसके अतिरिक्त किसी कविता के पाठ में न केवल वैयक्तिक तत्व आ मिलते हैं, बल्कि कविता के पाठ में अव्यक्त पड़े तत्वों में से यह सदा किसी चुने हुए पक्ष का ही प्रस्तुतीकरण करता है। स्वर का उतार-चढ़ाव, किसी कड़ी को पढ़ने का वेग, बलाघात का वितरण और तीव्रता, ये सभी ठीक या गलत हो सकते हैं, पर जब ये बिल्कुल ठीक होते हैं, तब भी ये किसी कविता के पाठ के किसी एक पाठ को ही प्रस्तुत कर सकते हैं। हमें यह स्वीकार करना होगा कि किसी कविता के अनेक पाठ हो सकते हैं। ऐसे पाठ जिनके विषय में यदि हम यह समझते हैं कि यह कविता के अर्थ को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करते हैं तो हम उन्हें गलत पाठ मान लेते हैं, या ऐसे पाठ जिन्हें हम ठीक और स्वीकार्य तो मानते हैं पर फिर भी उन्हें आदर्श पाठ नहीं मानते।

कविता का पाठ स्वयं कविता नहीं है क्योंकि हम लोग कविता के पाठ में मनसा सुधार कर सकते हैं। यहाँ तक कि यदि हम कोई ऐसा काव्य पाठ भी सुनें जिसे हम आदर्श या शुद्ध पाठ मान लें तो भी हम इस संभावना को कैसे दर-किनार कर सकते हैं कि कोई दूसरा व्यक्ति या वही व्यक्ति किसी दूसरे अवसर पर इसे दूसरी तरह पढ़ सकता है जिससे कविता के दूसरे पहलुओं को भी उसी खूबी से उभारा जा सके। संगीत-वादन से इसका सादृश्य यहाँ भी सहायक रहेगा: यदि कोई टाइसाकिनी भी किसी सिम्फनी का वादन करे तो उसकी भी यह दूसरी सिम्फनी ठीक वही सिम्फनी नहीं हुआ करती जिसे उसी से पहले सुना गया था, क्योंकि इसमें अनिवार्य रूप से वादन करने वाले का अपना रंग चढ़ा हुआ रहता है, और इसमें आरोह, अवरोह, आलाप और द्रुति आदि ऐसे अनेक ठोस तत्व आ जुड़ते हैं जिनके कारण इसका अगला वादन बदल सकता है, हालांकि हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि दूसरी बार

भी हम वही सिम्फनी सुन रहे हैं जो हमने पहली बार सुनी थी। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि किसी कविता का अपने सस्वर पाठ से अलग भी अपना अस्तित्व हुआ करता है, और यह कि सस्वर पाठ में ऐसे अनेक विजातीय तत्व आ मिलते हैं जिन्हें कविता में शामिल नहीं माना जा सकता।

इसके बावजूद भी किन्हीं साहित्यिक कला-कृतियों में (विशेषतः गीति रचनाओं में) कविता का गेय पक्ष भी सामान्य गठन का एक महत्वपूर्ण अंग हो सकता है। इस ओर अनेक दृष्टियों से ध्यान आकर्षित किया जा सकता है जैसे छन्द योजना, मधुर या परुष वर्णों की योजना, अनुप्रास, यति और तुक आदि। इसी से इस तथ्य का भी स्पष्टीकरण हो जाता है--या स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है—कि किसी कविता का अनुवाद पूरा सन्तोषजनक क्यों नहीं हो पाता है। कारण यह है कि इसके संभावित ध्वनि विन्यास को दूसरी भाषा में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता, हालांकि एक कुशल अनुवादक इसके सामान्य प्रभाव को एक सीमा तक अपनी भाषा में उतार सकता है। लेकिन बहुत सारा साहित्य ऐसा है जो ध्वनि-विन्यास से सर्वथा मुक्त है। कविता के पूरे ढाँचे में ध्वनि एक महत्वपूर्ण तत्व हो सकती है परन्तु यह मानना कि कविता ध्वनियों का ही एक अनुक्रम है उतना ही असन्तोषजनक है जितना यह मानना कि पृष्ठ पर छपी सामग्री ही कविता है।

हमारे प्रश्न का एक तीसरा और बहुत आम सा जवाब यह है कि कविता पाठक का अनुभव हुआ करती है। तर्क यह दिया जाता है कि कविता पाठक की अपनी मानसिक प्रक्रियाओं से अलग कुछ नहीं होती, और इस रूप में यह उस मनोदशा या प्रक्रिया से अभिन्न हुआ करती है जो हम किसी कविता को पढ़ते या सुनते समय अनुभव करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक समाधान भी पूरा सन्तोष नहीं दे पाता। यह बात तो सच है कि कोई कविता व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से ही समझी जा सकती है परन्तु यह व्यक्तिगत अनुभव से अभिन्न नहीं होती। प्रत्येक कविता के अनुभव में कुछ निजी विशेषता और वैयक्तिकता हुआ करती है। इस पर हमारी अपनी मनःस्थिति और हमारी निजी अन्त-र्दृष्टि का रंग चढ़ा रहता है। पाठक की शिक्षा, व्यक्तित्व, किसी समय का सांस्कृतिक वातावरण, प्रत्येक पाठक का धार्मिक या दार्शनिक या शुद्ध तकनीकी पूर्वाग्रह आदि सद्यःजात व विजातीय तत्व कविता पढ़ते समय उसमें आ मिलते हैं। एक ही व्यक्ति यदि एक ही कविता को दो बार पढ़ता है तो दोनों बार के पढ़ने में अन्तर आ जायेगा। कारण या तो वह पहले से अधिक परिपक्व

हो चुका होगा या थकान, चिन्ता या मानसिक अस्थिरता जैसी अस्थायी बातों के कारण कमजोर अनुभव करता होगा। इस तरह किसी कविता के हर पाठ में या तो कुछ बातें छूटी रह जायेंगी या कुछ व्यक्तिगत तत्व आ मिलेंगे। अतः अनुभव कविता के अनुरूप ही नहीं होगा। यहाँ तक कि कविता का एक अच्छा पाठक भी उसी कविता में कुछ नयी बातें ढूंढ़ निकालेगा जिनका अनुभव उसे इससे पहले के पाठों में नहीं हुआ था और यह तो कहने की कोई जरूरत ही नहीं है कि जो आदमी कविता पढ़ने का आदी ही नहीं है या जिसे कविता पढ़ने की बहुत कम आदत है, वह इसके पाठ को कितना उथला बना देगा या इसमें कितनी तोड़-मरोड़ कर देगा।

कविता को पाठक का अनुभव मानने के कारण ही लोग इस तरह के बेतुके निष्कर्ष निकालते हैं कि किसी कविता का जब तक पाठक को अनुभव न हो, या कहें जब तक वह उसके प्रत्येक अनुभव का मानसिक चित्र खड़ा करने में समर्थ न हो तब तक कविता का अस्तित्व ही नहीं रहता। इस तरह कहें तो डिवाइन कामेडी कोई एक रचना नहीं हुई अपितु उतनी अधिक डिवाइन कामेडियाँ हुईं जितने आज इसके पाठक हैं, कभी थे या आगे होंगे। ऐसी स्थिति में हम घोर अनिश्चय और अव्यवस्था में पड़ जाते हैं। यदि हम इस मत को सही मन से मान लें तो यह समझाना असंभव हो जायेगा कि किसी कविता का किसी एक पाठक को जो अनुभव होता है वह किसी दूसरे पाठक के अनुभव से क्यों अधिक अच्छा हो सकता है, और कोई एक आदमी उस कविता का जो अर्थ करता है उसे दूसरा आदमी सुधार कैसे सकता है। साहित्य के अध्यापक का लक्ष्य है किसी पाठ को समझने और सराहने की क्षमता में वृद्धि करना; परन्तु इस दृष्टिकोण को मान लें तो साहित्य के अध्ययन का पूरी तरह अन्त हो जायेगा। आई० ए० रिचर्ड्स के लेखों और पुस्तकों से और विशेष रूप से व्यावहारिक आलोचना पर लिखी गयी, उनकी पुस्तक से यह सिद्ध हो गया है कि किसी अच्छे पाठक की अपनी विलक्षणताओं का विश्लेषण करने में क्या कुछ किया जा सकता है और दृष्टि दोष दूर करने में किसी अच्छे अध्यापक को कहाँ तक सफलता मिल सकती है। विचित्र बात यह है कि आई० ए० रिचर्ड्स एक ओर तो लगातार अपने शिष्यों के अनुभवों की आलोचना करते रहे हैं और वह एक ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं जो उनकी अपनी बेजोड़ आलोचना-पद्धति से बिल्कुल उल्टा पड़ता है। यह विचार कि कविता का प्रयोजन हमारे आवेगों को सही रास्ते पर लाना है, और यह निष्कर्ष कि

कविता का महत्व इस बात में है कि वह किसी न किसी रूप में हमारा मानसिक उपचार करती है, अन्ततः उनको यह मानने को प्रेरित करता है कि यह लक्ष्य बुरी कविताओं से भी ठीक उसी तरह सिद्ध हो सकता है जैसे अच्छी कविताओं से। यह किसी कालीन, बर्त्तन या भंगिमा से भी उसी तरह सिद्ध हो सकता है जैसे किसी सोनाटा (संगीत) से। इस तरह हमारे मन का कल्पित पैटर्न निश्चित रूप से उस कविता से जुड़ा नहीं रहता है जिससे इसकी उत्पत्ति हुई थी।

पाठक का मनोविज्ञान अपने आप में कितना भी रोचक क्यों न हो, या यह शैक्षणिक दृष्टि से कितना भी उपयोगी क्यों न हो, परन्तु यह साहित्यिक अध्ययन के लक्ष्य—ठोस कलाकृतियों—से सदा बाहर ही रहेगा और किसी कला-कृति के रचना-विधान और मूल्य की समस्या को सुलझाने में असमर्थ है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त प्रभाव के सिद्धान्त हुआ करते हैं और अपनी अति पर पहुँच कर ये कविता के ऐसे मानकों और मूल्यों को जन्म देते हैं जैसे मानक और मूल्य ए० ई० हाउसमन ने **द नेम एण्ड नेचर आफ पोएट्री** में प्रस्ताविक किये हैं जिसमें वह चटखारे भरते हुए कहते हैं कि अच्छी कविता इस बात से पहचानी जा सकती है कि इसे पढ़ने पर हमें रोमांच हो आता है। उनका यह सिद्धान्त ठीक अठारहवीं शताब्दी के सिद्धान्तों के स्तर का है जिनमें त्रासदी की उत्कृष्टता इस बात से मापी जाती थी कि इसे देखकर दर्शकों ने कितना आँसू बहाया है या जिसमें कामदी की उत्कृष्टता की परख दर्शकों के ठहाकों की गिनती से की जाती थी। चूंकि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का न तो कविता के गठन से कोई सम्बन्ध होता है न ही उसकी गुणवत्ता से, अतः इस तरह की अराजकता, सन्देहवाद, और मूल्यों का विभ्रम प्रत्येक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से पैदा होता है।

आई० ए० रिचर्ड्स जब कविता की परिभाषा करते हुए इसे 'सही ढंग के पाठक का अनुभव' बताते हैं तो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में थोड़ा सा सुधार नजर आता है। जाहिर है कि यहाँ पूरी समस्या सही ढंग के पाठक पर—और इस विशेषण के अर्थ पर टाल दी गयी है। परन्तु यदि बहुत अच्छी पृष्ठ-भूमि और सर्वोत्तम प्रशिक्षण के किसी पाठक की आदर्श मनोदशा की बात मान भी ली जाये तो भी यह परिभाषा सन्तोषजनक नहीं हो पाती, क्योंकि इस पर वे सभी आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं जो हम मनोवैज्ञानिक पद्धति के विषय में उठा चुके हैं। इससे कविता का सार तत्व एक क्षणिक अनुभव में चला जाता है जिसे यह सही ढंग का पाठक भी बिना फेर-बदल के फिर दुहरा नहीं सकता।

यह किसी भी विशेष क्षण में कविता के पूरे अर्थ से घट कर रहेगा और पाठ में अनिवार्य रूप से कुछ व्यक्तिगत तत्व आ मिलेंगे।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक चौथा जवाब सुझाया गया है। जो कविता हम सुनते हैं वह लेखक का अनुभव हुआ करती है। हम लोग लगे हाथ ही इस विचार को खत्म कर लें कि कविता इसकी रचना के बा: जब वह इसे पढ़ता है उस समय के लेखक के जीवन का अनुभव हुआ करती है। उस समय तो वह अपनी ही रचना का महज एक पाठक हो चुका रहता है और उससे भी वे ही भूलें और अर्थ-दोष हो सकते हैं जो किसी दूसरे पाठक से हो सकते हैं। इस बात के अनेक उदाहरण जुटाए जा सकते हैं जिनमें लेखकों ने स्वयं अपनी ही कृतियों का अर्थ करने में भयानक गलतियाँ की हैं: ब्राउनिंग के बारे में इस पुराने किस्से में कुछ जान हो सकती है जिसमें उसने माना था कि उसे अपनी ही एक कविता का अर्थ नहीं मालूम है। यह बात हम लोगों में से हर एक के साथ घटित होती है। हम कुछ समय पहले की खुद अपनी ही लिखी चीजों का गलत अर्थ कर बैठते हैं या पूरी तरह समझ नहीं पाते हैं अतः इस उत्तर का सम्बन्ध सर्जना के समय लेखक के अनुभव से ही हो सकता है। परन्तु 'लेखक के अनुभव' के हम दो अर्थ लगा सकते हैं: चेतन अनुभव, वह आशय जिसे लेखक ने अपनी कृति में उतारना चाहा हो, या सृजन की लम्बी घड़ियों का समग्र चेतन और अचेतन अनुभव। यह दृष्टिकोण कि सच्ची कविता तो लेखक के अपने अभिप्रायों में ही हो सकती है बहुत व्यापक है, हालांकि इसे सदा स्पष्ट रूप में कहा नहीं जाता है। इसी को आधार बना कर बहुत सारा ऐतिहासिक अनुसन्धान कार्य किया गया है और अनेक विशिष्ट अर्थों के पक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं उनके पीछे भी यही दृष्टिकोण रहा करता है। फिर भी अधिकांश कला-कृतियों के विषय में उन कला-कृतियों को छोड़कर लेखक के आशयों को समझने का अन्य कोई प्रमाण नहीं हुआ करता। यहाँ तक कि लेखक के अपने आशयों की घोषणा के रूप में, जहाँ हमें समसामयिक प्रमाण उपलब्ध भी होते हैं, वहाँ भी इस तरह की घोषणा किसी आधुनिक पर्यवेक्षक के लिए बाध्यकर नहीं होनी चाहिए। लेखक के अपने 'आशय' सदा 'आदर्शीकरण' हुआ करते हैं। ये एक तरह की टीका हुआ करते हैं जिन्हें ध्यान में नहीं रखा जाना चाहिए अपितु किसी पूर्ण कलाकृति के प्रकाश में इनकी आलोचना की जानी चाहिए। लेखक के 'आशय' पूर्ण कलाकृति से बहुत आगे जा सकते हैं: ये सिर्फ लेखक की योजना और आदर्श की घोषणाएँ हो सकते

हैं, जब कि इनका निष्पादन या तो लक्ष्य से बहुत नीचे जा सकता है या काफी भटक सकता है। यदि हम शेक्सपियर से साक्षात्कार कर सकते तो संभवतः वह **हैम्लेट** लिखने के पीछे अपना जो आशय बताते, उसे हम नितान्त असंतोष-जनक पाते। इसके बावजूद हम लोग **हैम्लेट** से ही अर्थ पाने पर (और इन अर्थों का निरा आविष्कार करने पर नहीं) बल देते तो हमारा ऐसा करना बिल्कुल उचित होता, और ये अर्थ संभवतः शेक्सपियर के चेतन मन में स्पष्ट रूप से बने हुए आशयों से बहुत दूर पड़ते।

कलाकार अपने आशयों को व्यक्त करते समय समसामयिक आलोचना की स्थिति और आलोचना के सूत्रों से बहुत अधिक प्रभावित हो सकते हैं। लेकिन आलोचना के सूत्र भी उनकी सृजनात्मक उपलब्धियों को मापने में नितान्त अपर्याप्त हो सकते हैं। बैरक युग इसका एक अच्छा नमूना हो सकता है, क्योंकि बेहद नई कलात्मक उपलब्धियों पर भी न तो स्वयं कलाकारों ने कोई घोषणा की है न आलोचकों ने ही कोई टिप्पणी की है। बर्नी जैसा मूर्तिकार पेरिस की अकैडेमी में यह विचार रखता हुआ भाषण दे सकता था कि उसकी कला प्राचीन कलाकारों की कला से पूरी तरह मेल खाती है, और ड्रेसडन तथा ज्विगर में उच्च कोटि की रोकोको इमारतें बनाने वाले वास्तुकार एडम पापेल-मान ने यह सिद्ध करने के लिए कि उसकी अपनी रचना विट्रूवियस के सिद्धान्तों पर बिल्कुल खरी उतरती है, एक पैम्फ्लेट लिख डाला था। मेटाफिजिकल कवियों के पास कुछ थोड़े से सूत्र थे (जैसे 'कठोर नैतिकता') जो बिल्कुल अपर्याप्त थे और जो उनके अपने शिल्प पर लगभग कोई प्रकाश नहीं डालते; और मध्यकालीन कवि प्रायः शुद्ध धार्मिक या उपदेशपरक 'आशयों' की बात करते हैं जो उनके कलागत सिद्धान्तों के अमल की झलक तक नहीं देते। साहित्य के इतिहास में सचेतन आशय और वास्तविक व्यवहार में विरोध-भाव एक आम सी बात है। ज़ोला प्रायोगिक उपन्यासों के अपने वैज्ञानिक सिद्धान्त में पक्का विश्वास रखते थे, लेकिन उन्होंने वस्तुतः शुद्ध प्रहसनों और प्रतीकात्मक उपन्यासों की रचना की। गोगोल अपने को एक सामाजिक सुधारक और 'रूस का भूगोल-वेत्ता' मानते थे, जब कि असल में उन्होंने ऐसे उपन्यासों और कहानियों की रचना की जो उनकी कल्पना के अजीबो-गरीब तथा बेढंगे चरित्रों से भर-पूर हैं। किसी लेखक के अपने आशयों के अध्ययन पर निर्भर करना बिल्कुल असंभव है, क्योंकि ये उसकी रचना पर शुद्ध टीका का भी काम नहीं दे सकते और यदि ये बहुत अच्छे बन पड़ें तो भी इस तरह की टीका से आगे नहीं जा सकते।

यदि 'आशय' के अध्ययन से हम सिर्फ यह मतलब समझते हैं कि यह अपनी पूर्ण अर्थवत्ता की ओर अग्रसर किसी समग्र कलाकृति का अध्ययन है तो इससे किसी तरह की आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु 'आशय' शब्द का यह अर्थ बिल्कुल भिन्न और किंचित भ्रामक है।

परन्तु इसका अवान्तर सुझाव—कि असल कविता सृजन के क्षणों की चेतन और अवचेतन समग्र अनुभूति हुआ करती है—भी बहुत असंतोषजनक है। व्यावहारिक रूप में देखें तो इस निष्कर्ष में समस्या को एक शुद्ध काल्पनिक और अगम्य स्थिति पर पहुँचा दिया जाता है, जिसकी कल्पना कर पाना या छान-बीन कर पाना किसी तरह भी सम्भव नहीं है और इस तरह हमारे सामने एक बहुत बड़ी असुविधा आ खड़ी होती है। इस दुर्लंघ्य बाधा के अतिरिक्त भी यह समाधान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इसमें कविता का अस्तित्व व्यक्तिनिष्ठ अनुभव में माना जाता है जो अब एक बीती हुई चीज है। सृजन के क्षणों में लेखक के जो अनुभव होते हैं, वे कविता के तैयार हो जाने के बाद खत्म हो जाते हैं। यदि यह बात सच है तो हम किसी कलाकृति के सीधे सम्पर्क में कभी आ ही नहीं सकते अपितु हमें सदा यही मान कर चलना होगा कि कविता पढ़ते समय हमें जो कुछ अनुभव हो रहा है वह हू-ब-हू वैसा ही है जैसा लेखक को इसकी रचना करते समय बहुत पहले हुआ था। ई० एम० टिलयार्ड ने मिल्टन पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें वह यह मानकर चले हैं कि **पैराडाइज लास्ट** अपनी रचना के समय लेखक की मनोदशा के बारे में लिखी गयी है। सी० एस० लेविस से इस विषय पर उनकी काफी दिनों तक और बहुत असंगत बहस जारी रही पर इसके बावजूद, वह इस बात को स्वीकार नहीं कर सके कि **पैराडाइज लास्ट** सबसे पहले तो शैतान, आदम और हौवा के बारे में है और उन सैकड़ों हजारों विचारों, स्थापनाओं और प्रत्ययों के बारे में है न कि इसकी रचना के समय मिल्टन की मनोदशा के बारे में। यह कहना तो बिल्कुल दुरुस्त है कि इस कविता की समूची वस्तु कभी न कभी मिल्टन के चेतन और अवचेतन मन में थी; परन्तु मानसिक स्थिति तक एक तो पहुँचा नहीं जा सकता, और दूसरे उस विशेष क्षण में उसमें ऐसे लाखों अनुभव भरे हुए हो सकते हैं जिनका कविता में कोई चिह्न भी नहीं मिल सकता। यदि इसे शब्दशः मान लिया जाये तो यह पूरा समाधान हमें रचनाकार की इस मनःस्थिति के बने रहने की ठीक-ठीक अवधि, और उसके मन में भरी हुई बातों के विषय में, जिसमें सृजन के क्षणों का दाँत का दर्द भी शामिल हो सकता है,

बे-सिर-पैर की अटकलबाजियों में पड़ जाना होगा। मनःस्थिति के माध्यम से, चाहे ये मनःस्थितियाँ लेखक की हों या पाठक की या श्रोता की, साहित्य तक पहुँचने के तरीके से जितनी समस्याओं का हल नहीं मिलता उससे अधिक नई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं।

इससे अच्छा रास्ता तो कलाकृतियों को सामाजिक और सामूहिक अनुभवों की अभिव्यक्ति मानने का है। इस समाधान की दो दिशाएँ हैं जो हमारी समस्या का सन्तोषजनक उत्तर देने में पूरी तरह समर्थ नहीं हैं। हम यह कह सकते हैं कि कोई कलाकृति उस कविता के सब विगत और संभव अनुभवों का कुलयोग होती है: इस समाधान के साथ हमारे सामने अनन्त अप्रासंगिक व्यक्तिगत अनुभव आ खड़े होंगे, जिनमें अच्छे और बुरे सभी तरह के अनुभव और विकृतियाँ आएँगी। संक्षेप में कहें तो इससे यह निष्कष निकलता है कि कविता अपने पाठक की मनःस्थिति में अन्तहीन रूप में होती है, अर्थात् मनःस्थिति गुणा अनन्त। दूसरा समाधान सवाल का यह उत्तर देता है कि कविता में जो भी अनुभव पाये जाते हैं उन सबमें निहित सामान्य अनुभव की अभिव्यक्ति कविता है, परन्तु इस उत्तर से कोई कलाकृति इन अनुभवों के सार्वहर (या सर्वनिष्ठ खंड) की स्थिति में आ जाती है। यह हर लघुतम सार्वहर ही मानना होगा, यानी सबसे उथला, सबसे सतही और ओछा अनुभव। अन्य व्यावहारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त इस समाधान से किसी कलाकृति का समग्र अर्थ बिल्कुल क्षीण हो जायगा।

हमारे प्रश्न का उत्तर सामाजिक या वैयक्तिक मनोविज्ञान नहीं दे सकता। निष्कर्ष यह कि कोई कविता एक अलग अनुभव या अनेक अनुभवों का कुल योग नहीं होती, अपितु यह अनुभवों का एक शक्य कारण होती है। मानसिक स्थिति के रूप में इसकी परिभाषा करना इसलिए गलत है क्योंकि किसी सच्ची कविता का आदर्श-स्थापक स्वरूप इसके अन्तर्गत नहीं आ सकता, और इसका कारण बिल्कुल सीधा है—इसका अनुभव निर्दोष भी हो सकता है और सदोष भी। हर एक अनुभव का एक छोटा सा अंश ही किसी सच्ची कविता के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। इस तरह यह मानना होगा कि कोई सच्ची कविता अनेक आदर्शों की बनी एक संरचना होती है, जिसके अनेक पाठकों के वास्तविक अनुभव में यह आंशिक रूप मे ही आ सकती है। प्रत्येक अनुभव (सामान्य पाठ—सस्वर पाठ आदि) इन आदर्शों या मानकों तक पहुँचने का कमो-बेश सफल और पूर्ण-प्रयास मात्र हुआ करता है।

यहाँ 'आदर्श' शब्द का प्रयोग जिस रूप में किया गया है, उसे क्लासिकी

या स्वच्छन्दतावादी, नैतिक या राजनैतिक आदर्श के समझने की भूल न करें। यहाँ हमारा तात्पर्य जिन 'आदर्शों' से है वे अव्यक्त आदर्श हैं जिन्हें किसी कलाकृति के प्रत्येक पृथक् अनुभव से ग्रहण करना पड़ता है, और जिनका समन्वित रूप ही कोई पूरी कलाकृति हुआ करती है। यह सच है कि यदि हम कलाकृतियों की पारस्परिक तुलना करें तो यह सुनिश्चित किया जा सकेगा कि इन आदर्शों में कितनी समानताएँ और विषमताएँ हैं और समानताओं के आधार पर ही एक तरह के आदर्शों को मूर्त करनेवाली कलाकृतियों को एक वर्ग में रखते हुए इनके वर्गीकरण की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। अन्ततः हम विभिन्न विधाओं के सिद्धान्तों का और बाद में साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों का पता लगा सकते हैं। इससे वे लोग ही इन्कार करते हैं जो प्रत्येक कलाकृति की स्वविशिष्टता पर बहुत अधिक बल देते हैं, और इससे इन्कार करने पर विशिष्टता की धारणा को इस सीमा तक पहुँचा दिया जाता है कि प्रत्येक कलाकृति अपनी परम्परा से बिल्कुल कटकर अलग हो जाती है और इस तरह वह अन्ततः असंप्रेष्य और अबोध्य बन जाती है। यह मान लेने पर भी कि हमें किसी एक कलाकृति के विश्लेषण से अपनी बात आरंभ करनी होगी, इस बात से इन्कार करना बहुत कठिन है कि कुछ ऐसी कड़ियाँ हैं, ऐसी समानताएँ या समान घटक हैं जो दो या अधिक कृतियों को एक दूसरे मे जोड़ते हैं और इस प्रकार एक कृति से एक टाइप की सभी कृतियों—जैसे ग्रीक त्रासदी और फिर त्रासदी मात्र और इसके बाद साहित्य मात्र—के विश्लेपण का द्वार खुल जाता है और फिर हम कुछ ऐसे तत्वों पर पहुँच जाते हैं जो समस्त कलाओं में समान रूप से उपस्थित होते हैं।

परन्तु यह तो आगे की समस्या है। अभी तो हमें यही निश्चय करना है कि इन आदर्शों का अस्तित्व कहाँ और किस रूप में होता है। यदि किसी कलाकृति का गहन विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि यह मानना अधिक ठीक है कि किसी कृति में केवल एक ही आदर्श-प्रणाली नहीं हुआ करती अपितु यह एक ऐसी प्रणाली होती है जिसकी अनेक परतें होती हैं, जिनमें से प्रत्येक पर्त के अपने गौण आदर्श-समुदाय होते हैं। पोलैण्ड के एक दार्शनिक रोमन इनगार्डेन ने साहित्यिक कलाकृतियों के विषय में एक अत्यन्त विद्वतापूर्ण और तकनीकी विश्लेषण किया है, जिसमें इस तरह की परतों के विभेद करने के लिए उसने हसर्ल की 'फेनामेनालजी' (संवृतिशास्त्र) की पद्धति का प्रयोग किया है। यह पता लगाने के लिए कि ये सामान्य विभेद पुष्ट और उपयोगी हैं

या नहीं, हमें इसकी एक-एक बारीकी पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है: एक तो ध्वनि का स्तर होता है, जिसे शब्दों की वास्तविक ध्वनि समझने की भूल नहीं करनी चाहिए, जैसा कि हमारे पहले तर्क से प्रकट होता है। इसके बावजूद, यह पैटर्न अपरिहार्य है, क्योंकि ध्वनियों के आधार पर ही दूसरी परत—अर्थ की इकाई—उत्पन्न हो सकती है। प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ होगा, यह दूसरी इकाइयों से मिलकर नये सन्दर्भ, नये पद (सिंटेग्मा) और नये वाक्य-विन्यास तैयार करेगा। इस वाक्य-विन्यास से, प्रस्तुत वस्तुओं की, उपन्यासकार की 'दुनिया'—चरित्रों और माहौल—की एक तीसरी परत सामने आती है। इनगार्डेन ने दो और परतों की बात की है, जिन्हें एक दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं किया जा सकता। जिसे हम लेखक की 'दुनिया' की परत कहते हैं वह एक विशेष दृष्टिकोण से देखने का परिणाम है, जिसे हर हालत में 'अभिधा' में नहीं कहा जाता अपितु बहुत बार यह व्यंजित होती है। उदाहरण के लिए, साहित्य में कोई घटना दो रूपों में पेश की जा सकती है, 'दृष्ट' रूप में या 'श्रुत' रूप में: यहाँ तक कि एक ही घटना, जैसे दरवाजे पर थाप देना इन दोनों रूपों में प्रस्तुत की जा सकती है। किसी पात्र को उसके 'आन्तरिक' या 'बाह्य' चरित्रगत विशिष्टताओं के रूप में देखा जा सकता है। और अन्ततः इनगार्डेन 'आध्यात्मिक गुणों' की एक परत की बात करते हैं (उदात्त, त्रासद, भयानक, पवित्र) जिसकी चिन्तना साहित्य से जाग्रत हो सकती है। यह परत अपरिहार्य नहीं है और यह कुछ कलाकृतियों में लुप्त रह सकती है। बाद की इन दो परतों को लेखक की 'दुनिया' में, चित्रित वस्तुओं के लोक में, शामिल किया जा सकता है। लेकिन उनसे साहित्य के विश्लेषण में बड़ी यथार्थ समस्याओं का भी जन्म होता है। हेनरी जेम्स के समय से, और खासकर तब से जब लबक ने जेम्स की रचनाओं के सिद्धान्त और प्रयोग पर अधिक व्यवस्थित समीक्षा प्रस्तुत की तब से, कम से कम उपन्यास में, 'दृष्टिकोण' की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। 'आध्यात्मिक गुणों' वाली परत के कारण ही इनगार्डेन ने, सामान्य बौद्धिक खतरों के बिना ही, कलाकृतियों की 'दार्शनिक अर्थवत्ता' का प्रश्न फिर से ला खड़ा किया है।

यहाँ भाषा-विज्ञान के उदाहरण से इस अवधारणा को स्पष्ट कर देना भी उपयोगी होगा। फर्डिनेण्ड डी सासर और प्राग के भाषा वैज्ञानिकों की मण्डली ने बड़ी सावधानी से 'लैंग्यू' और 'पैरोल' में—भाषा-प्रणाली में और अलग-अलग आदमी की बोलने की क्रिया में—बहुत सूक्ष्म भेद किये हैं; और यह फर्क ठीक

वैसा ही है जैसा कविता के अपने स्वरूप के, और कविता के विषय में अलग-अलग लोगों के अनुभवों के बीच हुआ करता है। भाषा-प्रणाली (व्याकरण सम्मत भाषा) रूढ़ियों और आदर्शों का एक संग्रह होती है, जिसकी क्रिया और सम्बन्धों को हम देख-परख सकते हैं और इसका इस रूप में वर्णन कर सकते हैं जिसमें अलग-अलग बोलने वालों के बहुत अलग-अलग, दोषपूर्ण या अपूर्ण उक्तियों के बावजूद एक आधारभूत संगति और एकरूपता पाई जा सकती है। कम से कम इस दृष्टि से कोई कलाकृति ठीक उसी स्थिति में होती है जिसमें उसकी भाषा-प्रणाली हुआ करती है। एक व्यक्ति की हैसियत से हम इस बात को कभी पूरी तरह समझ नहीं सकेंगे, क्योंकि हम कभी अपनी पूर्ण और निर्दोष भाषा का प्रयोग नहीं करेंगे। ठीक यही स्थिति संज्ञान (कौग्निशन) की प्रत्येक क्रिया में व्यक्त होती है। हम किसी वस्तु के समग्र गुणों को कदापि नहीं जान सकते। इसके बावजूद, बिल्कुल अलग परिप्रेक्ष्यों में देखने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि हम इस वस्तु को पहचान नहीं रहे हैं। वस्तु में हम सदा 'कुछ नियत संरचना' को पहचान लेते हैं जिससे हमारे संज्ञान की क्रिया मनमानी कल्पना या आत्मनिष्ठ विभेद नहीं रह जाती, बल्कि कुछ ऐसे आदर्शों या मानकों की प्रतीति बन जाती है जो बाहरी वास्तविकता हम पर आरोपित करती है। इसी तरह हर कलाकृति की संरचना में 'एक ऐसे कर्तव्य का भाव होता है जिसे हमें महसूस करना पड़ता है।' हम इसे सदा अपूर्ण रूप से ही महसूस करेंगे, लेकिन कुछ अपूर्णता के बावजूद, 'कुछ नियत संरचना' ठीक उस तरह रहती ही है जैसे ज्ञान के किसी अन्य विषय में रहती है।

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों ने संभाव्य ध्वनियों का विश्लेषण स्वनिमों (फोनीमों) में किया है; वे सार्थक रूपखंडों (मार्फीम) और सिंटेग्मा का भी विश्लेषण कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि वाक्य एक निरी कामचलाऊ उक्ति नहीं होता, बल्कि एक वाक्य-विन्यास होता है। फोनेमिक्स (ध्वनिविज्ञान) से आगे चलें तो पायेंगे कि आधुनिक प्रकार्यात्मक भाषा-विज्ञान (फंक्शनल लिंग्विस्टिक्स) अभी तक अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था में पड़ा हुआ है; परन्तु ये समस्यायें कठिन होते हुए भी असाध्य या सर्वथा नई नहीं हैं। यह कहना अधिक ठीक होगा कि रूप प्रक्रिया विज्ञान और वाक्य-विन्यास सम्बन्धी प्रश्नों का ही पुनः कथन हैं जिनका विवेचन प्राचीन व्याकरणों में किया गया था। किसी साहित्यिक कलाकृति के विश्लेषण में भी अर्थ की इकाइयों और सौंदर्यशास्त्रीय प्रयोजनों से इनके विशिष्ट गठन विषयक इसी

तरह की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। काव्यात्मक अर्थ-विज्ञान शब्द-चयन और विम्बविधान आदि समस्याओं को एक नये और अधिक सतर्क विवरण में पुनः प्रस्तुत किया जाता है। अर्थ की इकाइयाँ, वाक्य, और वाक्यों की संरचनाएँ वस्तुओं का अभिधान करती हैं, इनमें काल्पनिक यथार्थों जैसे प्राकृतिक दृश्यों, भीतरी दृश्यों, चरित्रों, क्रियाओं या विचारों (प्रत्ययों) का निर्माण किया जाता है। इनका विश्लेषण इस तरह किया जा सकता है कि यह भ्रान्ति न पैदा होने पाए कि ये आनुभविक यथार्थ हैं, और इस तथ्य की उपेक्षा भी न होने पाए कि वे चीजें भाषागत संरचना से स्वतः जन्म लेती हैं। उपन्यास में किसी चरित्र का विकास अर्थ की इकाइयों से होता है, इसकी रचना उस पात्र द्वारा कही गई या उसके बारे में कही गई बातों से होती है। जीवधारी व्यक्ति की तुलना में, इसकी रचना अनिश्चित हुआ करती है, क्योंकि जीवधारी व्यक्ति का अपना एक सं तिबद्ध अतीत हुआ करता है। परतों के इन विभेदों से यह विशेष सुविधा हो जाती है, कि ये अन्तर्वस्तु और रूप (या प्रतिपाद्य और शैली) के बीच का परम्परागत और भ्रामक विभेद मिटा देती हैं। अन्तर्वस्तु भाषा की उस निचली परत के निकट फिर दिखाई देगी जिसमें यह ध्वनित है और जिस पर यह आश्रित है।

परन्तु कलाकृति को यदि आदर्शों या मानकों की परतबद्ध प्रणाली मानें तो यह बात अनिश्चित ही रह जाती है कि इस प्रणाली के अस्तित्व की क्रियात्मक पद्धति क्या है। इस समस्या के विधिवत् विवेचन के लिए हमें नौमिबलिज्म बनाम यथार्थवाद, मानसवाद (मैंटलिज़्म) बनाम व्यवहारवाद (बिहैवियरिज़्म) जैसे विवादों को--संक्षेप में कहें तो ज्ञान मीमांसा (एपिस्टेमालोजी) की सभी प्रमुख समस्याओं को--सुलझाना होगा। तो भी हमारा काम चलाने के लिए इतना ही काफी होगा कि हम दो विरोधी बातों को अतिवादी प्लेटोवाद और अतिवादी नौमिनलिज़्म से बचे रहें। मानकों की इस प्रणाली को यथार्थ या वास्तविक मानने की, एक तरह का, शाश्वत तत्त्वजगत् में व्याप्त आद्यपुरुषात्मक प्रत्यय (आइडिया) बनाने की आवश्यकता नहीं है। किसी साहित्यिक कलाकृति को वही अस्तित्वमय हैसियत नहीं है जो किसी त्रिभुज के, या किसी संख्या के, या 'लालिमा' जैसे किसी गुण के प्रत्यय (विचार) की होती है। इस तरह की स्थिर वस्तुओं के प्रत्यय से कलाकृति में यह अंतर है कि पहले तो, कोई साहित्यिक कलाकृति एक समय प्रवाह के एक खास बिन्दु पर रची जाती है; दूसरे, इसमें परिवर्तन भी हो सकता है और यह पूरी तरह नष्ट भी हो सकती है। इस दृष्टि

से यह भाषा-प्रणाली से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, हालांकि किसी भाषा की सृष्टि किस क्षण में हुई या मृत्यु कब हुई, यह उतने स्पष्ट ढंग से नहीं बताया जा सकता, जितने स्पष्ट ढंग से किसी कृति के सम्बन्ध में बताया जा सकता है जो सामान्यतः एक व्यक्ति की सृष्टि हुआ करती है। दूसरी ओर, हमें यह मानना होगा कि किसी अतिवादी नौमिनलिज़्म (अद्वैतवाद) में, जिसमें हमारे अर्थ में 'भाषा प्रणाली' की संकल्पना को और इसी तरह किसी कलाकृति की अवधारणा को अमान्य ठहराया जाता है, या इसे मात्र एक 'उपयोगी कल्पना' या एक 'वैज्ञानिक वर्णन' माना जाता है उसमें इस पूरी समस्या को और हमारे वाद-विषय को अछूता छोड़ दिया जाता है। व्यवहारवाद की संकीर्ण अवधारणा में किसी भी ऐसी चीज को, जो अनुभवगम्य यथार्थ की एक नितान्त संकीर्ण अवधारणा की पुष्टि न करे, 'रहस्यवादी' या 'आध्यात्मिक' करार दे दिया जाता है। फिर भी फोनीम (ध्वनि की इकाई) को 'कल्पना' कहना या किसी भाषा-प्रणाली को 'वाणी की क्रियाओं का वैज्ञानिक वर्णन' मात्र कहना सत्य की समस्या की उपेक्षा करना है। हम आदर्शों या मानकों को मानते हैं और इन मानकों से च्युत होने की बातों को भी स्वीकार करते हैं, और केवल निरे शाब्दिक वर्णन नहीं तैयार करते। इस दृष्टि से पूरा व्यवहारवादी दृष्टिकोण अमूर्तकरण के एक दोषपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित है। संख्यायें या मानक चाहे हम गढ़ें या नहीं, वे जो कुछ हैं वही रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गणना हम करते हैं, पढ़ते हम हैं, लेकिन संख्या की गणना या किसी मानक की स्वीकृति संख्या या मानक नहीं हैं। 'ह' ध्वनि का उच्चारण करना 'ह' फोनीम नहीं है। हम वास्तविकता के भीतर ही मानकों की एक संरचना पहचानते हैं, न कि शाब्दिक रचनाओं की कल्पना मात्र कर लेते हैं। यह आपत्ति केवल ऊपर से देखने पर ही प्रभावशाली मालूम होती है कि हम संज्ञान की अलग-अलग क्रियाओं के माध्यम से ही इन मानकों तक पहुँच सकते हैं और कि हम इनसे बाहर या परे नहीं जा सकते। हमारे संज्ञान की काण्ट ने जो आलोचना की थी उस पर भी ठीक यही आपत्ति उठाई गई थी और इसे काण्ट के ही तर्कों से बिल्कुल ध्वस्त किया जा सकता है।

यह सच है कि हम स्वयं भी इन मानकों को समझने में गलती कर सकते हैं या इन्हें समझने में असमर्थ हो सकते हैं, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हमारे बोध की बाहर से आलोचना करते हुए आलोचक अपने को अतिमानव मान बैठे, या वह यह दिखावा करे कि किसी विशेष बौद्धिक अन्तःप्रज्ञा से वह

मानकों की इस पूरी प्रणाली का निर्दोष अर्थ समझ सकता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि हम अपने ज्ञान के एक हिस्से की आलोचना किसी दूसरे हिस्से के उच्चतर मानकों के प्रकाश में करते हैं। हमसे यह आशा नहीं की जाती कि हम अपने को एक ऐसे व्यक्ति की स्थिति में रखें जो अपनी दृष्टि-शक्ति की परीक्षा करने के लिए अपनी ही आँखों की ओर देख रहा हो, बल्कि हमसे अपने को उस व्यक्ति की स्थिति में रखने की आशा की जाती है जो जिन वस्तुओं को स्पष्ट देख रहा है उनकी तुलना उन वस्तुओं से करता है जिन्हें वह धुंधला-धुंधला देख रहा है, और फिर यह सामान्य नियम निकालता है कि कौन-कौन सी वस्तुएँ इन दोनों वर्गों में किस ओर आती हैं और इस अन्तर की दृष्टि-विषयक किसी सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या करता है जिसमें दूरी, प्रकाश और ऐसी ही दूसरी बातों को ध्यान में रखा जाता है।

ठीक इसी तरह तुलना करके, विभिन्न मिथ्या या अपूर्ण अनुभूतियों या अहसासों का अध्ययन करके हम यह फर्क कर सकते हैं कि किसी कविता का कौन सा पाठ ठीक है और कौन सा गलत, या किसी कलाकृति में ध्वनित किन मानकों को ठीक-ठीक मान्य किया गया है और किन्हें विरूपित किया गया है। हम इन मानकों की असल कार्यविधियों, सम्बन्धों और संयोजनों का ठीक उसी तरह अध्ययन कर सकते हैं, जैसे स्वनिमों का। कोई कलाकृति न तो इस अर्थ में एक आनुभविक तथ्य होती है कि वह किसी एक खास व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की मनोदशा है और न वह कोई ऐसी प्रत्ययात्मक अपरिवर्तनीय वस्तु होती है जैसे एक त्रिभुज। कोई कलाकृति अनुभव का विषय बन सकती है; हम मानते हैं कि इसे व्यक्तिगत अनुभव के माध्यम से ही समझा जा सकता है, लेकिन यह किसी अनुभव से अभिन्न नहीं होती। यह संख्या जैसी प्रत्ययात्मक मानसगम्य वस्तुओं से ठीक इसी कारण भिन्न होती है कि इसको इसकी संरचना के अनुभवात्मक अंश, ध्वनि-समुदाय के माध्यम से ही समझा जा सकता है, जब कि किसी त्रिभुज या संख्या का प्रत्यक्ष मानस-बोध हो सकता है। मानस प्रतीति की वस्तुओं से यह एक और बात में भी भिन्न होती है। इसमें 'जीवन' जैसा कुछ होता है। इसकी उत्पत्ति समय-प्रवाह के एक खास बिन्दु पर होती है, इतिहास के दौरान इसमें परिवर्तन आते रहते हैं और इसकी मृत्यु भी हो सकती है। कोई कलाकृति केवल इस अर्थ में 'कालातीत' होती है कि यदि यह सुरक्षित रहे तो अपने सृजन के समय से ही इसकी संरचना में कुछ ऐसी मूलभूत बातें होती हैं जिनसे इसका अस्तित्व वही रहता है, लेकिन साथ

ही यह 'ऐतिहासिक' (परिवर्धमान) भी होती है। इसका एक परिवर्धन होता है जिसका वर्णन किया जा सकता है। यह परिवर्धन है किसी कलाकृति के वे अनेक मूर्त रूप, जो उसे इतिहास के दौरान प्राप्त हुए, और जिनका स्वरूप उस कृति के आलोचकों और पाठकों के अनुभवों और मूल्यांकनों विषयक लिखित सूचनाओं और उस कृति से दूसरी कृतियों पर पड़े प्रभाव की सूचनाओं के आधार पर समझा जा सकता है। पहले के मूर्त रूपों (पाठों, आलोचनाओं और गलत अर्थ-ग्रहणों) की हमारी चेतना हमारे अनुभव को प्रभावित करेगी: पहले के पाठ हमें उस कृति के अर्थ की गहराई में उतार सकते हैं, या अतीत के विषय में इस समय प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध हमारे मन में एक उग्र प्रतिक्रिया पैदा कर सकते हैं। ये सभी बातें आलोचना के इतिहास का महत्व सिद्ध करती हैं और कृति-विशेष के स्वरूप और सीमाओं के विषय में कुछ कठिन प्रश्नों पर ले आती हैं। कोई कृति परिवर्तित होकर भी कहाँ तक अपना मूल व्यक्तित्व अक्षत रख सकती है। हम किसी कलाकृति के 'जीवन' की बात ठीक उसी अर्थ में कर सकते हैं जैसे किसी व्यक्ति या जानवर के जीवन की बात करते हैं जो अपने जीवन-काल में निरन्तर बदलते रहने के बाद भी वही बना रहता है। **इलियड** का 'अस्तित्व' आज भी है; अर्थात यह बार-बार हमें प्रभावित कर सकता है और इस रूप में यह वाटरलू के युद्ध जैसी किसी ऐतिहासिक घटना से, जो निश्चित रूप से बीत चुकी है, भिन्न वस्तु है, हालांकि उस युद्ध की पूरी इतिकथा आज पुनः प्रस्तुत की जा सकती है और उसके प्रभाव आज भी अनुभव किये जा सकते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि हम किस अर्थ में यह कह सकते हैं कि वह **इलियड**, जिसे उसके समकालीन ग्रीक पढ़ते या सुनते थे, और वह **इलियड** जिसे हम आज जानते हैं, एक ही वस्तु है? यह मान भी लें कि आज हमारा परिचय जिस **इलियड** के पाठ से है वह ठीक वही है जो तब था तो भी हमारे असली अनुभव उनसे भिन्न ही होंगे। हम इसकी भाषा का उस भाषा से वैषम्य नहीं दिखा सकते जिसे ग्रीस के लोग रोजमर्रा प्रयोग में लाते थे, और इसलिए यह महसूस नहीं कर सकते कि यह भाषा उस बोलचाल की भाषा से कितनी हटकर है जिस पर इसका काव्यात्मक प्रभाव बहुत कुछ निर्भर करता है। इसमें भाषा की अनेक दुर्बोधताएँ हैं जिन्हें हम नहीं समझ सकते, लेकिन जो प्रत्येक कवि के अर्थ का अनिवार्य अंग होती है। जाहिर है कि इसके लिए हमें कुछ कल्पना से भी काम लेना पड़ता है, और इसके बावजूद हमें यह समझने में कि देवताओं में ग्रीक लोगों का कैसा विश्वास था, या ग्रीक नैतिक मूल्यों का मान-

दण्ड क्या था, बहुत थोड़ी सफलता ही मिल पाती है। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसकी 'संरचना' का एक बुनियादी रूप वही है जो पूरी कालावधि में अपरिवर्तित रहा है। फिर भी यह 'संरचना' गतिशील है: यह सारे कालक्रम में पाठकों, आलोचकों और अन्य कलाकारों के मानस से गुजरती हुई परिवर्तित होती रहती है। इस तरह मानकों की यह प्रणाली विकसित हो रही है, बदल रही है, और कुछ अर्थों में इसे कभी भी अशेषतः और निर्दोष रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकेगा। परन्तु इस गतिशील संकल्पना का अर्थ निरा विषय-निष्ठवाद (सब्जेक्टिविज्म) और ज्ञान सापेक्षतावाद (रिलेटिविज्म) नहीं है। सारे विभिन्न दृष्टिकोण एक जैसे सही कदापि नहीं हैं। यह निश्चित करना सदा संभव रहेगा कि किस दृष्टिकोण से विषय को अधिक पूर्णता और गहनता से समझा जा सका है। अर्थ-निर्धारण के पर्याप्त होने की संकल्पना में ही दृष्टि-कोणों की यह ऊँच-नीच और मानकों की पकड़ की आलोचना का भाव निहित है। जब हम यह देखते हैं कि 'निरपेक्ष सापेक्ष में होता है हालांकि यह अन्तिम और पूर्णरूप से इसी में नहीं होता' तब सारा ज्ञान सापेक्षतावाद अन्ततोगत्वा परास्त हो जाता है।

इस तरह कलाकृति एक ऐसा अनोखा प्रमेय प्रतीत होता है जिसका अपना एक विशिष्ट अस्तित्व होता है। यह न तो वास्तविक (किसी मूर्ति की तरह भौतिक) होती है, न ही मानसिक (प्रकाश या वेदना की अनुभूति की तरह, मनोवैज्ञानिक) और न ही प्रत्ययात्मक (किसी त्रिभुज की भाँति)। यह प्रत्य-यात्मक संकल्पनाओं के उन मानकों की एक प्रणाली है, जो अनेक व्यक्तियों में होते हैं। यही मानना होगा कि ये मानक एक सामूहिक विचारधारा में रहते हैं, इसके साथ बदलते हैं, और इन्हें इसके वाक्यों की ध्वनि-संरचना पर आधा-रित व्यक्ति के मानसिक अनुभवों के माध्यम से ही ग्रहण किया जा सकता है।

हमने कलागत मूल्यों के प्रश्न की चर्चा नहीं की है। लेकिन अभी हम जो विवेचन कर आये हैं उससे यह सिद्ध हो गया होगा कि मानकों और मूल्यों से बाहर, संरचना का कोई अस्तित्व नहीं होता। मूल्यों का हवाला दिये बिना हम न तो किसी कृति का अर्थ समझ सकते हैं, न ही उसका विश्लेषण ही कर सकते हैं। किसी विशेष संरचना को मैं 'कलाकृति' मानता हूँ, तो इस बात से ही एक मूल्य-विषयक निर्णय ध्वनित होता है। संवृतिशास्त्र (फेनामेनालजी) की भूल यह है कि इसमें यह मान लिया जाता है कि इस तरह का अलगाव हो सकता है, कि मूल्य 'संरचना' (ढाँचे) के ऊपर आरोपित कर दिये जाते हैं,

वे ढाँचे से ही उपजते हैं या उसी में निहित होते हैं। विश्लेषण की यह भूल रोमन इनगार्डेन की इस पैनी पुस्तक को दूषित कर देती है, जिसने मूल्यों का हवाला दिये बिना ही कलाकृतियों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। इसकी जड़ है संवृत्तिशास्त्री की 'तत्वों' की एक नित्यस्थायी व्यवस्था की अवधारणा, जिनसे आनुभविक व्यष्टिकरण बाद में जोड़े जाते हैं। मूल्यों का एक निरपेक्ष मानक स्वीकार कर लेने के बाद अलग-अलग निर्णयों की सापेक्षता से हमारा सम्पर्क टूट जाता है। इस निष्प्राण निरपेक्षता का सामना व्यष्टि-निर्णयों के एक मूल्यहीन प्रवाह से होता है।

निरपेक्षतावाद के इस लचर सिद्धान्त और ज्ञान सापेक्षतावाद के इतने ही लचर प्रतिपक्ष को अमान्य करके हमें इनका एक नया समाहार प्रस्तुत करना होगा जो स्वयं मूल्यों के इस मानक को गतिशील बनाता है, लेकिन मानक के रूप में इसे घता नहीं बता देता। हमने इस प्रकार की संकल्पना को 'परिप्रेक्ष्यवाद' का नाम दिया है पर इसका मतलब मूल्यों की अव्यवस्था नहीं है, व्यष्टि की मनमानी का गुणगान नहीं है, अपितु इसका मतलब है किसी वस्तु को ऐसे विभिन्न दृष्टिकोणों से समझते हुए आगे बढ़ने का प्रक्रम जिनकी परिभाषा और आलोचना अपने-अपने क्रम में होती रह सके। संरचना (ढाँचा), चिह्न और मूल्य ये एक ही समस्या के तीन पक्ष हैं और इनको बनावटी ढंग से एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

तेरह

यूफोनी, रिद्म और छन्द

प्रत्येक कलाकृति प्रथमतः ध्वनियों की एक शृंखला होती है और इन ध्वनियों से ही उसका अर्थ फूटता है । कुछ साहित्यिक कृतियों में ध्वनियों की परत का महत्त्व बहुत घट जाता है और ये एकदम पारदर्शी हो जाते हैं, जैसा कि अधिकांश उपन्यासों में देखने में आता है। पर वहाँ भी अर्थ के प्रस्फुटन के लिए ध्वनि की परत का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से ड्राएजर के किसी उपन्यास में और पो की 'द बेल्स' (घण्टियाँ) जैसी किसी कविता में सिर्फ मात्रा का फर्क रह जाता है और इस आधार पर कहानी और कविता जैसी दो विरोधी विचार-विधाओं का औचित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। अनेक कलाकृतियों में, जिनमें गद्य भी शामिल है, हमारा ध्यान ध्वनि के स्तर की ओर आकृष्ट होता है, और यह उनके सौन्दर्यात्मक प्रभाव का एक अभिन्न अंग होता है। यह बात अलंकृत भाषा में लिखे गए गद्य और समस्त कविताओं पर लागू होती है और कविता की तो परिभाषा ही यह है कि यह किसी भाषा के ध्वनि समुदाय का एक गठन विशेष होती है।

इन ध्वनि-प्रभावों का विश्लेषण करते हुए हमें दो सिद्धान्तों का ध्यान रखना होगा जो महत्वपूर्ण तो हैं पर जिनकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है। सबसे पहले हमें ध्वनि के प्रस्तुतीकरण और प्रतिरूप या विन्यास (पैटर्न) के बीच भेद करना होगा। किसी साहित्यिक कलाकृति का मुखर पाठ एक प्रस्तुतीकरण है, एक विन्यास का साक्षात्कार है जो एक व्यष्टिगत और वैयक्तिक अंश ले आता है, और दूसरी ओर, यह इस विन्यास को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर सकता है या इसकी बिल्कुल उपेक्षा कर सकता है। अतः रिद्मशास्त्र और छन्दशास्त्र का कोई सच्चा विज्ञान केवल अलग-अलग आदमी के काव्यपाठों पर आधारित नहीं हो सकता। एक दूसरी आम मान्यता भी कि ध्वनि का

विश्लेषण इसे अर्थ से सर्वथा अलग करके किया जाना चाहिए, एकदम गलत है। किसी साहित्यिक कलाकृति की अखंडता की हमारी सामान्य अवधारणा से ही यह जाहिर है कि इस तरह शब्द और अर्थ का विच्छेद एकदम मिथ्या है; परन्तु हमने जो उदाहरण रखा है उससे यह भी सिद्ध होता है कि निरी ध्वनि का या तो कोई सौन्दर्यात्मक प्रभाव हो ही नहीं सकता या हो सकता है तो बहुत ही कम। कोई भी ऐसा 'संगीतीय' पद्य नहीं होगा जिसके अर्थ की कोई सामान्य अवधारणा या कम से कम जिसका कोई भावात्मक टोन न हो। यहाँ तक कि हम कोई ऐसी विदेशी भाषा, जिसे हम बिल्कुल नहीं समझते, सुनते हुए भी उसकी शुद्ध ध्वनि ही नहीं सुनते अपितु साथ ही वक्ता या पाठक का वह सार्थक लहजा (इंटोनेशन) भी सुनते हैं जिससे पाठक इसे बोलता है। काव्य में शुद्ध ध्वनि या तो कल्पना मात्र है और या उन नितान्त सादे और प्राथमिक ध्वनि-सम्बन्धों की शृंखला होती है, जिनका अध्ययन बर्कहफ ने **इस्थेटिक मेजर** में किया है। परंतु ध्वनि के स्तर को जब हम किसी कविता के समग्र स्वरूप का अखंड अंग मानते हैं तब इसमें जो विविधता होती है या इसे जितना महत्व दिया जाता है, उनका कारण इन सादे और प्राथमिक ध्वनि-सम्बन्धों को नहीं माना जा सकता।

इस समस्या के दो बहुत भिन्न पहलू हैं और सबसे पहले हमें इन दोनों में भेद कर लेना होगा। ये दो पहलू हैं ध्वनि के निसर्गजात और सम्बंधात्मक तत्व। पहले से हमारा तात्पर्य है 'अ' या 'ओ' या 'ल' या 'प' ध्वनि का अपना विशिष्ट रूप, जिसमें मात्रा कुछ नहीं है, क्योंकि 'अ' या 'प' कम या अधिक नहीं हो सकते। गुणता (क्वालिटी) के इस निसर्गजात अन्तर के आधार पर ही वे प्रभाव उत्पन्न होते हैं जिन्हें आमतौर से संगीतात्मकता या यूफोनी कहा जाता है। दूसरी ओर सम्बन्धात्मक अन्तर वे हैं जो रिद्म (लय) या छन्द का आधार बन सकते हैं— तारत्व (पिच), ध्वनियों की अवधि (ड्यूरेशन), बलाघात (स्ट्रेस) पुनरावृत्ति की बारंबारता आदि ऐसे सभी तत्व जिनके कारण मात्रा का अन्तर आता है। तारत्व (पिच) या तो ऊँचा होता है या नीचा, 'ड्यूरेशन' (या अवधि) लम्बी होती है या छोटी, बलाघात या तो प्रबल होता है या क्षीण, पुनरावृत्ति की बारंबारता या तो कम होती है या अधिक। यह बुनियादी अन्तर बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे भाषा-तत्वीय घटनाओं का एक पूरा समूह अलग हो जाता है। वे घटनाएँ जिन्हें रूसी लेखक "आर्केस्ट्रेशन" कहते हैं और इस तरह इस तथ्य पर बल देते हैं कि यहाँ लेखक ध्वनि की गुणता या क्वालिटी के तत्त्व का खेल

और चमत्कार दिखा रहा है। पद्य की 'संगीतात्मकता' (या "मेलोडी") शब्द भ्रामक है और इसे हमें यहीं त्याग देना चाहिए। हम जिन घटनाओं की बात कर रहे हैं वे संगीत की मेलोडी के सदृश बिल्कुल भी नहीं हैं. इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगीत में मेलोडी का निश्चय पिच (तारत्व) पर निर्भर होता है और इसलिए मोटे तौर से यह भाषा के इंटोनेशन के सदृश होता है। असल में किसी बोलचाल के वाक्य की इंटोनेशन रेखा में, और संगीतीय मेलोडी की तारत्व रेखा में बहुत अन्तर होता है। बोले हुए वाक्य की इंटोनेशन रेखा के तारत्व काँपते हुए और जल्दी-जल्दी बदलते हुए होते हैं; दूसरी ओर, संगीत की मेलोडी के तारत्व स्थिर औ कालान्तराल निश्चित होते हैं। यूफोनी शब्द भी अपने आप में सन्तोषजनक शब्द नहीं है, क्योंकि आर्केस्ट्रेशन के अन्तर्गत ब्राउनिंग या हापकिन्स जैसे कवियों की कैकोफोनी (श्रुतिकटुत्व) पर भी विचार करना उचित है जो जानबूझकर परुष और अभिव्यंजक ध्वनि-प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं।

"आर्केस्ट्रेशन" के कौशल तीन हैं। ध्वनि-विन्यास (साउण्ड पैटर्न्स); एक ही सहचारी ध्वनिगुणताओं की पुनरावृत्ति; और व्यंजक ध्वनियों का, ध्वन्यनुकरणों का प्रयोग। रूस के रूपवादियों ने ध्वनि-विन्यासों का विशेष निपुणता से अध्ययन किया है; अंग्रेजी में डब्ल्यू० जे० वेट ने कीट्स की कविताओं में बहुलता से प्रयुक्त ध्वनिचित्रों का विश्लेषण किया है—कीट्स ने स्वयं भी अपने इस कौशल के विषय में काफी सिद्धान्तचर्चा की है, जो कुछ अजीब सी बात है। ओसिप ब्रिक ने ध्वनिचित्रों का वर्गीकरण दुहराई गई ध्वनियों की संख्या, आवृत्तियों की संख्या, दुहराये गये ध्वनि-समूहों में ध्वनियों के अनुक्रम और रिद्म की इकाइयों में ध्वनियों की स्थिति के अनुसार किया है। यह अन्तिम वर्गीकरण सबसे अधिक उपयोगी है, और इसका अभी और विभाजन करने की आवश्यकता है। एक ही पद्य में बिल्कुल पास-पास स्थित ध्वनियों की आवृत्तियों में, एक समूह के अन्त में और दूसरे के आरंभ में आने वाली ध्वनियों की आवृत्तियों में, या एक पंक्ति के अन्त और दूसरे के आरम्भ में या पंक्तियों के आरम्भ में या केवल अन्त में आने वाली ध्वनियों की पुनरावृत्तियों में हम विभेद कर सकते हैं। पंक्तियों के आरंभ की ध्वनियों की आवृत्ति एनाफोरा अलंकार से मिलती-जुलती चीज है। पंक्तियों के अन्त में आने वाली ध्वनियों की आवृत्ति में तुक भी आ जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार, तुक ध्वनि की पुनरावृत्ति का केवल एक उदाहरण मालूम होता है और इसका अध्ययन करते हुए अनुप्रास

और एसोनेन्स या स्वरानुप्रास (अन्त्यानुप्रास का वह रूप जिसमें अंतिम शब्दों के स्वर वही और उसी क्रम में होते हैं जैसे निशानी, पिसाई) मिलती-जुलती विशेषताओं का अध्ययन भी साथ ही करना चाहिए।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अलग-अलग भाषाओं में इन शब्दालंकारों का प्रभाव अलग-अलग होगा, कि हर भाषा की अपनी वर्ण-योजना होती है और इसलिए स्वर-वर्णों की विपरीतता या समानान्तरता या व्यंजनों के साम्यों की भी अपनी ही योजना होती है और अन्ततः, ध्वनि सम्बन्धी ऐसे भावों को किसी कविता या पंक्ति की सामान्य अर्थ-व्यंजना से अलग करना बड़ा ही कठिन है। स्वच्छन्दतावादी और प्रतीकवादी कवियों का यह कथन कि कविता गीत या संगीत ही होती है, एक रूपक से अधिक कुछ नहीं है क्योंकि कविता शुद्ध ध्वनियों के वैविध्य, स्पष्टता और विन्यास की दृष्टि से संगीत से होड़ नहीं ले सकती। भाषागत ध्वनियों को कलात्मक तथ्यों में बदलने के लिए अर्थ, सन्दर्भ और "टोन" की आवश्यकता होती है।

इसे तुकों के अध्ययन से बहुत स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है। तुक एक अत्यन्त जटिल चीज है। ध्वनियों की पूर्ण (या आंशिक) पुनरावृत्ति तो निरी यूफोनी का काम करती है। जैसा कि हेनरी लांज ने अपनी पुस्तक **फिजिकल बेसिस आफ राइम** में सिद्ध किया है, स्वर-वर्णों की तुक-योजना का निर्धारण उनकी ओवरटोनों की आवृत्ति से होता है। हालांकि यह ध्वनिपक्ष तुकबन्दी का आधार है, परन्तु फिर भी इतना तो जाहिर ही है कि यह इसका केवल एक पक्ष है। सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है छन्द योजना में इसका स्थान, जिससे यह पता चलता है कि पद्य की एक पंक्ति यहाँ जाकर समाप्त हो गई, या जिससे एक-एक बन्द का गठन होता है और कभी-कभी तो बन्द की गठन का यही एक मात्र आधार होता है। लेकिन सबसे महत्व की बात यह है कि तुक का कुछ अर्थ भी होता है और इस प्रकार किसी कविता की पूरी प्रवृत्ति में इसकी गहरी पैठ रहती है। तुक शब्दों को एक-दूसरे से जोड़कर या एक दूसरे की बराबरी में रखकर उन्हें परस्पर अधिक पास ला देती है। तुक के अर्थ सम्बन्धी कार्य के अनेक पहलुओं को अलग-अलग देखा जा सकता है। हम यह सोच सकते हैं कि अक्षरों (सिलैबल्स) का अर्थ-वैज्ञानिक कार्य क्या है जिनकी तुक एक-दूसरे से मिलती-जुलती है, यह प्रत्यय में (जैसे कैरेक्टर : रजिस्टर; या सिलाई : कढ़ाई) धातुओं में (जैसे ड्रिंक : थिंक; या रो : धो) दोनों में (जैसे पैशन : फैशन; या रोधक : शोधक); यह अधम

तुक है (जिसमें केवल अन्तिम वर्णों की तुक मिलती है) या उत्तम जिसमें पूरे शब्द की तुक मिलती है। हम यह सवाल कर सकते हैं कि तुकान्त शब्दों का चयन किस अर्थ-क्षेत्र से होता है। उदाहरण के लिए क्या ये भाषा की किसी एक श्रेणी या वस्तु-समूह से लिए जाते हैं या अनेक श्रेणियों और समूहों से लिये जाते हैं। हमारी इच्छा यह जानने की हो सकती है कि तुक से जुड़े हुए शब्दों के बीच अर्थ-वैज्ञानिक सम्बन्ध क्या है, क्या ये एक ही अर्थ-सन्दर्भ में से आते हैं, जैसे अनेक आम शब्द (आकार, प्रकार) अथवा ये अर्थ-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से लेकर एक-दूसरे के साथ जोड़ दिये जाते या पास-पास रख दिये जाते हैं और इस तरह ये हमें चकित करते हैं। डब्ल्यू० के० ह्विमसाट ने एक बहुत पाण्डित्यपूर्ण लेख में इन प्रभावों की दृष्टि से पोप और बायरन की रचनाओं का अध्ययन किया है जिन्होंने बिल्कुल असम्बद्ध सन्दर्भों को एक दूसरे के साथ रखकर एक हादसा पैदा करने की चेष्टा की है [जैसे इलोप (अन्तर्धान होना)और पोप]। अब अन्त में हम यह पता लगा सकते हैं कि तुक का किसी कविता के पूरे सन्दर्भ में क्या योग रहा है, कहाँ तक तुकान्त शब्द महज तुक के लिये रखे गये हैं, या इसके ठीक विपरीत, क्या हम मात्र किसी कविता के तुकान्त शब्दों को सुनकर ही उस कविता या बन्द के अर्थ का अनुमान कर सकते हैं या नहीं। तुकान्त शब्द हमारे बन्दों का ढाँचा हो सकते हैं या इनका इतना कम प्रयोग हो सकता है कि इनको बहुत मुश्किल से ही लक्ष्य किया जा सके (जैसे ब्राउनिंग की "लास्ट डचैस में")।

तुकों का अध्ययन एच० सी० वाइल्ड की तरह उच्चारण के इतिहास के साक्ष्यों के रूप में किया जाना चाहिए, परन्तु अपने साहित्यिक प्रयोजन से में यह ध्यान में रखना होगा कि 'यथार्थता' या 'ठीक सादृश्य' के मानक प्रत्येक कवि-सम्प्रदाय और राष्ट्र में बहुत अलग-अलग हुआ करते हैं। अंग्रेजी में पौरुषेय तुकों (एक अक्षर की तुकें या एकाधिक अक्षरों की ऐसी तुकें जिनमें बलाघात अन्तिम अक्षर पर होता है) के प्रयोग का चलन है; स्त्रैण तुकों (दो अक्षरों की ऐसी तुकें जिनमें बलाघात पहले अक्षर पर होता है) और तीन अक्षर की तुक से हास्य का भाव प्रकट होता है, जब कि लैटिन या इटालवी या पोल भाषा में स्त्रैण तुकें बहुत गम्भीर सन्दर्भों में भी रखी जा सकती हैं। अंग्रेजी में आई राइम की जहाँ स्पैलिंग में सादृश्य रहता है, पर उच्चारण भिन्न होता है, जैसे हैव, ग्रेव द्वयर्थक शब्दों की तुकों की, जो श्लेष का एक रूप है, विभिन्न स्थानों और कालों में मानक उच्चारणों में पायी जाने वाली अनेक भिन्नताओं की,

अलग-अलग कवियों की अपनी विलक्षण विधियों की अपनी विशेष समस्या है और ये सभी समस्यायें ऐसी हैं जिन्हें आज तक उठाया भी नहीं गया है। विक्टर ज़िरमुन्स्की ने तुक-योजना पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने इस अध्याय से कहीं अधिक विस्तार से तुकों का वर्गीकरण किया है और रूस में तथा यूरोप के मुख्य देशों में इसका इतिहास दिया है, परन्तु अंग्रेजी भाषा में इस कोटि की कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी है।

इन ध्वनि-विन्यासों से, जिनमें किसी स्वर वर्ण या व्यंजन की आवृत्ति (जैसे अनुप्रास में) महत्वपूर्ण स्थान रखती है, हमें ध्वन्यनुकरण की एक भिन्न समस्या को अलग करना होगा। ध्वन्यनुकरण की ओर काफी अधिक ध्यान दिया गया है। इसके दो कारण रहे हैं: एक तो यह कि कविता के कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट अंशों में इस तरह के अनुकरण का यत्न पाया जाता है और दूसरा यह कि यह समस्या उस पुरानी रहस्यवादी संकल्पना से बहुत गहरा सम्बन्ध रखती है जिसमें यह माना जाता है कि ध्वनि से जो अर्थ फूटता है उससे इसका कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिए। यहाँ पोप या साउदी की कविताओं के कुछ अंशों को ध्यान में रखना या यह याद करना ही काफी है कि सत्रहवीं शताब्दी के लोग ब्रह्माण्ड के क्रिया-व्यापार के संगीत को ध्वनित करने के विषय में क्या सोचते थे (जैसे मर्नी में **हार्सडोर्फर**)। यह दृष्टिकोण कि किसी शब्द से जो वस्तु या क्रिया अभिहित होती है, उसका स्वरूप वह शब्द 'ठीक-ठीक' प्रस्तुत करता है, सामान्यतः त्याग दिया गया है। आधुनिक भाषा-विज्ञान अधिक से अधिक इतना ही स्वीकार करता है कि शब्दों का एक विशेष वर्ग ऐसा है, जिसे अनुरणनमूलक कहा जाता है, जो कुछ दृष्टियों से किसी भाषा के अपने ध्वनि-तंत्र से बाहर आता है और इतना निश्चित है कि इसमें सुनी हुई ध्वनियों का अनुकरण होता है (सर्राहट, सरसराना, कूकना, झनझनाना[1])। यह भी बड़ी आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि एक ही ध्वनि-विन्यास का अलग-अलग भाषाओं में बिल्कुल अलग-अलग अर्थ हो सकता है (जैसे रौक शब्द का जर्मन में अर्थ जाकट और अंग्रेजी में 'शिलाखण्ड'; रूसी में 'भाग्य' और चेक में 'वर्ष' होता है; या प्रकृति की कुछ ध्वनियों को अलग-अलग भाषाओं में बहुत अलग-अलग ढंग से व्यक्त किया जाता है) चिड़ियों की चहक को अंग्रेजी में चर्प और हिन्दी में चहकना, या घण्टी की आवाज को अंग्रेजी में 'रिंग' और हिन्दी में घनघनाना, टनटनाना कहा जाता है)। जान क्रो रैन्सम की तरह यह

१. ये उदाहरण हिन्दी से स्वतन्त्र रूप से रखे गये हैं। —अनुवादक

सिद्ध किया जा सकता है कि 'मर्मरिंग आफ इन्यूमरेबल बीज' (असंख्य मधु-मक्खियों की गुंजार) जैसी किसी पंक्ति का ध्वन्यात्मक प्रभाव वस्तुतः इसके अर्थ पर निर्भर करता है। यदि हम इसकी ध्वनि में थोड़ा सा ही अन्तर करके इसे 'मर्डरिंग आफ इन्यूमरेबल बीज़' कर दें तो इसका अनुकरण मूलक प्रभाव बिल्कुल नष्ट हो जायेगा।

इसके बावजूद, ऐसा लगता है कि आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने इस समस्या को बहुत घटा कर देखा है और रिचार्ड्स और रैन्सम जैसे आधुनिक आलोचकों ने इसे सिर्फ हँसकर टाल दिया है। हमें इसके तीन अंशों में अवश्य फर्क कर लेना होगा। पहला तो यह कि कुछ ध्वनियाँ प्रकृत ध्वनियों का शुद्ध अनुकरण हैं जिनकी सफलता 'कुकू' (या हिन्दी में कागा) में अनिवार्य रूप से देखी जा सकती है, हालांकि ये शब्द बोलने वाले के भाषातंत्र के अनसार बहुत अधिक बदल सकते हैं। इस तरह के ध्वन्यात्मक अनुकरण को विस्तृत ध्वनि-चित्रण, किसी विशेष सन्दर्भ में वाणी और ध्वनि के संयोग, किसी प्राकृतिक ध्वनि की नकल से अलग करना होगा, जिसमें शब्दों में स्वयं तो अनुकरणमूलक ध्वनि का अभाव होता है, लेकिन उन्हें 'इन्यूमरेबल' की तरह के ध्वनि-विन्यास में रखा जा सकता है और इस तरह के अनेक अंश होमर और वर्जिल आदि में पाये जा सकते हैं। अन्ततः, ध्वन्यात्मक प्रतीक-विधान या ध्वन्यात्मक रूपक-विधान का महत्वपूर्ण स्तर है, जिसकी प्रत्येक भाषा में अलग-अलग रूढ़ियाँ और प्रतिरूप हुआ करते हैं। मारिस ग्रेमां ने फ्रेंच पद्य की अभिव्यंजना पर बहुत विस्तृत और दक्षतापूर्ण पुस्तक लिखी है। उन्होंने सभी फ्रेंच व्यंजनों और स्वरों का वर्गीकरण किया है और विभिन्न कवियों पर उनके अभिव्यंजनात्मक प्रभावों का अध्ययन किया है। उदाहरण के लिए, स्पष्ट स्वर-वर्ण लाघव, क्षिप्रता, वेग, मनोरमता आदि को व्यंजित करते हैं।

हालांकि ग्रेमां की पुस्तक पर निरी आत्मनिष्ठता का आरोप लगाया जा सकता है, पर किसी विशेष भाषा-प्रणाली में शब्दों का "भौतिक रूपचित्र" जैसी कोई चीज भी होती है, एक ध्वन्यात्मक प्रतीकात्मकता भी होती है जो निरे अनुरणन से कहीं अधिक व्यापक होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के दुहरे संयोग और साहचर्य सभी भाषाओं में व्याप्त होते हैं और कवियों ने इनका बहुत अच्छी तरह उपयोग किया है। रिम्बो की प्रसिद्ध कविता 'ले वोयेल्स' जैसी कोई कविता, जिसमें अलग-अलग स्वर-वर्णों का कुछ रंगों से एक दीर्घ परम्परा के आधार पर पूर्ण साहचर्य दिखाया गया है, बिल्कुल स्वैच्छिक

हो सकती है; लेकिन तालव्य स्वरों (इ और ई) तथा पतले, मोटे, साफ और मोटे पदार्थों के बीच, और फिर ओष्ठ्य स्वरों (ओ और ऊ) तथा भद्दे, सुस्त, भोथरे और काले पदार्थों के बीच एक आधारभूत सम्बन्ध है इसे ध्वनि-विज्ञान के प्रयोगों से भी सिद्ध किया जा सकता है। कार्ल स्टम्फ और बुल्फगैंग कोलर की पुस्तक से भी यह सिद्ध होता है कि व्यंजनों को काले (ओष्ठ्य और कण्ठ्य) और उजले (दन्त्य और तालव्य) में विभाजित किया जा सकता है। ये निरे रूपक नहीं बल्कि ध्वनि और रंग के बीच असन्दिग्ध समानताओं पर आधारित साहचर्य हैं, जिन्हें सम्बन्धित भाषा तंत्रों की संरचना में देखा जा सकता है। हमारे सामने 'ध्वनि और अर्थ' की सामान्य भाषागत समस्या तो है ही साथ ही एक और समस्या है किसी साहित्यिक कृति में ध्वनि के उपयोग और गठन की। इसमें दूसरी समस्या का बहुत ही कम अध्ययन किया गया है।

रिद्म और छन्द की समस्याएँ "आर्केस्ट्रेशन" की इन समस्याओं से बिल्कुल भिन्न हैं। इनका अध्ययन बहुत बड़े पैमाने पर किया गया है और इनके विषय में बहुत सारा साहित्य रचा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि रिद्म की समस्या केवल साहित्य या भाषा विशेष की अपनी समस्या नहीं है। प्रकृति और काम का भी अपना रिद्म होता है, प्रकाश संकेतों का भी अपना रिद्म होता है, संगीत का भी अपना रिद्म होता है और रूपक का कुछ सहारा लेकर कहें तो मूर्त (सुघट्य या प्लास्टिक) कलाओं का भी अपना रिद्म होता है। रिद्म सामान्य भाषा में भी पाया जाता है। यहाँ हमें इसकी वास्तविक प्रकृति को लेकर गढ़ी हुई दर्जनों परिभाषाओं की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे काम के लिए रिद्म के 'आवृत्ति'-मूलक सिद्धान्तों में और ऐसे सिद्धान्तों में भेद कर लेना ही काफी होगा, जिनमें रिद्म की अपेक्षाकृत व्यापक कल्पना की गई है और गतियों के अनावर्ती विन्यास भी शामिल हैं। पहले दृष्टिकोण में रिद्म और छन्द को निश्चित रूप से एक ही चीज माना जाता है और इस तरह इसमें गद्य के रिद्म को एक वदतोव्याघात मानकर या मात्र एक रूपक कहकर अस्वीकार किया जा सकता है। दूसरे दृष्टिकोण की पुष्टि सीवर्स के अलग-अलग व्यक्तियों की बोलचाल के रिद्म और नाना प्रकार के संगीतात्मक तत्वों पर किये गये अनुसंधान से होती है—जिसमें ऐसे सादे गीत और अधिकांश विदेशी संगीत भी शामिल हैं जिनमें आवृत्ति के अभाव में भी रिद्म पाया जाता है। यदि रिद्म की कल्पना इस रूप में की जाये तो रिद्म में अलग-अलग लोगों की बोलचाल और समस्त गद्य रिद्म का भी अध्ययन किया जा सकता है। यह बात बड़ी

बाइबिल की सी भाषा लिखने की चेष्टा को है जैसे ओसियन और क्लाडेल। गद्यगीत में जिन अक्षरों पर बलाघात होता है उनमें से हर दूसरे पर (एक-एक के अन्तर से) अधिक बल दिया जाता है और इस तरह द्विपदी पद्य की भाँति इसमें दो बलाघातों वाले समूह तैयार हो जाते हैं।

हमें इन कौशलों के विस्तृत विश्लेषण में जाने की आवश्यकता नहीं है। इनका इतिहास बहुत लम्बा है और इस पर लैटिन भाषण शैली में लिखे गद्य का बहुत अधिक प्रभाव है। अंग्रेजी साहित्य में रिद्मीय गद्य का चरमविन्दु सत्रहवीं शताब्दी के सर टामस ब्राउन या जैरमी टेलर जैसे लेखकों की रचनाओं में मिलता है। अठारहवीं शताब्दी में इसका स्थान बोलचाल की एक अधिक सादी शब्दावली ने ले लिया हालांकि इस शताब्दी के अन्तिम भाग में एक नई "उदात्त शैली"—जानसन, गिबन और बर्क की शैली—सामने आई। उन्नीसवीं शताब्दी में डि क्विन्सी, रस्किन, एमर्सन और मेलविल ने इसको अलग-अलग रूपों में पुनः अपनाया, और फिर बाद में गर्ट्रूड स्टाइन और जेम्स ज्वायस ने इसका विकास नए सिद्धान्तों पर किया। फ्रांस में बास्वे और शैटोब्रियाँ की अपनी गरिमा है, जर्मनी में नीत्शे का रिद्मीय गद्य है, रूस में गोगोल और तुर्गनेफ के प्रसिद्ध गद्यांश हैं और अभी हाल में एण्ड्री बीली का 'अलंकृत' गद्य भी देखने में आता है।

रिद्मीय गद्य के कलात्मक मूल्य पर आज भी विवाद उठाया जाता है और है भी यह विवादास्पद। आजकल यह पसन्द किया जाने लगा है कि हर कला और विधा में शुद्धता बरती जाये (दूसरी कलाओं और विधाओं की विशेषताओं को अलग रखा जाये) और इस मान्यता के अनुसार अधिकांश पाठक चाहते हैं कि उनकी कविता तो काव्यात्मक रहे और गद्य गद्यात्मक हो। अब लोग ऐसा महसूस करते मालूम होते हैं कि रिद्मीय गद्य न तो गद्य है न पद्य बल्कि दोनों की मिलावट है। लेकिन यह संभवतः हमारे युग के आलोचकों का पूर्वाग्रह ही है। रिद्मीय या लयात्मक गद्य का पक्षपोषण करना उतना ही जरूरी है जितना पद्य का पक्षपोषण करना। जब इसका अच्छी तरह से उपयोग किया जाता है तो इससे हमारी पाठ की चेतनता अधिक प्रखर हो जाती है, यह पाठ को अधिक प्रभावशाली बनाता है; अलग-अलग टुकड़ों को एक में जोड़ती है, यह श्रेणी-भेद खड़े करती है, समानान्तर-प्रवृत्तियों की ओर संकेत करती है; यह भाषा का गठन करती है और गठन ही को कला कहा जाता है।

छन्द विधान एक ऐसा विषय है जिस पर विगत शताब्दियों के दौरान

अधिक श्रम किया गया है। यह कहा जा सकता है कि आज हमें इन छन्दों का एक सर्वेक्षण करने और हाल की कविताओं के अध्ययनों में इन नई प्रविधियों का प्रयोग करने से अधिक कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। सचाई तो यह है कि अभी तक छन्दशास्त्र के मूलभूत और प्रमुख मानदण्डों का ही निश्चय नहीं हो पाया है; और इस विषय पर लिखे गये मानक ग्रन्थों तक में बहुत शिथिल और अस्पष्ट चिन्तन दिखाई देता है और शब्दावली का अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है । सेण्ट्सबरी की पुस्तक **हिस्ट्री आफ इंग्लिश प्रोसोडी** में, जिसकी जोड़ का कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं लिखा गया, इन अस्पष्ट और अपरिभाषित सैद्धान्तिक आधारों को ही विषय बनाया गया है। सैण्ट्सबरी ने अनुभवगम्यता पर इतना बल दिया है कि अपनी शब्दावली की परिभाषा या वर्णन न करने में भी उन्हें गर्व का अनुभव होता है। उदाहरण के लिए, वह ह्रस्व और गुरु (शार्ट्स और लांग्स) की बात करते हैं परन्तु वह इस बात का निश्चय नहीं कर पाते कि उनके इन शब्दों का सम्बन्ध अवधियों से है या बल से। ब्लिस पेरी ने अपनी पुस्तक **स्टडी आफ पोएट्री** में बड़े भ्रामक रूप में शब्दों के 'वजन' की बात की है, और इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह 'स्वर की आपेक्षिक उच्चता या तारत्व है जिससे अर्थ या महत्व प्रकट होता है।' इसी तरह की भ्रान्तियाँ और अस्पष्टनाएँ दूसरी अनेक मानक पुस्तकों से उद्धृत की जा सकती हैं। यहाँ तक कि जहाँ सही-सही फर्क किये गये हैं वहाँ भी एक सर्वथा अन्तर्विरोधी शब्दावली का प्रयोग किया गया है। अतः टी० एस० ओमण्ड का अंग्रेज़ी छन्दशास्त्रीय सिद्धान्तों का विस्तृत इतिहास और पैलिस्टर बारकाज का अभी हाल के सिद्धान्तो का उपयोगी सर्वेक्षण इन भ्रान्तियों को दूर करने में अच्छे प्रयत्न माने जा सकते हैं, हालांकि इनमें भी जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनसे अनावश्यक सन्देहवाद की ही पुष्टि होती है। इस महाद्वीप के और विशेषतः फ्रान्स, जर्मनी और रूस के अनगिनत छन्दशास्त्रीय सिद्धान्तों का विचार करते समय तो हमें इन भेदों को कई गुना बढ़ाकर देखना होगा।

हमारे काम को देखते हुए अच्छा यह रहेगा कि हम सूक्ष्म भेदों, या मिश्रित रूपों के झमेले में पड़े बिना ही सिर्फ छन्द सिद्धान्तों के प्रमुख प्रकार-भेदों पर विचार करें। इनमें सबसे पुराने प्रकार को 'चित्रात्मक' छन्दशास्त्र कहा जाता है और इसका आधार पुनर्जागरण काल की पुस्तकें रही हैं। इसमें, ह्रस्व और दीर्घ के चित्र-संकेतों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें अंग्रेजी में सामान्यतः

बलाघात युक्त और बलाघात रहित वर्णों से सूचित किया जाता है। चित्रात्मक छन्दशास्त्र में प्रायः छन्द का पूरा लक्षण दिया रहता है और यह आशा की जाती है कि कवि इन लक्षणों का अक्षरशः पालन करेगा। हम सभी को इसकी शब्दावली स्कूल स्तर पर ही बता दी जाती है। इन शब्दों को आज भी सबसे अधिक लोग समझते हैं और छन्द-योजना के सामान्य वर्णन या विवेचन के लिए भी सर्वाधिक उपयोगी हैं। इसके बावजूद, आज सर्वत्र यह महसूस किया जाने लगा है कि यह पूरी प्रणाली अपने आप में काफी नहीं है। इतना तो जाहिर ही है कि इस सिद्धान्त में वास्तविक ध्वनियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता और इसके सिद्धान्त बहुत भ्रान्त हैं। आज अदना से अदना आदमी भी यह समझता है कि यदि छन्दों का यथातथ्य पालन किया जाये तो पद्य नितान्त फीके और एकरस हो जायेंगे। इस सिद्धान्त का चलन आजकल अधिकतर कक्षाओं में और प्राथमिक पाठ्यपुस्तकों में ही है। फिर भी इसकी कुछ अपनी खूबियाँ हैं। इसमें स्पष्टतः छन्द के लक्षणों पर ही ध्यान दिया जाता है, और अलग-अलग कवियों की अपनी बारीकियों और निजी विशिष्टताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इस कठिनाई से दूसरी अनेक आधुनिक प्रणालियों में बचा नहीं जा सका है। चित्रात्मक छन्दशास्त्र में यह माना जाता है कि छन्द मात्र ध्वनि से सम्बन्ध नहीं रखता, कि एक छन्द का एक स्वरूप या विन्यास भी होता है, जो वास्तविक कविता में निहित या व्यंजित होता है।

दूसरा है "संगीतीय" सिद्धान्त, जो इस धारणा पर आधारित है कि कविता का छन्द संगीत के रिद्म का स्थानापन्न है और इसलिए इसका सबसे अच्छा निरूपण संगीत की स्वरलिपि में होता है। अंग्रेजी में इस विषय पर सबसे प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ सिडनी लैनियर का **साइंस आफ इंग्लिश वर्स** (१८८०) है, परन्तु इस सिद्धान्त को हाल में की गयी खोजों से संशोधित और परिष्कृत किया गया है। अमरीका में अंग्रेजी के अध्यापकों में कम से कम यह एक सिद्धान्त सर्वमान्य मालूम होता है।

इस सिद्धान्त की यह एक बहुत बड़ी अच्छाई है कि इसमें पद्य की व्यक्तिगत रूप से अनुभव होने वाली सम-कालिकता (आइसोक्रानिज्म) की प्रवृत्ति पर—हम जिस रूप में गति को तेज या मन्द करते हैं, शब्दों के वाचन को लम्बा या छोटा कर देते हैं, अलग-अलग पदों को समान बनाने के लिए यति का प्रयोग करते हैं—बहुत अधिक बल दिया जाता है। यह स्वरलिपि ऐसे पद्यों के मामले में तो नितान्त सफल प्रतीत होती है जिनकी यति और वर्णों के उच्चारण को

स्वरलिपि में लिखा जा सकता है, लेकिन बोलचाल या उद्गारपूर्ण पद्यों के मामले में यह अपर्याप्त प्रतीत होता है और मुक्त छन्द या किसी कविता के मामले में जिसमें सम-कालिकता नहीं होती, यह बिल्कुल असहाय रहती है। इस सिद्धान्त को मानने वाले कुछ लोग तो मुक्त छन्द को पद्य रचना तक मानने से इन्कार करते हैं।

एक तीसरा सिद्धान्त है श्रुति विषयक छन्दशास्त्र का जिसका आज बहुत अधिक सम्मान है। यह वस्तुनिष्ठ अन्वेषणों पर आधारित है और इसमें प्रायः ओसिलोग्राफ (स्वर उच्चार से होने वाले कम्पन को अंकित करने वाले यंत्र) का प्रयोग किया जाता है, जिसमें हम कविता को रेकार्ड करने और काव्यपाठ की वास्तविक घटनाओं का चित्रबद्ध करने में समर्थ होते हैं। ध्वनि विषयक वैज्ञानिक अन्वेषण की प्रविधियों का छन्दशास्त्र में प्रयोग जर्मनी में सीवर्स और सारां ने, फ्रांस में बेरियर ने जिन्होंने अधिकांशतः अंग्रेजी सामग्री का ही उपयोग किया है और अमरीका में ई० डब्ल्यू० स्क्रिप्चर ने किया। इससे जो आधारभूत परिणाम निकले हैं उनका संक्षिप्त विवरण विल्बर एल० स्क्रैम की पुस्तक **ऐप्रोचेज टु ए साइंस आफ इंग्लिश वर्स** में पाया जा सकता है। श्रवण पर आधारित छन्दशास्त्र में छन्द के भिन्न-भिन्न तत्वों का स्पष्ट निर्धारण किया गया है। अतः आज पिच (तारत्व), लाउडनेस (प्रबलता), रणन (टिम्बर) और काल (टाइम) आदि में विभेद न कर पाने का कोई कारण नहीं दीखता क्योंकि आज इन्हें बोलने वाले के मुंह से निकली ध्वनि-तरंगों की आवृत्ति, आयाम, रूप और अवधि के भौतिक और परिमेय तत्वों के सन्दर्भ में दिखाया जा सकता है। हम इन भौतिक उपकरणों के निष्कर्षों को चित्र रूप में या रेखांकन से इस तरह दिखा सकते हैं कि किसी भी काव्यपाठ की घटना की सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का अध्ययन किया जा सकता है। ओसिलोग्राफ से यह पता चल जायेगा कि किसी विशेष पाठक ने किसी पंक्ति को पढ़ने में कितना समय लिया, उसने तारत्व में क्या परिवर्तन किये और किन-किन शब्दों को कितने प्रबल स्वर से पढ़ा। **पैराडाइज लास्ट** की पहली पंक्ति का वैसा ही रेखांकन तैयार होगा जैसा किसी सीस्मोग्राफ (भूचाल का स्पन्दन अंकित करने वाले यंत्र पर) भूचाल के प्रचंड दोलनों का अंकित होता है। यह निःसन्देह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, और वैज्ञानिक सम्मान रखने वाले बहुत से लोग (जिनमें बहुत से अमरीकी भी आते हैं) यह दावा करते हैं कि हम इन उपलब्धियों से आगे नहीं जा सकते। परन्तु फिर भी प्रयोगशाला के छन्दशास्त्र में अर्थ की उपेक्षा

होती है और वह ऐसा करने को बाध्य है: इस तरह यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि सिलेबल जैसी कोई चीज नहीं है, क्योंकि आवाज का एक सातत्य या तार सा होता है; शब्द जैसी कोई चीज नहीं होती, क्योंकि इसकी सीमाएँ दोल-लेखी (आसिलो ग्राफ) पर नहीं प्रकट होती; और सही अर्थ में कहें तो मेलोडी जैसी कोई चीज होती ही नहीं, क्योंकि पिच (तारत्व) जिसका निर्वाह स्वर-वर्णों और कुछ थोड़े से व्यंजनों से होता है, बीच-बीच में शोर से बाधित होता रहता है। श्रवण-विज्ञान पर आधारित छन्दशास्त्र से यह भी सिद्ध होता है कि सही अर्थ में समकालत्व जैसी भी कोई चीज नहीं होती क्योंकि पंक्तियों की असल काल-अवधि में बहुत अन्तर पाया जाता है। स्थिर दीर्घ और ह्रस्व अक्षर (सिलेबल) नहीं होते क्योंकि कभी-कभी ह्रस्व भौतिक रूप में 'दीर्घ' से भी लम्बा हो सकता है; और वस्तुगत रूप में देखें तो बलाघात के भेद तक नहीं हुआ करते क्योंकि बलाघात-युक्त अक्षर का कहीं-कहीं उच्चारण उससे भी कम बल के साथ किया जा सकता है जितना किसी बलाघात-रहित अक्षर का किया जाता है।

परन्तु इन निष्कर्षों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना होगा कि इस 'विज्ञान' के आधार को लेकर ही गंभीर आपत्तियाँ खड़ी की जा सकती हैं जिनसे इनका महत्व किसी साहित्य के अध्येता के लिए बहुत कम हो जाता है। यह धारणा ही भ्रान्त है कि दोल-लेखी के निष्कर्ष छन्दशास्त्र के लिए सीधे उपयोगी हो सकते हैं। पद्य की भाषा का समय प्रत्याशा का समय होता है। एक निश्चित समय के बाद हम एक रिद्मीय संकेत की प्रत्याशा करते हैं, परन्तु यह आवर्तता बिल्कुल उतनी ही होनी आवश्यक नहीं और यदि हम इस संकेत को जोरदार महसूस करते हैं, तो यह भी जरूरी नहीं है कि यह भौतिक रूप में भी जोरदार हो। संगीत विषयक छन्दशास्त्र का यह कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि समय, बल तथा तारत्व के ये सारे भेद सापेक्ष और व्यक्तिनिष्ठ होते हैं। परन्तु श्रवणविज्ञान-विषयक छन्दशास्त्र और संगीत सम्बन्धी छन्दशास्त्र दोनों में ही एक दोष, या कहिए, सीमा पाई जाती है: इन दोनों का आधार एकमात्र ध्वनि है। श्रवण-विषयक छन्दशास्त्र या संगीतपरक छन्दशास्त्र के निष्कर्ष किसी एक विशेष काव्यपाठ के लिए ही अन्तिम हो सकते हैं। इसमें इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता कि काव्यपाठ करने वाला कोई व्यक्ति सही पाठ कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता है, कि वह अपनी ओर से कुछ तत्व जोड़ सकता है या छन्द में तोड़-मरोड़ कर सकता है या उसकी पूरी उपेक्षा कर सकता है।

मात्र संगीतपरक या श्रवण-विषयक पद्धतियों से न तो छन्दविधान की व्याख्या की जा सकती है न ही उन्हें समझा जा सकता है। छन्दशास्त्र का कोई भी सिद्धान्त पद्य के अर्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता। संगीतपरक छन्दशास्त्र के एक बहुत अच्छे विद्वान् जार्ज आर० स्टेवर्ट का कहना है कि 'पद्य अर्थविहीन भी हो सकता है', कि क्योंकि छन्द तत्वतः अर्थ से स्वतंत्र होता है इसलिए हम पूरे औचित्य के साथ किसी पंक्ति के छन्द-विधान को उसके अर्थ से अलग यथातथ्य प्रस्तुत कर सकते हैं। वैरियर और सारां ने यह सिद्धान्त गढ़ा है कि हमें एक विदेशी के दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखना होगा जो किसी पद्यरचना को उसका अर्थ समझे बिना ही सुनता है। परन्तु यदि यह अवधारणा, जो व्यवहारतः बिल्कुल अग्राह्य है और सच कहें तो स्टेवर्ट की त्यागी हुई है, स्वीकार कर ली जाये तो छन्दशास्त्र के साहित्यिक अध्ययन के लिए इसके परिणाम बहुत भयानक होंगे। यदि हम अर्थ की उपेक्षा कर दें तो हमें शब्दों और पदों की संकल्पना को भी छोड़ना पड़ेगा और फिर हमारे लिए इस बात की संभावना भी नहीं रह जायेगी कि हम अलग-अलग काव्य रचयिताओं के बीच पाये जाने वाली भिन्नताओं का विश्लेषण कर सकें। अंग्रेजी छन्द-विधान का निर्धारण काफी सीमा तक आरोपित शब्दयोजना, रिद्मीय आवेग, और पदों के विभाजनों से नियत असल बोलचाल की रिद्म के परिणामभूत बल से होता है। परन्तु पदों के विभाजनों का निश्चय पद्य के अर्थ से परिचित होने पर ही किया जा सकता है।

अतः रूस के रूपवादियों ने छन्दशास्त्र को एक सर्वथा भिन्न आधार पर रखने का प्रयास किया है। 'फुट' शब्द उन्हें अपर्याप्त प्रतीत होता है, क्योंकि बहुत से पद्य ऐसे होते हैं जिनमें 'फुट' नहीं होते। हालांकि समकालत्व व्यक्तिनिष्ठरूप से अधिकांश पद्यों पर लागू हो सकता है, परन्तु यह भी कुछ विशेष प्रकार के पद्यों तक ही सीमित हुआ करता है, और इसके अतिरिक्त, इसकी वस्तुपरक छान-बीन नहीं की जा सकती। वे तर्क देते हैं कि इन सभी सिद्धान्तों में काव्यात्मक रिद्म की मूलभूत इकाई की गलत परिभाषा की जाती है। यदि हम पद्य की परिभाषा यह करें कि यह किसी बलाघात मुक्त अक्षर को केन्द्र बनाकर एकत्र हुए अक्षरों का एक समूह है तो हम इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि इसी तरह के समूह, यहाँ तक कि उसी क्रम में बँधे हुए अक्षर-समूह ऐसी भाषा में भी पाये जा सकते हैं जिसे कविता नहीं कहा जा सकता। अतः रिद्म की मूलभूत इकाई फुट नहीं होता बल्कि एक पूरी पंक्ति होती है—

यह निष्कर्ष सामान्य गेस्टाल्ट सिद्धान्त से निकलता है और रूसी विद्वान् इसे स्वीकार करते हैं। फुटों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता; इनका अपना अस्तित्व पूरे पद्य की सापेक्षता में ही होता है। पद्य में बलाघात की जो स्थिति होती है, जैसे पहला, दूसरा या तीसरा, इत्यादि उसी के अनुसार इसकी अपनी विशेषताएँ हुआ करती हैं। पद्य का गठन प्रत्येक भाषा और छन्दशास्त्र में अलग-अलग इकाइयों पर निर्भर हुआ करता है। यह इकाई मेलोडी' अर्थात् तारत्वों का अनुक्रम हो सकता है जो कुछ विशेष मुक्त छन्दों का गद्य से विभेद करने वाली एक चीज हो सकती है। यदि हम सन्दर्भ से या छापे के विन्यास से जो एक संकेत का काम कर सकता है, यह न जानें कि मुक्त छन्द का कोई अंश भी पद्य ही है तो हम इसे गद्य की भाँति पढ़ सकते हैं और हमें इसमें गद्य से कोई अन्तर भी नहीं दिखाई देगा। तो भी इसे पद्य की भाँति पढ़ा जा सकता है और इस तरह इसके पढ़ने का ढंग बिल्कुल अलग होगा, जिसका अपना अलग इंटोनेशन (स्वरोच्चार) होगा। उन्होंने विस्तार के साथ सिद्ध किया है कि यह स्वरोच्चार दो भागों में बँटा या द्विपदिक होता है; और यदि हम इसे अलग कर दें तो पद्य पद्य नहीं रह जायेगा, अपितु मात्र रिथमीय गद्य बन कर रह जायेगा।

सामान्य छन्दबद्ध पद्य के अध्ययन में रूसी विद्वान् प्रतिरूप (पैटर्न) और बोलचाल के रिथ्म के बीच सम्बन्ध निश्चित करने के लिए सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग करते हैं। पद्य की कल्पना इस रूप में की जाती है कि यह ऊपर से आरोपित छन्द और बोलचाल के सामान्य रिथ्म के बीच एक विशद गमकीय प्रतिरूप है, क्योंकि पद्य रोजमर्रा की भाषा पर किया जाने वाला 'संगठित जुल्म' है। वे छन्द के प्रतिरूप से 'रिथ्म के आवेग' को अलग मानते हैं। छन्द का प्रतिरूप स्थिर होता है, चित्रात्मक होता है। रिथ्म का आवेग, गत्यात्मक और प्रगामी होता है। हम आनेवाले गुरुत्व-लघुत्व का अनुमान पहले ही कर लेते हैं। हम कलाकृति के केवल समय की ही योजना नहीं करते, अपितु उसके दूसरे सब तत्वों की भी योजना कर लेते हैं। इस प्रकार का रिथमीय आवेग शब्दों के चयन, वाक्य-रचना, और इसलिए पद्य के सामान्य अर्थ को भी प्रभावित करता है।

इसमें जिस सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग किया गया है वह बहुत सीधी है। प्रत्येक कविता में या कविता के उस हिस्से में जिसका विश्लेषण करना होता है, ऐसे अक्षरों का प्रतिशत जोड़ा जाता है जिन पर बलाघात होता है। यदि पेंटामीटर पंक्ति वाली कोई पद्य-रचना बिल्कुल नियमित रहे तो गणना

में पहले अक्षर पर शून्य प्रतिशत आना चाहिए और दूसरे पर सौ प्रतिशत, तीसरे पर शून्य प्रतिशत और चौथे पर सौ प्रतिशत और आगे भी यही क्रम बना रहना चाहिए। यदि वर्णों--अक्षरों की संख्या के लिए एक पड़ी रेखा खींची जाए और प्रतिशतों के लिए दूसरी खड़ी रेखा खींची जाए तो इसे ग्राफ के रूप में दिखाया जा सकता है। परन्तु इतनी नियमित पद्य-रचना कोई होती नहीं है क्योंकि वह यदि हो भी तो नितान्त नीरस रहेगी। अधिकांश पद्य रचनाओं में इस लक्षण और इसके असल निर्वाह के बीच की एक स्थिति पाई जाती है, अर्थात् मुक्त छन्द में पहले अक्षर पर बलाघात की संख्या अधिक स्थानों पर हो सकती है।

रूसी छन्दशास्त्रियों ने इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया है कि अलग-अलग लेखक आदर्श लक्षणों का निर्वाह अलग-अलग रूपों में करते हैं, कि प्रत्येक सम्प्रदाय और कभी-कभी प्रत्येक लेखक अपना एक अलग छन्दशास्त्रीय आदर्श गढ़ लेते हैं, और किसी भी सम्प्रदाय या कवि को किसी एक ही बँधे हुए सिद्धान्त पर रखक परखना अनुचित है। पद्य-रचना का इतिहास निरन्तर अलग-अलग आदर्शों के बीच झटके खाता हुआ आगे बढ़ता रहा है और प्रत्येक अतिवादी सिद्धान्त का स्थान दूसरा अतिवादी सिद्धान्त ले लेता है। रूसियों ने प्रत्येक भाषा की छन्द-रचना में पाये जाने वाले विस्तृत अन्तरों पर भी बल दिया है, जो कि बहुत उपयोगी तथ्य है। छन्द-विधान को वर्णिक, मात्रिक और बलाघात युक्त आदि में बाँटना न केवल अपर्याप्त है, अपितु साथ ही भ्रामक भी है। उदाहरण के लिए सर्वो-क्रोट और फिनिश महाकाव्यों में ये तीनों सिद्धान्त काम करते पाये जाते हैं। आधुनिक अनुसंधानों से पता चलता है कि लैटिन छन्दशास्त्र, जिसे शुद्ध रूप से मात्रिक माना जाता है, व्यवहारतः शब्द-संख्या और बलाघात के आधार पर निरन्तर बहुत अधिक परिमार्जित होता रहा है।

भाषाएँ अपने रिद्म के आधारभूत तत्व के अनुसार एक दूसरे से भिन्न होती हैं। अंग्रेजी का निश्चय बलाघात से होता है, जब कि इसमें मात्रा बलाघात से गौण स्थान रखती है, और शब्द संख्या भी बहुत महत्वपूर्ण रिद्मीय कार्य करती है। ऐसी पंक्ति में जिसकी रचना एक अक्षर के शब्दों से हुई है, किसी ऐसी पंक्ति से बहुत स्पष्ट रिद्मीय अन्तर पाया जाता है जिसकी रचना अनेकाक्षर शब्दों से हुई हो।

चेक भाषा में शब्द-संख्या ही रिद्म का आधार है और इसके साथ अनिवार्य रूप से बलाघात (स्ट्रेस) लगा रहता है, जबकि मात्रा वैविध्य लाने के लिए

एक गौण तत्व बनकर रह जाता है। चीनी में तारत्व (पिच) रिद्म का मुख्य आधार है, जब कि प्राचीन ग्रीक में रिद्म योजना का आधार मात्र हुआ करती थी, तथा तारत्व और शब्द-संख्या वैविध्य लाने वाला गौण तत्व हुआ करते थे।

किसी भाषा-विशेष के भीतर यद्यपि छन्द-योजना की एक पद्धति दूसरी का स्थान ले सकती है, परन्तु हमें इसे 'प्रगति' का नाम नहीं देना चाहिए, न ही पुरानी पद्धतियों को भद्दी तुकबन्दी या स्थापित पद्धतियों का निरा परिपालन कहकर उनकी भर्त्सना करनी चाहिए। रूस में काफी लम्बे अरसे तक सिलेबल प्रभावशाली तत्व बना हुआ था, चेक में मात्रापरक छन्दशास्त्र का प्रभाव था।

यदि यह बात समझ ली जाये कि लीडगेट, हावेज़, और स्केल्टन जैसे कवियों ने दोषपूर्ण पद्य नहीं लिखे थे, अपितु उन्होंने अपनी अलग रूढ़ियों का पालन किया था तो चासर से लेकर सरे तक के अंग्रेजी पद्य-रचना के इतिहास के अध्ययन में क्रान्ति लाई जा सकती है। यहाँ तक कि सिडनी, स्पेंसर, और ग्रैब्रिएल हार्वे जैसे विख्यात व्यक्तियों द्वारा अंग्रेजी में मात्रापरक छन्द का प्रयोग करने के प्रयासों के समर्थन में, जिनकी बहुत अधिक खिल्ली उड़ाई जाती रही है, बहुत कुछ कहा जा सकता है। उनका आन्दोलन निष्फल रहा परन्तु फिर भी वह इससे पहले के अधिकांश अंग्रेजी पद्यों की कटोरता को तोड़ने के खयाल से ऐतिहासिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही।

इसके साथ ही छन्दशास्त्र का एक तुलनात्मक इतिहास भी लिखने का प्रयास किया जा सकता है। प्रसिद्ध फ्रेंच भाषा-वैज्ञानिक ऐंतोनी मिले ने भारोपीय छन्दशास्त्र के उद्भव पर एक पुस्तक लिखी है, जिसमें उन्होंने प्राचीन ग्रीक छन्दों की वैदिक छन्दों से तुलना करते हुए भारोपीय छन्द-प्रणाली का आधार खड़ा करना चाहा है, और रोमन जैकबसन ने यह सिद्ध किया है कि यूगोस्लाविया के महाकाव्य के पद्य इस प्राचीन प्रतिरूप के बहुत निकट हैं, जिसमें सिलेबल पर आधारित पंक्ति का नितान्त मात्रापरक उपवाक्य से समन्वय किया गया है। लोक साहित्य के विभिन्न प्रकार के पद्यों में भी विभेद किया जा सकता है और उनका इतिहास लिखा जा सकता है। गीतों में प्रयुक्त महाकाव्य के पाठ्य अंश और मेलोडी युक्त पद्य के बीच भी स्पष्ट विभेद कर लेना चाहिए। प्रत्येक भाषा में महाकाव्य का पद्य बहुत अधिक रूढ़ प्रतीत होता है, जब कि शेष पद्य में जो भाषा-विशेष की ध्वन्यात्मक विशिष्टताओं से गहरा लगाव रखता है, अलग-अलग राष्ट्रों में बहुत अधिक वैविध्य पाया जा सकता है। यहाँ तक कि

आधुनिक पद्य में भी उद्गारपूर्ण संवादात्मक, और 'मेलोडी युक्त' पद्यों के बीच के विभेदों को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है; इन विभेदों की ओर अंग्रेजी के अधिकांश छन्दशास्त्रियों ने, जो संगीतीय सिद्धान्त के प्रभाव में आकर केवल गेय पद्यों से पूर्वग्रस्त रहे हैं, कोई ध्यान ही नहीं दिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी गेय पद्यों के महत्वपूर्ण अध्ययन में बोरिस एखेनबाम ने 'मेलोडी युक्त' 'गेय' पद्य में अनुतान के योगदान का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बहुत तार्किक ढंग से यह सिद्ध किया है कि रूसी रोमाण्टिक गीति ने त्रिपदिक वजन, विस्मयबोधक और प्रश्नवाचक जैसी अनुतान योजनाएँ, और समान उक्तियों जैसे वाक्य-विन्यासों का उपयोग किस तरह किया है, परन्तु हमारे विचार से, उन्होंने यह स्थापना नहीं की है कि 'गेय' पद्य में प्रधान महत्व अनुतान के सशक्त होने का होता है।

हमें रूसी सिद्धान्तों के अनेक पक्षों पर सन्देह हो सकता है, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उन्होंने एक ओर तो प्रयोगशालाओं के परीक्षणों से और दूसरी ओर संगीतीय छन्दशास्त्रियों की निरी आत्मनिष्ठता से अलग एक नया मार्ग ढूंढ़ निकाला है। अभी बहुत कुछ अस्पष्ट और विवादास्पद है, परन्तु आज छन्दशास्त्र ने भाषाविज्ञान और साहित्यिक अर्थविज्ञान से अपना अपेक्षित सम्बन्ध पुनः कायम कर लिया है। हमारे विचार से ध्वनि और छन्द का अध्ययन किसी कलाकृति की समग्रता के तत्वों के रूप में किया जाना चाहिए, न कि अर्थ से बिल्कुल अलग करके।

चौदह

शैली और शैलीशास्त्र

यह बात शब्दशः सच है कि साहित्यिक कलाकार का उपादान भाषा है। हम कह सकते हैं कि प्रत्येक साहित्यिक कृति ठीक उसी तरह एक विशेष भाषा में महज एक चयन हुआ करती है जैसे मूर्तिकला की परिभाषा में कहा जाता है कि यह एक ऐसा शिलाखण्ड है जिसमें से कुछ चिप्पियाँ अलग कर दी गई हैं। अपनी पुस्तक '**इंग्लिश पोएट्री एण्ड द इंग्लिश लैंग्वेज**' में बैट्सज ने यह तर्क दिया है कि साहित्य भाषा के सामान्य इतिहास का एक अंग है और इसी पर पूरी तरह निर्भर करता है।

"मेरी मान्यता यह है कि किसी कविता पर पड़ी युग की छाप का कारण लेखक नहीं होता, उस युग की भाषा होती है। मेरे विचार से कविता का असल इतिहास उन परिवर्तनों का इतिहास है जो उत्तरोत्तर काल की कविता की भाषा में आए। और सामाजिक और बौद्धिक प्रवत्तियों के दबाव से केवल ये भाषा के परिवर्तन ही पैदा होते हैं।"

बैट्सन ने बड़े तर्कपूर्ण ढंग से सिद्ध किया है कि काव्य का इतिहास भाषा के इतिहास पर निर्भर करता है। इतना तो निश्चित ही है कि अंग्रेजी काव्य का विकास कम से कम एलिज़ाबेथ-युगीन भाषा के चुलबुलेपन, अठारहवीं शताब्दी की परिमार्जित स्पष्टता और विक्टोरिया युग की अंग्रेज़ी के अस्पष्ट बिखराव के समानान्तर हुआ है। काव्य के इतिहास में भाषा विषयक सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं, जैसे ह्राब्स के तर्कनावाद का, जिसमें वाच्यार्थ, स्पष्टता, और वैज्ञानिक परिशुद्धता पर बल दिया गया है, अंग्रेज़ी कविता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है, हालांकि यह प्रभाव प्रायः अवान्तर रूप में पड़ा है।

हम कार्ल वोसलर के स्वर में स्वर मिलाकर यह तर्क दे सकते हैं कि—"कुछ कालों के साहित्यिक इतिहास को भाषाई माहौल के विश्लेषण से अधिक नहीं तो कम से कम उतना लाभ तो होगा ही जितना राजनैतिक, सामाजिक, और धार्मिक प्रवृत्तियों या देश और जलवायु के प्रचलित विश्लेषणों से होता है।" विशेषत: ऐसे कालों और देशों में जिनमें अनेक भाषा-रूढ़ियाँ हावी होने के लिए संघर्षरत रहती हैं, किसी कवि के प्रयोग, प्रवृत्तियाँ और लगाव न केवल भाषा-पद्धति के विकास के लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं बल्कि उसकी अपनी कला को समझने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इटली में साहित्य के इतिहासकार 'भाषा के प्रश्न' की कदापि उपेक्षा नहीं कर सकते। वोस्लर ने अपनी पुस्तक में साहित्य के अपने अध्ययन का हर जगह बहुत अच्छा उपयोग किया है; और रूस में विक्टर विनोग्रेडोफ ने बड़ी बारीकी से इस बात का विश्लेषण किया है कि पुश्किन ने समकालीन रूसी भाषा में पाये जाने वाले विभिन्न तत्वों—चर्च स्लाविक तत्व आम बोलचाल के तत्व और गैलिक तथा टयूटन प्रयोगों—का कितना उपयोग किया है।

इसके बावजूद इसमें सन्देह नहीं कि बैट्सन की दलीलों को बहुत अतिरंजित कर दिया गया है, और इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना असंभव है कि कविता में भाषा में होते रहने वाले परिवर्तनों की झलक हुआ करती है। हमें यह तो कदापि नहीं भूलना चाहिए कि भाषा और साहित्य का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होता है। साहित्य ने भाषा के विकास को बहुत अधिक प्रभावित किया है। जैसे लूथर, गेटे और स्वच्छन्दतावादी लेखकों के प्रभाव के बिना जर्मन भाषा का रूप वह नहीं होता जो आज है, ठीक वैसे ही यदि नव्य-क्लासिकी साहित्य नहीं होता तो आधुनिक फ्रेंच और अंग्रेजी भाषाओं का रूप कुछ और ही होता।

साहित्य का सीधे बौद्धिक और सामाजिक प्रभावों से अछूता मानना भी उचित नहीं है। बेटसन का तर्क है कि अठारहवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता स्वच्छ और पारदर्शी थी, क्योंकि उस समय की भाषा भी स्वच्छ और पारदर्शी हो गई थी, अत: उस काल के कवि, चाहे वे तर्कवादी रहे हों या नहीं, इस बने बनाये उपकरण का प्रयोग करने को बाध्य थे। परन्तु ब्लेक और क्रिस्टाफर स्मार्ट ने यह सिद्ध कर दिया कि कैसे विश्व के प्रति तर्कशून्य या तर्कविरोधी दृष्टिकोण रखनेवाले लोग काव्य की शब्दावली को रूपान्तरित कर सकते हैं या इससे पूर्ववर्ती अवस्था की शब्दावली अपना सकते हैं।

सच कहें तो यह तथ्य ही कि केवल विचारों का ही नहीं बल्कि विधाओं, छन्दों, और विषयों का भी ऐसा इतिहास लिखा जा सकता है जिसमें अनेक भाषाओं के साहित्य को सम्मिलित किया जा सके, यह सिद्ध करता है कि साहित्य पूरी तरह भाषा पर निर्भर नहीं कर सकता। जाहिर है कि हमें कविता के और उपन्यास तथा नाटक के बीच एक भेदक रेखा खींचनी होगी। एफ० डब्ल्यू बैटसन का ध्यान मुख्य रूप से कविता की ही ओर है; और इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कविता का भाषा की ध्वनि और अर्थ से सबसे सीधा सम्बन्ध है।

इसके कारण थोड़े-बहुत साफ हैं। छन्द भाषा के ध्वनि-स्वरूप को गठित करता है। यह गद्य के रिद्म को विनियमित करता है और उसे लगभग समकालिक बना देता है, और इस तरह सिलेबल की लम्बाइयों के आपसी सम्बन्धों को सरल बना देता है। स्वर वर्णों के ओवरटोनों या टिंबर को उभारने के लिए यह स्वरों को दीर्घ करके लय को विलंबित कर देता है। यह इंटोनेशन या भाषा की मेलोडी यानी बोलने के उतार-चढ़ाव को सरल और नियमित कर देता है। इस तरह देखें तो छन्द से शब्दों को गत्यात्मक या सक्रिय रूप मिलता है। इससे इनकी ओर और इनकी ध्वनि की ओर ध्यान आकर्षित होता है। अच्छी कविता में शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध पर काफी बल दिया जाता है।

काव्य का अर्थ सन्दर्भ में होता है। शब्द में न केवल शब्दकोष वाला अर्थ निहित होता है अपितु इसमें समानार्थियों और समान ध्वनिवाले शब्दों की छाया भी रहती है। शब्दों का न केवल अपना अर्थ होता है अपितु उनसे ध्वनि, अर्थ या व्युत्पत्ति की दृष्टि से मिलते-जुलते शब्दों--या यहाँ तक कि उनसे विरुद्ध और बाह्य अर्थ रखने वाले शब्दों के अर्थों को भी व्यंजना होती है।

इस तरह काव्य के अध्ययन के लिए भाषा का अध्ययन असाधारण महत्व रखता है। परन्तु भाषा के अध्ययन से हमारा तात्पर्य निश्चय ही उन दृष्टियों से भाषा के अध्ययन से है जिनकी पेशेवर भाषा-वैज्ञानिक उपेक्षा कर जाते हैं, या जिनके महत्व को वे बहुत घटाकर देखते हैं। उच्चारण-सम्बन्धी कुछ इक्के-दुक्के प्रश्नों को छोड़कर, जिनकी आवश्यकता छन्द और तुक के इतिहास के लिए होती है, ऐतिहासिक रूपावली या ध्वनिशास्त्र (फोनोलोजी), यहाँ तक कि प्रायोगिक ध्वनि-विज्ञान (फोनेटिक्स) भी साहित्य के आधुनिक विद्यार्थी के लिए बहुत काम का सिद्ध नहीं हो सकता। लेकिन उसे एक विशिष्ट ढंग से भाषा-विज्ञान की आवश्यकता होगी--इनमें सबसे पहला है अर्थविज्ञान, जिसमें

अर्थ और इसके परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। यदि प्राचीन अंग्रेजी कविता का अध्येता अनेक प्राचीन शब्दों का अर्थ अच्छी तरह समझना चाहता है तो उसका काम आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के बिना शायद ही चल पाए। यदि वह मिल्टन की लैटिन शब्दावली को या हाकिन्स के नितान्त टचूटन ढंग के शब्दों को समझना चाहता है तो व्युत्पत्ति विज्ञान भी उसके लिए सहायक हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन का महत्व एक-एक शब्द या मुहावरे को समझने तक ही सीमित नहीं है। साहित्य का सम्बन्ध भाषा के हर पहलू से होता है। सबसे पहले तो कोई कलाकृति ध्वनियों का एक निकाय होती है, और इसीलिए किसी विशेष भाषा की ध्वनि निकाय में से चयन की हुई चीज हुआ करती है। यूफोनी, रिद्म और छन्द पर हमारी चर्चा से इनमें से कई दृष्टियों से भाषावैज्ञानिक अध्ययन का महत्व सिद्ध हो चुका है। तुलनात्मक छन्दशास्त्र और ध्वनि-विन्यासों के विश्लेषण के लिए वर्णविज्ञान (फोनेमिक्स) अपरिहार्य प्रतीत होता है।

इसमें भी सन्देह नहीं कि साहित्यिक प्रयोजनों के लिए भाषा के ध्वनिस्तर को इसके अर्थ से अलग नहीं किया जा सकता। और दूसरी ओर, स्वयं अर्थ की संरचना का भी भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण हो सकता है। हम ध्वनिशास्त्र और रूपावली से शुरू करके शब्दभण्डार (बर्बर प्रयोग, आंचलिक प्रयोग, आदिम रूपों के प्रयोग आदि) की ओर बढ़ते हुए और अन्त में वाक्य रचना (जैसे प्रतिलोमन—इनवर्शन—प्रतिपक्षता—एंटिथीसिस—और समानान्तर प्रवृत्तियाँ —पैरेलैलिज्म) आदि के आधार पर किसी भी साहित्यिक कृति या कृतियों के समूह का व्याकरण लिख सकते हैं।

साहित्य की भाषा का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। हम साहित्यिक कृति का उपयोग मात्र भाषा-इतिहास के दस्तावेज के रूप में कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, **आउल एण्ड नाइटिंगेल** और **सर गावेन एण्ड द ग्रीन नाइट** से मध्यकालीन अंग्रेजी बोली की कुछ विशेषताओं का पता चल सकता है। स्केल्टन, नैश, और बेन जान्सन जैसे लेखकों में अंग्रेजी भाषा के इतिहास की काफी सारी सामग्री भरी पड़ी है। अभी हाल ही स्वीड भाषा में एक पुस्तक ए० एच० किंग ने लिखी है जिसमें उन्होंने उस समय के सामाजिक और वर्ग बोलियों के विश्लेषण के लिए बेन जान्सन के **पोएटेस्टर** का बहुत सावधानी के उपयोग किया है। फ्रांज ने शेक्सपियर के व्याकरण पर बहुत सुन्दर

काम किया है। लजारे सैनियन ने रैबेलियस की भाषा के ऊपर दो खण्डों में एक पुस्तक लिखी है। इन अध्ययनों में साहित्यिक कृतियों का उपयोग भाषा-विज्ञान के लिए स्रोतग्रन्थ और दस्तावेजों के रूप में किया गया है। परन्तु भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तब तक साहित्यिक नहीं हो सकता जब तक कि यह साहित्य के अध्ययन में सहायक नहीं, जब तक कि यह भाषा के सौन्दर्यशास्त्रीय प्रभावों की छानबीन न करे—संक्षेप में कहें तो जब तक यह शैली विज्ञान का रूप (कम से कम इस शब्द के एक अर्थ में) न ले ले।

बेशक सामान्य भाषाविज्ञान में अच्छा दखल रखे बिना शैली-विज्ञान का भी सफल अध्ययन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसका एक प्रधान कार्य किसी कलाकृति की भाषा-शैली को उस समय के सामान्य भाषा-प्रयोग की तुलना में रख कर करना होता है। जब तक यह न मालूम हो कि आम बोलचाल क्या है, यहाँ तक कि गैर-साहित्यिक बोलचाल क्या है, और किसी एक समय में कितनी सामाजिक भाषाएँ प्रयोग में आती हैं, शैली विज्ञान प्रभाववाद के दोषों से शायद ही ऊपर उठ सके। यह धारणा कि विशेषतः पिछले कालों के बारे में हमें यह पता है कि आम भाषा क्या होती है और कलाकार इससे कितना अलग हटकर चलता है, बहुत खेदजनक और आधारहीन है। विगत युगों की विभिन्न स्तरों में बँधी हुई भाषा का गहन अध्ययन करने के बाद ही हमारी पृष्ठभूमि इतनी उपयुक्त हो सकती है कि हम किसी लेखक या किसी साहित्यिक आन्दोलन के शब्द-समूह को परख सकें।

व्यावहारिक रूप में हम लोग सिर्फ उन्हीं मानकों को प्रवृत्ति वश लागू कर बैठते हैं जिन्हें हम अपने वर्तमान जीवन के प्रयोगों से हासिल करते हैं। परन्तु इस तरह के मानदण्ड बहुत भ्रामक हो सकते हैं। प्राचीन काव्य पढ़ते समय कुछ अवसर तो ऐसे आते हैं कि हमें आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक सचेतनता को ताक पर रख देने की आवश्यकता अनुभव होती है। टेनीसन तक की कुछ पंक्तियों में आधुनिक अर्थ को भूल जाना हमारे लिए आवश्यक होता है।

परन्तु यदि हम इस तरह के साफ मामलों में एतिहासिक पुनर्रचना की आवश्यकता मान भी लें तो क्या सभी मामलों में इसकी संभवता मान सकते हैं? ग्रीक की तो खैर बात ही अलग रही, क्या हम ऐसी स्थिति में ऐंग्लो-सैक्सन या मध्यकालीन अंग्रेजी भी इतनी अच्छी तरह सीख सकते हैं, जिससे हम अपनी चालू भाषा को भूलने में समर्थ हो सकें। और यदि हम ऐसा कर भी सकें तो क्या अपने को लेखक का समकालीन भाषा-वैज्ञानिक बना लेने के बल पर ही

हम अच्छे आलोचक हो जायेंगे ? मार्वेल जैसे किसी कवि की कविताओं के आधुनिक --

माई वेजिटेबल लव ग्रुड ग्रो
वास्ट व वैन एम्पायर्स एण्ड मोर स्लो।

का आज जो अर्थ लगाया जाता है क्या उससे इसका सौन्दर्य और अधिक नहीं निखरता है। लुई टीटर इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं :

"पिरामिडों से भी बड़ी और उनसे भी अधिक समय तक जीवित रहने वाली एक वासनापूर्ण गोभी की जो भोंड़ी कल्पना की गई है वह मुझे लोगों की लाल-बुझक्कड़ी मालूम होती है। हमें इस विषय में कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि मार्वेल के दिमाग में ऐसी कोई बात नहीं थी। सत्रहवीं शताब्दी में **वेजिटेबल** (वनस्पति) का अर्थ **वेजिटेटिव** (वनस्पतिक) किया जाता था और इस शब्द का प्रयोग कवि ने संभवतः जीवनदायी तत्व के अर्थ में किया है। आज जो इसका अर्थ उद्यान किया जाता है, वह शायद उसके दिमाग में आया भी नहीं होगा।

हम टीटर के स्वर में स्वर मिलाकर यह पूछ सकते हैं कि आधुनिक काल में इसका जो अर्थ किया जाता है, क्या उससे मुक्ति पाना वांछनीय है, और कम से कम कुछ अतिवादी स्थितियों में क्या ऐसा मुक्ति पाना संभव है। यहाँ हमारे सामने 'इतिहास की पुनर्रचना' की समस्या, उसकी संभवता और वांछनीयता का प्रश्न आ खड़ा होता है।

चार्ल्स बेली जैसे कुछ लोगों ने शैलीविज्ञान को भाषा-विज्ञान की ही एक उपशाखा बनाने का प्रयास किया है; परन्तु शैली-विज्ञान अपने-आप में एक स्वतंत्र विज्ञान हो या नहीं, इसकी अपनी निश्चित समस्याएँ अवश्य हैं। इनमें से कुछ समस्यायें तो ऐसा लगता है कि समग्र या व्यवहारतः समग्र मानवीय वाणी पर लागू होती हैं। इस रूप में सोचने पर शैली-विज्ञान में उन सभी युक्तियों और उपायों की छानबीन की जाती है जिनका लक्ष्य किसी तरह की विशिष्ट अभिव्यंजना होती है और इस तरह इसकी सीमा में साहित्य और अलंकार-शास्त्र से भी बाहर की तमाम बातें आती हैं। ऐसे सभी साधनों को, जिनसे बल दिया जाता या स्पष्टता लाई जाती है, शैली-विज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है, रूपक, जो सभी भाषाओं में यहाँ तक कि आदिम भाषाओं में भी व्याप्त रहता है; सभी अलंकार, वाक्य-विन्यास। लगभग सभी तरह की भाषागत उक्तियों का उनके अभिव्यंजनात्मक मूल्य की दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। इस समस्या की उस तरह उपेक्षा कर जाना असंभव सा मालूम

होता है, जैसे अमरीका में भाषा-विज्ञान का 'व्यवहारवादी' सम्प्रदाय बिल्कुल जानबूझ कर करता है।

परम्परागत शैली-विज्ञान में इन प्रश्नों का उत्तर बहुत अस्त-व्यस्त और यादृच्छिक ढंग से दिया जाता है। अलंकारों के दो भेद किये जाते हैं एक वे जिनसे तीक्ष्णता लाई जाती है या अतिरंजना की जाती है और दूसरे वे जिनसे महत्व घटाया जाता है। अतिरंजक अलंकार जैसे पुनरुक्ति, आवृत्ति, अतिशयोक्ति, और अत्युक्ति आदि को 'उदात्त' शैली से जोड़ा जाता है जिसका किंचित विस्तृत विवेचन लांगिनस ने अपनी पुस्तक 'पेरी हाइपसास' में किया है। होमर, शेक्सपियर, मिल्टन और दान्ते के विषय में "उदात्त शैली" का विवेचन मैथ्यू आर्नल्ड और सेण्ट्सबरी ने किया है जो मनोवैज्ञानिक समस्याओं को ही साहित्यिक मूल्यांकन की समस्यायें समझने की भूल करते गये हैं।

परन्तु यह सिद्ध करना कि किन्हीं विशिष्ट अलंकारों और साधनों का सभी जगह एक विशिष्ट प्रभाव या 'अभिव्यंजनात्मक मूल्य' हुआ करता है, असंभव प्रतीत होता है। बाइबिल में और प्राचीन इतिहास वृत्तों में सहवर्ती वाक्य रचना (और···और···और) से विषय वर्णन में कुछ मन्दता सी आती थी, फिर भी रोमाण्टिक कविताओं में 'और' का अनेक बार प्रयोग बड़े उत्तेजित सवालों की सीढ़ी की पैड़ियों की तरह हुआ है। अतिशयोक्ति दुखद, या सहानुभूतिपरक हो सकती है, पर साथ ही यह विलक्षणता और हास्य से भी परिपूर्ण हो सकती है। इसके अतिरिक्त, अन्य कुछ विशेष अलंकार और वाक्य-भंगियाँ इतनी बहुलता में और इतने अलग-अलग सन्दर्भों में पाई जाती हैं कि उनकी कोई निश्चित व्यंजकता नहीं हो सकती। हम देखते हैं कि सिसरो एक दो अलंकारों का प्रयोग कुछ ही पन्नों में अनेक बार करते हैं, जानसन के रैम्बलर में एक ही अलंकार (बैलेंस) का सैकड़ों बार सैकड़ों अर्थ-छवियों में प्रयोग देखने में आता है। इन दोनों प्रकार की आदतों से यह पता चलता है कि शब्दों से खिलवाड़ किया जा रहा है, अर्थ की सरासर उपेक्षा की जा रही है।

एक-एक अलंकार का अलग-अलग 'व्यंजक मूल्य' दिखाने की बारीकी को हर हालत में छोड़ देना होगा पर इसी के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि शैलीगत लक्षणों और उनके प्रभावों में निश्चित सम्बन्ध दिखाया नहीं जा सकता। इस बात को सिद्ध करने के पक्ष में एक तर्क तो यह है कि अनेक अलंकारों की बार-बार आवृत्ति होती है उनके साथ दूसरे आवर्ती अलंकार लगे रहते हैं, और उनका जिस तरह प्रयोग होता है उससे एक निश्चित अर्थ-

ध्वनि -- उदात्त, हास्यपरक, सौम्य या गंवारू--फूटती है। जैसा कि डब्ल्यू के० विमसाट ने कहा है, हम यह तर्क दे सकते हैं कि किसी विशेष युक्ति की पुनरावृत्ति होते रहने से ही उसकी अर्थवत्ता नष्ट नहीं हो जाती; 'वाक्य विन्यास, शब्द रूपों और धातु रूपों की तरह बार-बार आते रहते हैं परन्तु उनकी अभिव्यंजना बिल्कुल बनी हुई है।' हमें प्राचीन आचार्यों की तरह शैली को उदात्त और गर्हित, एशियाटिक और ऐटिक जैसे वर्गों में बाँध कर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए; हम विल्हेम श्नीडर की तरह इसके लिए एक जटिल रूप की कल्पना भी कर सकते हैं। वस्तुओं के साथ शब्दों के सम्बन्ध के आधार पर शैलियों को इस प्रकार बाँटा जा सकता है: प्रत्यात्मक और मांसल, क्षिप्र और मन्द, अल्पता या अतिरंजनाप्रधान, स्पष्ट और अस्पष्ट, शान्त और ओजपूर्ण, उदात्त और नम्र, सादी और अलंकृत में; शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर--कसी हुई और शिथिल, मूर्त और संगीतात्मक, चिकनी और रूक्ष, फीकी और रंगीन में; शब्दों और सम्पूर्ण भाषा निकाय से उनके सम्बन्ध के आधार पर--मौखिक और लिखित, क्लीशे और वैयक्तिक में और लेखक के साथ शब्दों के सम्बन्ध के आधार पर वस्तुपरक और आत्मपरक में। इस तरह के वर्गीकरण लगभग सभी तरह की भाषागत अभिव्यक्तियों पर लागू हो सकते हैं परन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि अधिकांश प्रमाण साहित्यिक कृतियों से लिये जाते हैं और इनका लक्ष्य साहित्यिक शैली का विश्लेषण करना होता है। इस दृष्टि से देखने पर शैली-विज्ञान अलंकारशास्त्र के वर्गीकरण के आधार पर अलग-अलग अलंकारों के अध्ययन और कल्पित (गाथिक, या बैरक) शैलियों के अध्ययन के, जो सुनने में तो बहुत भड़कीला मालूम होता है पर जिसका आधार अपेक्षाकृत अधिक भुसभुसा होता है, एकदम बीच में आता है।

दुर्भाग्यवश इस कृति का अधिकांश भाग कुछ संकीर्ण सुझावों के उद्देश्य से--इसमें शैलीशास्त्र के नाम पर अभिव्यक्ति की एक विशेष प्रकार की 'मध्यममार्गी' शैली की, जिसके आदर्श परिशुद्धता और स्पष्टता हैं, सम्प्रति एक शैक्षिक अनुशासन की सिफारिश की गयी है--या किसी विशेष भाषा के राष्ट्रवादी आवेशों को उभारने की भावना से लिखा गया है। जर्मनों को इस बात के लिए खास तौर से इस बात का दोष दिया जा सकता है कि उन्होंने प्रमुख यूरोपीय भाषाओं के आपसी भेदों के विषय में बहुत हवाई सामान्यकरण किये हैं: यहाँ तक कि वेश्लर, वोसलर और ड्यूट्शबीन जैसे प्रख्यात विद्वानों ने भी इस तरह की अटकलबाजियाँ की हैं जिनको वस्तुतः जाँचा ही नहीं जा सकता

और इतने ही के बल पर राष्ट्रीय मनोविज्ञान के विषय में निष्कर्ष निकाल डाले हैं। इससे एक समस्या से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि हम किसी ऐसी भाषा की तुलना जिसका साहित्य विकसित नहीं है, यूरोप की किसी महान भाषा से करें तो यह 'व्यवहारवादी' दृष्टिकोण बेतुका मालूम होगा कि सभी भाषाएँ बराबर हैं। किसी भी अनुवादक को इस बात का पता चल सकता है कि यूरोप की महान भाषाओं की वाक्य-रचना, 'मुहाविरे', और अन्य रूढ़ियाँ बहुत भिन्न हुआ करती हैं। कुछ विशेष प्रयोजनों की दृष्टि से अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन अपनी किसी भी प्रतिस्पर्धी भाषा से कम उपयुक्त प्रतीत होती हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये अन्तर ऐसे सामाजिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रभावों के कारण होते हैं जिनका वर्णन तो किया जा सकता है, परन्तु इनका विवेचन इतने विस्तार से नहीं किया जा सका है कि इसके आधार पर बुनियादी राष्ट्रीय मनोविज्ञान तक पहुँचा जा सके। 'तुलनात्मक' शैली-विज्ञान अभी बहुत बाद की संभावना मालूम होता है।

शैली-विज्ञान का शुद्ध साहित्यिक और सौन्दर्यशास्त्रीय उपयोग इसे किसी एक साहित्यिक कृति या साहित्यिक कृतियों के समूह के अध्ययन तक सीमित कर देता है जिनका विवेचन सौन्दर्यशास्त्रीय उपयोगिता और अर्थ की दृष्टि से करना होता है। इस सौन्दर्यशास्त्रीय अभिरुचि को केन्द्र बनाकर ही शैली-विज्ञान को साहित्यिक पाण्डित्य का अंग बनाया जा सकता है; और यह एक महत्वपूर्ण अंग होगा क्योंकि शैलीगत पद्धति ही किसी साहित्यिक कृति की विशिष्ट प्रवृत्तियों की व्याख्या कर सकती है। इस तरह के शैलीगत विश्लेषण के लिए दो पद्धतियाँ संभावित हैं : पहली पद्धति है भाषा निकाय का व्यवस्थित विश्लेषण करते हुए बढ़ना और इसकी विशिष्टताओं का निरूपण कृति के सौन्दयशास्त्रीय प्रयोजन की दृष्टि से, एक 'समग्र अर्थवत्ता' के रूप में करना। इस तरह शैली किसी कृति या कृतियों के समूह का अपना भाषा निकाय मालूम होती है। एक दूसरा तरीका, जो इससे विरुद्ध नहीं पड़ता, उन समग्र व्यक्तिगत विशेषताओं का अध्ययन करना है जिनकी दृष्टि से यह भाषा-प्रणाली अन्य तुलनीय प्रणालियों से अलग पड़ती है। यह विरोध-प्रदर्शन की पद्धति है। हम इस बात का निरीक्षण करते हैं कि सामान्य प्रयोग से अलग और तोड़-मरोड़ कर कितने प्रयोग किये गये हैं और इनका सौन्दर्यशास्त्रीय प्रयोजन ढूँढ़ते हैं। सामान्य सम्प्रेषण की भाषा में शब्दों की ध्वनि की ओर या शब्दों के क्रम की ओर (जिसमें कम से कम अंग्रेजी में सामान्यतः कर्ता के तत्काल बाद क्रिया आ जाती है) या वाक्य-

विन्यास की ओर (जो मिश्र वाक्य या संयुक्त वाक्य हो सकता है) कोई ध्यान नहीं दिया जाता। शैली-विश्लेषण में पहला कदम होगा ध्वनियों की आवृत्ति, शब्द-विन्यास के प्रतिवर्तन उपवाक्यों के पूर्वापर क्रम के विन्यास आदि की दृष्टि से लीक छोड़ने के उदाहरणों पर नजर रखना जिनका कुछ सौन्दर्यशास्त्रीय महत्व होता है, जैसे किसी बात पर जोर देना या उसमें स्पष्टता लाना, या इनके विरोधी कार्य– भेद रेखाओं को इस तरह धुंधला बनाना या अस्पष्टता लाना, जो सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से उचित ठहराया जा सकता है।

कुछ कृतियों और लेखकों के बारे में इस तरह का काम अपेक्षाकृत बहुत आसान है। जान लिली की यूफ्यूज में चिड़ियों और जन्तुओं की नीति-कथाओं में से जो ध्वनियाँ और उपमाएँ ली गई हैं उन्हें पहचानने में किसी तरह की भूल नहीं हो सकती। स्पेन्सर जिनके बारे में जान्सन ने लिखा था कि 'वह कोई भाषा नहीं लिखते, एक ऐसी भाषा का प्रयोग करते थे जिसमें आदिम प्रयोगों, निरर्थक शब्दों और आंचलिक शब्दों को आसानी से पहचाना जा सकता है।" मिल्टन अपनी शब्दावली में लैटिन का पुट तो देते ही थे जिसमें अंग्रेजी शब्दों में अपने मूल रूपों का भाव आ जाता है, साथ ही उनकी वाक्य-रचना भी अपने ढंग की हुआ करती थी। जेरार्ड मैनली हापकिन्स की भाषा की विशेषताएँ हैं इसमें पाये जाने वाले सैक्सन और देशज शब्द, लैटिन शब्दावली से बचने की चेष्टा, जिसके पीछे भाषा का टयूटानी प्रभाव देने वाले एक आन्दोलन का सिद्धान्त और समर्थन जुड़ा हुआ था, और उनके शब्दों की अनूठी रचना और समास। कार्लाइल, मेरिडिथ, पेटर या हेनरी जेम्स जैसे लेखकों की भाषा का विश्लेषण करना, जिनकी शैली में खुले रूप में एक 'बँधा' लहजा पाया जाता है, बहुत मश्किल नहीं है, और न ही मुश्किल है ऐसे लेखकों की भाषा का विश्लेषण जिन्होंने अपनी निजी विलक्षणता पैदा कर ली है, हालांकि उनका कलात्मक महत्व कुछ खास नहीं है।

परन्तु कुछ दूसरे मामलों में किसी लेखक की शैलीगत विशिष्टताओं को अलग करके उनकी व्याख्या कर पाना बहुत अधिक कठिन होगा। बार-बार आने वाली विशेषताओं को पहचानने के लिए, खास तौर से ऐसे लेखकों के बीच से इन विशेषताओं को पहचानने के लिए जो एलिज़बेथ-कालीन नाटककारों और निबन्धकारों की तरह बिल्कुल एक जैसी भाषा लिखते हैं बहुत संवेदनशील कान और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति की आवश्यकता होती है। जे० एम० राबर्टसन ने यह दावा किया है कि कुछ शब्द 'मुहाविरों' जैसे होते हैं, वे पील, ग्रीन,

मार्क्स और काइड जैसे व्यक्तियों के अपने अनूठे प्रयोग हैं जिनसे उनकी कृतियों को पहचाना जा सकता है। पर इस तरह के दावों पर सदा सन्देह किया जाना चाहिए। इनमें से अनेक पड़तालों में शैलीगत विश्लेषण को विषय-सामग्री के जोड़-तोड़, स्रोतों और बार-बार प्रयोग में आने वाले प्रसंगों जैसे दूसरे मामलों से बिना किसी भेद-भाव के जोड़ दिया जाता है। ऐसे मामलों में शैली-विज्ञान का उपयोग लेखक का पता लगाने, प्रामाणिकता निश्चित करने, जैसे दूसरे प्रयोजनों से ही किया जाता है, जो एक तरह का जासूसी का काम होता है और जिसे अधिक से अधिक साहित्यिक अध्ययन की भूमिका माना जा सकता है।

एक कठिन व्यावहारिक समस्या वहाँ उत्पन्न हो जाती है जहाँ एक ही जैसी शैलियों का अधिक प्रचलन पाया जाता है, जहाँ एक ही लेखक अपनी शक्ति के कारण दूसरों में अनुकरण की प्रवृत्ति जाग्रत करता है और दूसरों के लिए एक फ़ैशन सा बन जाता है। पहले शैली की परम्परा विधाओं के विचार से बहुत अधिक प्रभावित हुआ करती थी। उदाहरण के लिए, चासर की कैण्टरबरी टेल्स की हर एक कहानी में और उनके अलग-अलग कालों और साहित्यिक विधाओं की रचनाओं की शैलियों में बहुत अधिक फर्क पाया जाता है। अठारहवीं शताब्दी में एक पिण्डारिक ओड, सटायर (व्यंग्य रचना) और बैले की अपनी-अपनी अपेक्षित शब्दावली और शैली हुआ करती थी। 'काव्यात्मक शब्दावली' विशिष्ट विधाओं तक ही सीमित हुआ करती थी, जब कि गौण विधाओं में आम बोल-चाल की भाषा की छूट थी या कहें विधान सा था। यहाँ तक कि वर्ड्सवर्थ ने काव्यात्मक शब्दावली की भर्त्सना करने के बावजूद ओड, या टिंटर्न ऐबी जैसा प्रकृति चित्र, मिल्टन की शैली का सानेट, या एक लिरिकल बैलेड लिखते समय बिल्कुल अलग-अलग शैलियों का प्रयोग किया है। यदि हम इस तरह के भेदों की उपेक्षा कर जाएँ तो हम किसी ऐसे लेखक की शैली की जो विशेषताएँ बताएँगे, वे सभी निरी व्यर्थ होंगी जिसने अनेक विधाओं में रचनाएँ की हैं और जिनके व्यक्तित्व का विकास एक लम्बे समय तक होता रहा है। इस दृष्टि से गेटे की 'शैलियों' की चर्चा करना अधिक सुविधाजनक रहेगा, क्योंकि उनकी क्लासिकी ढंग की आरंभिक अवस्था की शैली और बाद की शैली में इतना अधिक फर्क पाया जाता है कि इन्हें किसी कदर एक दूसरे से मिलाया नहीं जा सकता।

शैली विश्लेषण की इस पद्धति के—जिसमें शैली की अपनी विलक्षणताओं पर, एक भाषा को अपने आसपास के भाषा-निकायों से अलग करने वाली

विशिष्टताओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है—कुछ स्पष्ट खतरे हैं। हम अलग-अलग देखी गई विशेषताओं को या सुस्पष्ट विशिष्टताओं को ही जुटाने में लग सकते हैं और किसी कलाकृति की अपनी समग्रता की उपेक्षा कर सकते हैं। हम मात्र 'मौलिकता' पर, अनन्यता पर, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति पर, आवश्यकता से अधिक बल दे सकते हैं। भाषा-सिद्धान्तों के अनुसार किसी शैली का पूरा और व्यवस्थित विवेचन करने का प्रयत्न अधिक श्रेयस्कर है। रूस में विक्टर विनोग्रेडोफ ने पुश्किन और टाल्स्टाय की भाषा पर एक आधिकारिक पुस्तक लिखी है। पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया में अनेक विद्वानों का ध्यान व्यवस्थित शैली-विज्ञान की ओर आकृष्ट हुआ है, और स्पेन में डैमेसो एलोन्सो ने गौन गोरा की कविता का व्यवस्थित विश्लेषण करना शुरू किया है, जब कि एमेडो एलोन्सो ने पाब्लो नेरुदा की काव्य-शैली का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इस पद्धति का खतरा यह है कि इसमें 'वैज्ञानिक पूर्णता' का एक आदर्श बना दिया जाता है, विश्लेषण करने वाला व्यक्ति यह भूल सकता है कि कलात्मक प्रभाव और बल किसी युक्ति की आवृत्ति से अभिन्न नहीं होते। इस तरह मिस जोजेफाइन माइल्स हाकिन्स की शब्दावली में 'सांख्यिकीय प्रमाणों, के आधार पर पूर्व रेफेलाइट तत्वों पर बल देने की भूल की है।

शैलीगत विश्लेषण साहित्य के अध्येता के लिए सबसे अधिक लाभकर तब मालूम होता है जब यह किसी समन्वयकारी तत्व की तलाश कर सके, जब किसी ऐसे सामान्य सौन्दर्यशास्त्रीय लक्ष्य की खोज कर सके जो किसी पूर कृति में व्याप्त हो। उदाहरण के लिए, यदि हम जेम्सटाम्सन जैसे अठारहवीं शताब्दी के किसी वर्णनात्मक कवि को लें तो हमें यह सिद्ध करने में समर्थ होना चाहिए कि उनकी शैलीगत विशिष्टताएँ कैसे एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। मिल्टन की मुक्त छन्द कविताओं में शब्दावली के चुनाव में कुछ विधि-निषेध पाया जाता है। शब्द भण्डार के लिए वाग्विस्तार की आवश्यकता होती है, वाग्विस्तार का अर्थ है वस्तु और शब्द के बीच तनाव, वस्तु का नामकरण नहीं किया जाता है, अपितु इसकी विशेषताओं को गिनाया जाता है। विशेषताओं पर बल और उनकी परिगणना का अर्थ है वर्णन, और अठारहवीं शताब्दी में जिस विशेष ढंग का प्रकृति-वर्णन हुआ करता था. उसका अर्थ है एक विशिष्ट डिजाइन या रूपांकन से उठने वाला तर्क। ज्योफ्री टिलाट्सन ने पोप पर लिखी अपनी पुस्तक में और अठारहवीं शताब्दी की काव्य-भाषा पर अपने लेखों में इस तरह के अनेक बहुत ही पैने तथ्यों पर प्रकाश डाला है, जैसे काव्य-भाषा का विलक्षण सिद्धान्त,

इसकी भौतिक 'धर्मशास्त्रीय नामावली' परन्तु वह इन सबको एकरूप करके शैली का एक समग्र विश्लेषण बनाने में असमर्थ रहे हैं। इस तरह की प्रक्रिया से जो छन्द-विचार से आरंभ होकर वस्तुतत्व की समस्याओं और यहाँ तक कि दर्शन तक की ओर अग्रसर होती है, यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि यह इन तत्वों में से किसी को तर्क या कालक्रम की दृष्टि से अग्रता देने की प्रक्रिया है। हम कहीं से भी आरंभ करें, हमें उन्हीं परिणामों पर पहुँचना चाहिए। इस प्रकार के दृष्टान्तों से प्रकट होता है कि शैली के विश्लेषण से विषय-वस्तु की समस्यायें कैसे खड़ी हो सकती हैं। आलोचकगण बहुत लम्बे समय से अपनी सहानुभूति के आधार पर बिल्कुल अव्यवस्थित ढंग से शैली का विश्लेषण करते रहे हैं और इसे विशिष्ट दार्शनिक भावनाओं की अभिव्यक्ति मानते रहे हैं। गनडोल्फ ने अपनी पुस्तक गेटे में उनकी आरंभिक कविताओं की भाषा का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है और यह दिखाया है कि कवि की गतिशील भाषा किस तरह प्रकृति की गतिशील अवधारणा को प्रतिबिम्बित करती है। हर्मन नोल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शैलीगत विशेषताओं का सम्बन्ध डिल्थे द्वारा निरूपित दर्शन के तीन रूपों से जोड़ा जा सकता है।

जर्मन विद्वानों ने भाषा की विशिष्टताओं और विषय-वस्तु में समानान्तर प्रवृत्तियों की कल्पना करके इसके आधार पर अपेक्षाकृत एक अधिक व्यवस्थित पद्धति निकाली है। लियो स्पित्जर ने हेनरी बारबस की कृतियों में रक्तपात और घाव जैसी रूढ़ियों (मोटिफों) की आवृत्ति की छानबीन करते हुए इसे बहुत पहले लागू किया था और जोजेफ कार्नर ने आर्थर श्नित्सलर की रचनाओं में इन रूढ़ियों का बहुत जम कर अध्ययन किया है। बाद में स्पिट्जर ने आवर्ती शैलीगत विशेषताओं और लेखक के दर्शन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है, जैसे उन्होंने पेगुइ की आवर्ती शैली को उनके वर्गसांवाद से जोड़ा है और जूल्स रोम्यां की शैली को यूनैनिमिज्म (मतैक्यवाद) से। क्रिश्चियन मार्गेन्स्टर्न के शब्द मिथों के (वह लेखक जिसकी बेतुकी कविताओं की तुलना कुछ कुछ लेबिस कैरेल से की जा सकती है) विश्लेषण से पता चलता है कि उसने माथनर की नोमिनलिस्टिक (अद्वैतवादी) रचना क्रिटिक डर स्प्रेचे अवश्य पढ़ी होगी और इसमे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके अवचेतन मन की अप्रवेश-गम्य भाषा पर एक और पर्त चढ़ी हुई है।

लियो स्पिटजर के कुछ लेखों में किसी लेखक की शैली-गत विशेषताओं के आधार पर उसकी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं की अटकल लगाने में बहुत दूर

की कौड़ी लाई गई है। प्रूस्त की रचनाओं पर इस तरह की प्रक्रिया लागू की जा सकती है। चार्ल्स लुई फिलिप में 'ए काज डि' का बार-बार प्रयोग आता है और इनके बीच बीच में 'श्यूडो आब्जेक्टिव मोटिवरंग' का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है अवसाद में विश्वास, कुछ सीमा तक व्यक्तिगत भाग्यवाद; रेबेलायस में स्पिटजर ने ऐसे शब्दों की रचना का विश्लेषण किया जिनमें 'सोर्बोन' जैसे ज्ञात धातु रूपों, के साथ दर्जनों मनमाने प्रत्यय लगाकर बहुत सारे जुगुप्सु उपनाम (जैसे सोर्बोनगर= सोर्बोन+ओनेगर=जंगली गधा) बनाये गये हैं और इससे यह सिद्ध किया है कि रेबलायस में यथार्थ और अयथार्थ के बीच, विनोद और आतंक के बीच, कल्पनालोक और प्रकृतवाद के बीच एक तनाव पाया जाता है। स्पिटजर के शब्दों में इसकी आधारभूत मान्यता यह है कि किसी ऐसी मानसिक-उत्तेजना के साथ, जो हमारे मानसिक जीवन के सामान्य अभ्यास से अलग पड़ती हो, भाषा के सामान्य प्रयोग से अलग होने की सामान्य प्रवृत्ति अवश्यमेव लगी रहती है। स्पिटजर ने यह स्वयं ही स्वीकार किया है कि मनोवैज्ञानिक शैली विज्ञान :

"केवल उन लेखकों पर, जो 'वैयक्तिक मानस के रूप में लेखन की एक निजी शैली में सोचते हैं, अर्थात् अठारहवीं सदी के और उसके बाद के लेखकों पर ही लागू होता है। इससे पहले के काल में लेखक (यहाँ तक कि दान्ते जैसा कोई लेखक भी) वस्तुनिष्ठ वस्तुओं का वस्तुनिष्ठ शैली में अभिव्यंजन करना चाहता था। ठीक इसी अन्तर्दृष्टि ने कि 'मनोवैज्ञानिक शैलीशास्त्र, प्राचीन लेखकों के लिए ठीक नहीं है(माण्टेन इसका एक ज्वलन्त अपवाद है) मुझमें एक और प्रवृत्ति भर दी है जो मेरी रचनाओं में आरंभ से ही विद्यमान थी, और वह है साहित्यिक कला में संरचनागत पद्धति को लागू करना जिसमें रचना की अन्विति लेखक के व्यक्तित्व को ध्यान में रखे विना निरूपित करने की कोशिश की जाती है।

सचाई तो यह है कि मनोवैज्ञानिक शैली विज्ञान के कुछ सुझाव कितने भी विलक्षण क्यों न हों, इन पर दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। इस तरह सिद्ध किये जाने वाले अनेक सम्बन्धों को ऐसे निष्कर्षों पर आधारित किया जाता है जिनको भाषा विषयक सामग्री से न लेकर मनोवैज्ञानिक और वैचारिक विश्लेषण से आरंभ किया जाता है और इनके लिए प्रमाण भाषा में ढूंढ़े जाते हैं। यदि व्यवहारतः भाषा सम्बन्धी प्रमाण स्वतः इससे अलग नहीं मालूम होते, या इनका आधार बहुत क्षीण प्रमाणों को नहीं बनाया जाता तो इस पर कोई

आपत्ति नहीं हो सकती। उस तरह की कृतियों में प्रायः यह मान लिया जाता है कि महान या सच्ची कला का आधार अनुभव ही होना चाहिए। यह 'अनुभव' एक ऐसा शब्द है जिसमें जीवन-वृत्तात्मक भ्रान्ति का ही तनिक बदला हुआ रूप देखने में आता है। इसके अतिरिक्त, यह मान्यता कि कुछ विशेष शैलीगत युक्तियों में और कुछ विशेष मनःस्थितियों में अनिवार्य सम्बन्ध होता है, भ्रान्त मालूम होती है। उदाहरण के लिए, बैरक शैली की चर्चा करते समय अधिकांश जर्मन विद्वान् यह मान बैठते हैं कि सघन, अस्पष्ट और तोड़ी-मरोड़ी हुई भाषा के साथ विक्षुब्ध, विघटित और प्रताड़ित आत्मा का अनिवार्य सम्बन्ध हुआ करता है। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि अस्पष्ट और तोड़ी-मरोड़ी हुई शैली शिल्पकार और प्रविधिज्ञ भी कर सकते हैं। मानस और शब्द के बीच का पूरा सम्बन्ध उससे कहीं अधिक शिथिल और तिरछा है जितना कि इसे प्रायः मान लिया जाता है।

इस प्रकार जर्मन मनोवैज्ञानिक धारणा **स्टिल्फार्सचंग** का विवेचन बहुत सावधानी से करना होगा। प्रायः ऐसा लगेगा कि यह जनन मनोविज्ञान का ही एक छद्म रूप है और इस बात का पूरा इत्मीनान रखा जा सकता है कि इसकी अवधारणाएँ क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र से बहुत अधिक भिन्न हैं, जिसे प्रायः इसका आदर्श माना जाता है। क्रोचे के मौडल में, जो अद्वैतवादी है, मनोदशा और इसकी भाषागत अभिव्यंजना में कोई फर्क नहीं किया जा सकता। क्रोचे समस्त शैलीगत और आलंकारिक श्रेणियों शैली और रूप के भेद, रूप और विषयवस्तु के भेद और अन्ततः शब्द और आत्मा के, अभिव्यक्ति और अन्तः-प्रज्ञा के भेद की प्रमाणिकता से बहुत जोर से इन्कार करते हैं। क्रोचे में तादात्म्यों के इस अनुक्रम से एक वैचारिक जड़ता उत्पन्न हो जाती है: जो मूलतः काव्य-प्रक्रिया के अर्थों में सच्ची अन्तर्दृष्टि थी, उसको इतना खींचा जाता है कि किसी तरह का भेद करना संभव ही नहीं है। अब यह स्पष्ट मालूम होता है कि प्रक्रिया और कृति, रूप और विषयवस्तु, अभिव्यंजना और शैली को जब तक हम अन्तिम एकता पर न पहुँच जायें तब तक थोड़े समय के लिए और एक दम से जहाँ का तहाँ बिल्कुल अलग रखना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही वह पूरा रूपान्तर और आदर्शीकरण संभव है जो आलोचना की अपनी प्रक्रिया के अंग हैं।

यदि हम किसी लेखक या कृति की शैली बयान कर सकते हैं तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम कृतियों के एक समूह की या किसी विधा की भी जैसे

गाथिक उपन्यास, एलिज़बेथयुगीन नाटक, मेटाफिजिकल कवियों की कविताओं की शैली का भी वर्णन कर सकते हैं; हम शैलीगत प्रकार-भेदों जैसे बैरक शैली, सत्रहवीं शताब्दी के गद्य की शैली, का भी वर्णन कर सकते हैं। इस सामान्य करण को और भी आगे बढ़ाकर किसी एक काल या आन्दोलन की शैली का भी वर्णन किया जा सकता है। व्यवहारतः ऐसा किसी अनुभवबोध के आधार पर कर पाना अतिशय कठिन मालूम होता है। स्वच्छन्दतावादी क्रान्ति की काव्यशैली पर लिखी हुई बैरट की पुस्तक या प्रभाववादी कवियों की शैली पर लिखी हुई थान की पुस्तक में एक पूरे सम्प्रदाय या आन्दोलन की शैलीगत युक्तियों या पद-विन्यास और शब्द भण्डार की विशेषताओं की खोज की गई है। प्राचीन ट्यूटानिक काव्य की शैली का विवेचन करने की दृष्टि से तो बहुत सा काम हुआ है। परन्तु ये अधिकांशतः सामुदायिक शैलियाँ हैं, जिनकी प्रकृति एक जैसी है और जिसका विवेचन उसी तरह किया जा सकता है जैसे किसी एक ही लेखक की कृतियों का विवेचन। क्लासिकी प्रवृत्ति और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति जैसे पूरे साहित्यिक आन्दोलनों या पूरे युगों का शैलीगत विवेचन करते समय दुर्निवार कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि अनेक अत्यधिक भिन्न लेखकों और कभी-कभी अनेक देशों के लेखकों में हमें अनिवार्य रूप से कुछ सामान्य विशेषताएँ मिलती हैं।

चूँकि साहित्य के इतिहास में अनेक तरह की शैलियों को, जैसे क्लासिकी, गाथिक, रिनेसां और बैरक शैलियों को, व्यापक स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है, अतः इन शब्दों को साहित्य में स्थान देने का लोभ मन में पैदा होता है। लेकिन ऐसा करते समय हम फिर साहित्य और ललित कलाओं के बीच सम्बन्ध, ललित कलाओं में पाई जाने वाली समानान्तर धारायें और अपनी सभ्यता के महान कालों के क्रम के पुराने सवाल पर पहुँच गए हैं।



पन्द्रह

बिम्ब, रूपक, प्रतीक, मिथ

विषय-वस्तु के आधार पर कविताओं का वर्गीकरण करने के बाद हम इस प्रश्न की ओर मुड़ते हैं कि कविता किस प्रकार का प्रबन्ध है, और जब गद्य-रूपान्तर के स्थान पर हम किसी कविता का 'अर्थ' पूरी जटिल संरचनाओं को मान लेते हैं तब हम यह देखते हैं कि इस अध्याय के शीर्षक के चार शब्दों में प्रस्तुत अनुक्रम ही केन्द्रीय काव्य संरचना है। हमारे एक समकालीन लेखक ने लिखा है कि काव्य-योजना के दो मुख्य तत्त्व छन्द और रूपक हैं: इसके अतिरिक्त 'छन्द और रूपक एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं', और यदि हम इन दोनों को शामिल करना और इनके साहचर्य की व्याख्या करना चाहें तो कविता की बहुत व्यापक परिभाषा करनी होगी। इस विवरण में निहित काव्य के सामान्य सिद्धान्त का बहुत ओजस्वी विवेचन कॉलरिज ने **बायोग्राफिया लिटरेरिया** में किया है।

ये चारों शब्द क्या किसी एक ही वाच्य अर्थ की ओर संकेत करते हैं? अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से ये शब्द एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते हैं; ये सभी दिलचस्पी के एक ही क्षेत्र की ओर संकेत करते हैं। संभवत: हमारे इस अनुक्रम--बिम्ब, रूपक, प्रतीक और मिथ--को दो रेखाओं का मिलन कहा जा सकता है, जिनमें से हर एक काव्य के सिद्धान्त के लिए महत्वपूर्ण है। एक में ऐन्द्रियिक विशिष्टता या ऐन्द्रियिक और सौन्दर्यात्मक सातत्य है, जो कविता को संगीत और चित्रकला से जोड़ता है और इसे दर्शन और विज्ञान से अलग करता है; दूसरा है 'अलंकरण' (फिगेरशन) या अलंकारशास्त्र (ट्रोपोलाजी)—वह 'वक्र' प्रबन्ध, जो मैटोनिम (सादृश्य) और रूपक में अपनी बात कहता है, दो अलग लोकों की आंशिक तुलना करता है, अपने कथ्यों को ठीक रूप में

प्रस्तुत करने के लिए दूसरी कलायुक्तियों में उसका अव्यवहार्य रूपान्तर करता है। ये दोनों साहित्य की अपनी विशिष्टताएँ या भेदक गुण हैं जो वैज्ञानिक विवरण में नहीं होते। विज्ञान का लक्ष्य है ऐसी अमूर्त संकल्पनाओं की एक पद्धति तैयार करना, जिन्हें एकल चिह्नों (मोनोसाइन) प्रणाली में व्यक्त किया जाता है; इसके विपरीत. कविता शब्दों को एक ऐसे अनूठे प्रतिरूप (पैटर्न) में गठित करती है जिसे दुहराया नहीं जा सकता। इनमें से हर एक प्रतिरूप एक संकेत तो होता ही है साथ ही साथ एक वस्तु भी होता है, और इनका प्रयोग इस ढंग से किया जाता है जिसका पूर्व निश्चय कविता से बाहर किसी अन्य प्रणाली में किया ही नहीं जा सकता।

हमारे विषय की अर्थ-विषयक (सेमैण्टिक) कठिनाइयाँ बहुत बड़ी हैं, और इनसे बचने का एक ही उपाय समझ में आता है कि इस विषय में निरन्तर सतर्क रहा जाए कि शब्दों का उनके सन्दर्भों में और विशेषतः बिल्कुल विपरीत रूपों में कैसे प्रयोग किया गया है।

✓बिम्ब-विधान का विषय मनोविज्ञान और साहित्यिक अध्ययन दोनों में आता है। मनोविज्ञान में 'बिम्ब' शब्द का अर्थ है विगत संवेदनात्मक या अवगमात्मक (परसेप्चुअल) अनुभव की, जिसका दृष्टिगम्य होना आवश्यक नहीं है, मानसिक प्रतिकृति या स्मृति। फ्रांसिस गाल्टन ने १८८० में अपनी खोजों में यह पता लगाने का यत्न किया कि आदमी अपने अतीत की चाक्षुष प्रतिकृति उतारने में किस सीमा तक सफल हो सकते हैं, और पाया कि लोगों की 'चाक्षुष' स्मृतियों में बहुत अधिक अन्तर हुआ करता है। लेकिन बिम्बविधान केवल चाक्षुष ही नहीं हुआ करता। मनोवैज्ञानिकों और सौन्दर्यशास्त्रियों ने इसके अनेक भेद किये हैं। बिम्ब न केवल 'रसना' और 'घ्राणेन्द्रिय' के होते हैं, बल्कि 'उष्मा' और 'दबाव' के भी बिम्ब हुआ करते हैं। स्थैतिक (स्थिर) बिम्ब-विधान और गतिशील बिम्बविधान में भी फर्क होता है। रंग विषयक बिम्ब-विधान का प्रयोग परम्परागत रूप से, या निजी रूप से प्रतीत्कात्मक हो भी सकता है और नहीं भी। मिश्र बिम्ब (चाहे यह कवि की असामान्य मनोवैज्ञानिक रचना का परिणाम हो, या साहित्यिक रूढ़ि का) एक ज्ञानेन्द्रिय से दूसरी में रूपान्तरित हो जाता है, जैसे ध्वनि से रंग में। इसके अतिरिक्त, बिम्बों का एक और भेद भी है जो साहित्य के विद्यार्थी के लिए लाभकर हो सकता है, और यह है 'बँधे' और 'मुक्त' बिम्बों का भेद। पहले में 'श्रुति' और 'पेशियों' से सम्बन्धित बिम्ब आते हैं। मौन वाचन के समय भी यह अनिवार्यरूप से

जाग्रत होता है, और लगभग सभी उपयुक्त पाठकों में यह एक जैसा ही रहता है। मुक्त बिम्ब चाक्षुष और अन्य सभी बिम्ब अलग-अलग व्यक्तियों और टाइपों में अलग-अलग ढंग के हुआ करते हैं।

आई० ए० रिचर्ड्स ने **प्रिंसिपल्स आफ क्रिटिसिज्म**, (१९३४) में जो सामान्य निष्कर्ष निकाला है, वह आज भी बहुत दुरुस्त मालूम होता है: "बिम्बों की ऐन्द्रिय विशेषताओं को सदा से बहुत अधिक महत्व दिया जाता रहा है। बिम्ब अपनी स्पष्टता के कारण उतने प्रभावशाली नहीं होते जितने किसी मानसिक घटना से और विशेषत: संवेदन से जुड़े होने की प्रकृति के कारण।" "ये प्रभावशाली तभी होते हैं जब कि ये संवेदन के 'अवशेष' या 'प्रतिकृति' होते हैं।

ऐसे बिम्बों से जो संवेदनों के अवशेष-प्रतिबिम्ब होते हैं, हम बड़ी आसानी से दूसरी दिशा में मुड़ सकते हैं. जो हमारे पूरे विवेच्य क्षेत्र में व्याप्त है—और यह है सादृश्य और तुलना की दिशा। चाक्षुष बिम्ब भी केवल वर्णनात्मक कविताओं में ही नहीं ढूँढ़े जाने चाहिए, और बहुत कम लोग ऐसे हैं जिन्होंने 'बिम्बवादी', या 'ऐन्द्रियिक' कविताएँ लिखने की चेष्टा की हो और उन्हें वाह्य जगत के चित्रों तक अपने को सीमित रखने में सफलता मिली हो। पर उन्होंने ऐसा जानबूझ कर शायद ही किया हो। एजरा पाउण्ड ने, जिन्हें अनेक काव्य आन्दोलनों के सिद्धान्त प्रस्तुत करने का श्रेय है, 'बिम्ब' की जो परिभाषा दी है, उसमें इसे चित्रात्मक प्रतिकृति नहीं माना है। पाउण्ड ने लिखा है कि बिम्ब वह है 'जो बुद्धि और भावना विषयक पूरे जटिल तंत्र को क्षण मात्र में प्रस्तुत कर देता है, यह असदृश विचारों की अन्विति है। बिम्बवाद के अनुगामियों का दावा था, 'हमारा विश्वास है कि कविता में एक-एक बारीकी को यथातथ्य उतारा जाना चाहिए, इसे अस्पष्ट सामान्य उक्तियों तक सीमित नहीं रहना चाहिए, ये सामान्यताएँ चाहे कितनी भी मधुर क्यों न हों।' दान्ते की प्रशंसा और मिल्टन पर प्रहार करते हुए, लगता है, ईलियट ने भी बिम्बवाद का ही कट्टरता से समर्थन किया था। उन्होंने लिखा है कि 'दान्ते की कल्पना चाक्षुष है।' वे एलीगरी या अध्यवसित रूपक का आश्रय लेते हैं और एक सक्षम कवि के लिए एलीगरी का अर्थ है "स्पष्ट दृश्य-चित्र"। दूसरी ओर, दुर्भाग्य से मिल्टन की कल्पना 'श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्ध रखती है'। 'ल' एलेग्रो' और 'इल पेन्सेरोसो' में चाक्षुष बिम्बविधान, 'सारा सामान्य है... मिल्टन की नज़र किसी विशेष हलवाहे, ग्वालिन या चरवाहे पर नहीं पड़ती... इन कविताओं

का ऐन्द्रिय प्रभाव केवल कानों पर पड़ता है, और इनके साथ हलवाहे, ग्वालिन या चरवाहे की एक संकल्पना जुड़ जाती है।

इस पूरे उद्‌गार में बल विशिष्टत्व पर और अलग-अलग लोकों के एकीकरण (सादृश्य, जैसे ऐलीगरी, असदृश विचारों की अन्विति) पर है न कि ऐन्द्रियिकता पर। चाक्षुष बिम्ब एक संवेदन या अवगम (परसेशन) हुआ करता है, पर साथ ही यह किसी अदृश्य, किसी 'आन्तरिक' वस्तु का वाचक भी होता है। यह किसी चीज का प्रस्तुतीकरण करने के साथ ही साथ उसकी पुरानी याद भी जगा सकता है। (जैसे "काली रात का चिमगादड़ उड़ गया'... हमारे चारों ओर दूर-दूर तक अनन्तता का विस्तार है)। बिम्ब एक 'विवरण' के रूप में या (जैसा कि हमारे उदाहरण में दिया गया है) रूपक के रूप में हो सकते हैं। परन्तु जिन बिम्बों को रूपक बनाकर नहीं प्रस्तुत किया गया है, उस रूप में नहीं रखा गया है 'जैसा वे मन की आँखों को दीखते हैं', क्या वे भी प्रतीकात्मक हो सकते हैं? क्या हर अवगम या प्रत्यक्षानुभूति वरणात्मक नहीं होती है?

अतः मिडलटन मरे का, जो 'उपमा' और 'रूपक' को छन्दशास्त्र के "रूपात्मक वर्गीकरण" से जुड़ा हुआ मानते हैं, कहना है कि बिम्ब शब्द में ये दोनों ही शब्द समाहित हैं, लेकिन वह इस बात की चेतावनी देते हैं कि हमें 'अपने मस्तिष्क से यह बात कोशिश करके निकाल देनी चाहिए कि बिम्ब एकमात्र या मुख्यतः दृष्टिगम्य ही होता है, : बिम्ब 'दृष्टिगम्य हो सकता है, श्रुतिगम्य हो सकता है' या 'यह पूर्णतः मनोवैज्ञानिक' हो सकता है। शेक्सपियर, एम्मेली ब्राण्टे और पो जैसे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न साहित्यकारों में हम यह देख सकते हैं कि कोई परिवेश या माहौल (सेटिंग) प्रायः रूपक या प्रतीक हुआ करता है: विक्षुब्ध सागर-तूफान, निर्जन बीहड़ मैदान. रिसते हुए सोते या सड़े हुए पानी की पोखर के पास बना भग्नप्राय महल।

'बिम्ब' की ही भाँति साहित्यिक आन्दोलन के एक सम्प्रदाय का नामकरण 'प्रतीक' के नाम पर भी हुआ है। बिम्ब की ही भाँति यह भी बहुत भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में बिल्कुल भिन्न चीजों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। इस शब्द का प्रयोग तर्कशास्त्र, गणित, अर्थ विज्ञान, रोग लक्षण विज्ञान (सेमिओटिक्स) तथा प्रमाण मीमांसा में भी होता है, धर्मशास्त्र में ('सिम्बल' अर्थात् प्रतीक शब्द का एक समानार्थी धार्मिक विश्वास भी है), पूजन विधि, ललित कला और कविता के इतिहास में भी यह बहुत लम्बे समय से प्रयोग में आता रहा

है। इन सभी प्रचलित प्रयोगों में सर्वनिष्ठ तत्व सम्भवतः यह है कि कोई चीज किसी अन्य चीज के स्थान पर प्रयोग की जाती है या उसका निरूपण करती है। परन्तु जिस ग्रीक क्रिया से सिम्बल (प्रतीक) शब्द निकला है उसका अर्थ है एक साथ जोड़ना, तुलना करना, और इससे यह सूचित होता है कि प्रतीक चिह्न और इससे व्यक्त की जाने वाली चीज के बीच सादृश्य की धारणा इसके मूल रूप में विद्यमान थी। यह भाव इस शब्द के आधुनिक प्रयोगों में से भी कुछ में पाया जाता है। गणित और तर्कशास्त्र के 'प्रतीक' रूढ़ और सर्वमान्य चिह्न हैं; परन्तु धार्मिक प्रतीक 'निर्देशक' और 'निर्देश्य' के बीच किसी तरह के मेटोनिमी (लक्षणा) या रूपक विषयक आन्तरिक सम्बन्ध पर आधारित होते हैं, जैसे क्रूस, मेमना, अच्छा चरवाहा इत्यादि। साहित्यिक सिद्धान्त में इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में करना अभीष्ट प्रतीत होता है: एक ऐसी वस्तु जो किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करती है, पर एक प्रस्तुतीकरण के रूप में जिसके अपने स्वरूप की ओर भी ध्यान देने की अपेक्षा होती है।

एक खास तरह के दिमाग के लोग हैं जो 'निरे प्रतीक-विधान' की बात करते हैं और या तो धर्म और कविता को कर्म कांड की रीति से विन्यस्त ऐन्द्रिय बिम्ब मात्र मानते हैं या प्रस्तुत 'संकेतों' या 'बिम्बों' को हटाकर इनसे परे की नैतिक या दार्शनिक अतीन्द्रिय वास्तविकताओं को ही ग्रहण करने की बात करते हैं। दूसरे कुछ लोग प्रतीक विधान को जान-बूझ कर बनाई गई चीज मानते हैं; वे इन्हें संकल्पनाओं के निदर्शक, शैक्षिक या ऐन्द्रिय रूप में किया हुआ सायास मानसिक रूपान्तर मानते हैं। लेकिन कोलरिज का मत है कि जहाँ 'ऐली गरी' 'अमूर्त संकल्पनाओं का चित्रलिपि में अनुवाद मात्र है, जो स्वयं ऐन्द्रिय वस्तुओं के अमूर्तीकरण से इतर कुछ नहीं है.....' वहाँ प्रतीक की विशेषता यह है कि यह व्यक्ति में विशेष और विशेष में सामान्य की....और सबसे बड़ी बात यह कि कालबद्ध में कालातीत की झलक देता है।

क्या 'प्रतीक' किसी महत्वपूर्ण अर्थ में 'बिम्ब' और 'रूपक' से भिन्न होता है? मुख्यतः 'प्रतीक' की बात सोचते समय हम इसकी प्रत्यावृत्ति और स्थायित्व की बात सोचते हैं। कोई 'बिम्ब' एक बार रूपक के रूप में प्रकट हो सकता है, परन्तु जब यह बिम्ब बार-बार प्रस्तुत और अप्रस्तुत रूप में दुहराया जायेगा तो यह प्रतीक बन जायेगा। यहाँ तक कि यह एक प्रतीकात्मक (या मिथक) तंत्र का अंग तक बन सकता है। जे० एच० विकस्टीड ने ब्लेक के **'साँग आफ इन्नोसेन्स और आफ एक्सपीरियन्स** के विषय में लिखा है: 'इनमें' **असली प्रतीक-विधान**

का अपेक्षाकृत कम प्रयोग हुआ है परन्तु प्रतीकात्मक रूप विधान का निरन्तर और प्रचुर प्रयोग हुआ है। येट्स ने शैले की कविता में 'प्रमुख प्रतीकों' पर बहुत पहले एक लेख लिखा था। "उनकी कविता में ऐसे अनगिनत बिम्बों के अतिरिक्त, जिनमें प्रतीकों की निश्चयात्मकता (स्थिरता ?) नहीं है, ऐसे बहुत से बिम्ब मिलते हैं जो निश्चित रूप में प्रतीक हैं, और ज्यों-ज्यों वर्ष बीतते गये, वह इनका प्रयोग अधिक आयासपूर्वक प्रतीकात्मक रूप में करते गये। ऐसे बिम्ब जैसे कन्दराएँ और बुर्ज।

बहुत अधिक आवृत्ति का परिणाम यह होता है कि किसी लेखक की आरम्भिक कृति में जो अवगम या प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है, वह बाद की कृति में प्रतीक बन जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि हेनरी जेम्स जहाँ अपने आरंभिक उपन्यासों में बड़े श्रम से स्थानों और व्यक्तियों की एक-एक बारीकी को चित्रित करते हैं, वहाँ अपने बाद के उपन्यासों में सभी बिम्ब रूपकात्मक या प्रतीकात्मक हो जाते हैं।

जब कभी काव्यात्मक प्रतीक-विधान की चर्चा होती है आधुनिक कवियों के 'निजी प्रतीक-विधान' और प्राचीन कवियों के ऐसे प्रतीक विधान के बीच जिन्हें बहुत अधिक लोग समझ लेते हैं, फर्क करने की संभावना उपस्थित हो जाती है। पहले यह मुहावरा एक आरोप के रूप में प्रयुक्त हुआ था; लेकिन काव्यात्मक प्रतीक विधान के प्रति हमारी भावना और प्रवृत्ति बिल्कुल परस्पर-विरोधी बनी हुई है। यदि 'परम्परागत' या 'रूढ़' के विरोध में हम अपनी इस आकांक्षा को रचें कि कविता सदा नई और विस्मयकारिणी होनी चाहिए तो 'निजी' का विकल्प क्या होगा, इसे शब्दों में बाँध पाना कठिन होगा। 'निजी प्रतीक विधान' का अर्थ है एक प्रणाली और कोई सतर्क अध्येता उसी तरह किसी 'निजी बिम्ब विधान' का अर्थ-विश्लेषण कर सकता है जैसे कोई संकेत-लिपि लिखनेवाला व्यक्ति किसी अपरिचित सन्देश को स्पष्ट पढ़ सकता है। अनेक निजी पद्धतियों में (जैसे ब्लेक और येट्स की) प्रतीक पम्परा का काफी अंश पाया जाता है, हालांकि इनमें बहुत व्यापक और प्रचलित प्रयोग नहीं पाये जाते।

'निजी प्रतीक विधान' और 'परम्परागत प्रतीक विधान, से आगे बढ़ने पर, दूसरे छोर पर सार्वजनिक 'प्राकृतिक' प्रतीक विधान है जिसकी अपनी कठिनाइयाँ हैं। फ्रास्ट की कविताओं में, यहाँ तक कि इनमें से कुछ उत्कृष्टतम कविताओं में भी प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग किया गया है जिनके संदर्भों को हम

नियन्त्रण में रखने में असमर्थ रहते हैं। इस प्रसंग में हमें 'द रोड नाट टेकेन', 'वाल्स' (दीवारें) 'द माउण्टेन' (पहाड़) का ध्यान हो आता है। 'स्टपिंग बाइ वुड्स' (जंगल के किनारे पड़ाव) कविता में 'माइल्स टु गो बिफोर आई स्लीप' (नींद के पहले मीलों की दूरी तय करनी है) को तो हम किसी यात्री के विषय में अक्षरशः सत्य मान लेते हैं; परन्तु प्राकृतिक प्रतीक-विधान की भाषा में 'नींद' का अर्थ 'मृत्यु' है; और यदि 'जंगल सुन्दर, अँधेरा और गहरा है' (जिसमें से तीनों विशेषण प्रशंसात्मक हैं) को 'वायदे निभाने हैं' के नैतिक और सामाजिक प्रतिबन्ध के मुकाबले में रखकर देखें तो इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इसमें प्रासंगिक रूप में इस काव्यात्मक चिन्तन को एक उत्तरदायी व्यक्ति की तरह मरने के रूप में प्रस्तुत किया गया है, हालांकि इस बात पर बहुत बल नहीं दिया गया है। फ्रास्ट की कविताओं में किसी भी ऐसे व्यक्ति को जो कविता का नियमित पाठक है, किसी तरह की भ्रान्ति नहीं हो सकती—लेकिन फ्रास्ट के प्राकृतिक प्रतीक-विधान के कारण उनकी कविता के पाठकों की संख्या बहुत अधिक रही है, जिनमें से कुछ लोग प्रतीक समझ लेने के बाद प्राकृतिक प्रतीकों से और उनके सहायक उपकरणों पर बहुत अधिक निर्भर हो जाते हैं, जिससे उनकी अनेक व्यंजनाओं से भरी उक्तियों में एक स्थिरता और कठोरता आ जाती है जो काव्यात्मक उक्तियों और विशेषतः समकालीन काव्यात्मक उक्तियों में देखने में नहीं आती।

हमारे शीर्षक का चौथा शब्द है 'मिथ' जिसका प्रयोग अरस्तू के पोएटिक्स (काव्यशास्त्र) में कथानक, कथाबन्ध, 'गल्पकथा' के रूप में हुआ है। इसका विलोम और पूरक शब्द है 'लोगस' (तर्क)। तार्किक संलाप, या विवृति के विपरीत, 'मिथ' आख्यानात्मक होता है, कथा होता है; व्यवस्थित दार्शनिकता के विपरीत यह भावुकतापूर्ण और अन्तःप्रज्ञा से सम्बद्ध भी होता है—सुकरात की तर्कशीलता के विपरीत, यह एस्कलीज़ की त्रासदी होता है।

'मिथ', जो आधुनिक आलोचकों का एक प्रिय शब्द है, अर्थ के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र की ओर संकेत करता है, जिसके अन्तर्गत धर्म, लोकसाहित्य, मानव विज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविश्लेषण तथा ललित कलाएँ सब आ जाते हैं। जिन शब्दों का इसको विपरीतार्थक माना जाता है, ये हैं 'इतिहास', 'विज्ञान', 'दर्शन', 'ऐलीगरी', या 'सत्य'।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में, बुद्धिवाद के युग में, इस शब्द से प्रायः एक ह्रास का भाव व्यक्त होता था—'मिथ' को एक ऐसी कपोल कल्पना

माना जाता था जो वैज्ञानिक या ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य हो। परंतु वाइसो के नवविज्ञान में ही यह अर्थ बदल गया और इसी अर्थ को जर्मन स्वच्छन्दतावादी, कोलरिज, एमर्सन और नीत्शे आदि मानते आये हैं, और यही अर्थ धीरे-धीरे प्रमुख हो गया। इसके अनुसार 'मिथ' कविता की तरह एक तरह का सत्य या सत्य का समकक्षी है, यह ऐतिहासिक या वैज्ञानिक सत्य का प्रतिस्पर्धी नहीं है अपितु उसका पूरक है।

ऐतिहासिक दृष्टि से 'मिथ' शब्द धार्मिक अनुष्ठान से पैदा हुआ है और उससे जुड़ा हुआ है, यह धार्मिक अनुष्ठान का उच्चरित अंश है; वह कथा जिसको "धार्मिक अनुष्ठान में कार्यान्वित किया जाता है। धार्मिक अनुष्ठान का सम्पादन कोई समाज अपने पुरोहित से किसी अनिष्ट के निवारण और इष्ट की सिद्धि के लिए कराता है, यह एक ऐसा 'कृत्य' है जो निरन्तर और स्थायी रूप से आवश्यक समझा जाता है जैसे खेती की कटाई और मानव उर्वरता, जैसे किसी नौजवान की अपने समाज की संस्कृति में दीक्षा और मृत व्यक्तियों के लिए एक उपयुक्त व्यवस्था। परन्तु व्यापक अर्थ में 'मिथ' का अर्थ है गुमनाम ढंग से रची गयी कहानियाँ, जिनमें सृष्टि के उद्भव और नियति का वर्णन किया गया है; वह कैफियत जो कोई समाज अपने बच्चों को इस विषय में देता है कि यह विश्व क्यों बना है, हम जो कुछ करते हैं वही क्यों करते हैं। इसका अर्थ है प्रकृति और मनुष्य की नियति के विषय में इसके शिक्षणीय बिम्ब।

साहित्यिक सिद्धान्त के लिए इसके महत्वपूर्ण अभिप्राय संभवतः ये हैं : बिम्ब या चित्र, सामाजिक, अति-प्राकृतिक (या अप्रकृतिवादी या अतर्क्य) तत्व, आख्यान या कहानी, आद्य या सार्वभौम तत्व, हमारे कालातीत आदर्शों का कालबद्ध प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण, कार्यक्रम सृष्टि या प्रलय या रहस्य का तत्व। समकालीन चिन्तन में 'मिथ' के प्रति किसी की रुचि मुख्यतः इनमें से किसी भी पक्ष को लेकर हो सकती है। सोरेल सारे संसार के मजदूरों की 'आम हड़ताल' को "मिथ" कहता है जिसका अर्थ यह है कि यह आदर्श कभी ऐतिहासिक तथ्य तो नहीं बन सकता पर मजदूरों को प्रेरणा देने के लिए इसे भविष्य की ऐतिहासिक घटना के रूप में पेश किया जाना चाहिए; मिथ कार्यक्रम है। इस प्रकार जिसकी परिधि दूसरों तक भी पहुँच सकती है। इस तरह नीबुर ईसाई प्रलय और ईसा के पुनरागमन को (हस्र) को रहस्यवादी बताते हैं। इसमें ईसा के दुबारा आने और हस्र के दिन में कुछ जो वर्तमान, स्थायी, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य हैं उन्हीं को भावी इतिहास के रूप में

दिखाया गया है। यदि 'मिथक' का विलोम विज्ञान या दर्शन किसी को भी माना जाए तो यह मानना होगा कि यह चित्रित किए जा सकने वाले ठोस तत्वों का समर्थक और तर्कयुक्त अमूर्तता का विरोधी है। सामान्य रूप से भी साहित्यिक सिद्धान्तकार और पक्षधर अपना प्रधान विरोध इस रूप में प्रकट करते हैं कि मिथ सामाजिक, गुमनाम और जातीय होती है। आधुनिक युग में हम किसी मिथ के रचयिताओं को पहचानने में समर्थ हो सकते हैं जैसा कि कुछ रचयिताओं को पहचानने में समर्थ हो भी चुके हैं; परन्तु यदि इसकी रचना करने वाले को भुला दिया जाये, आम तौर से लोग उसे न जानते हों, या कभी-कभी जिसकी प्रामाणिकता का पता लगाना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता, यदि इसे समाज स्वीकार करता है, इसे धार्मिक विश्वास रखने वाले लोगों की स्वीकृति प्राप्त है, तो इसकी मिथ की हैसियत बनी रहेगी ।

इस शब्द का अर्थ निश्चित कर पाना आसान नहीं है: यह एक 'अर्थ क्षेत्र' की ओर संकेत करता है। हम सुनते हैं कि कवि और चित्रकार 'मिथ' की तलाश करते रहते हैं। हमें प्रगति या लोकतंत्र के 'मिथ' की बातें सुनने में आती हैं। हम सुनते हैं कि 'विश्व साहित्य में मिथ को पुनः स्थान दिया जाने लगा है, लेकिन साथ ही यह भी सुनने में आता है कि न तो मिथ की रचना की जा सकती है न मिथ में विश्वास किया जा सकता है, न किसी से इस पर विश्वास ही कराया जा सकता है। पुस्तकों ने मिथ का और महानगरों तथा बहुजातीय समाज ने नगर-राज्यों का स्थान ले लिया है।

क्या आधुनिक मनुष्य में माइथोलोजी या परस्पर सम्बद्ध मिथों का अभाव है? तीत्शे का दृष्टिकोण है कि सुकरात, सोफिस्टों (तर्कशास्त्रियों) यानी 'बुद्धिजीवियों' ने ग्रीक 'संस्कृति' के जीवन को नष्ट कर दिया था। इसी तरह यह तर्क दिया जा सकता है कि बौद्धिक जागरण ने ईसाई पुराणकथाओं को नष्ट कर दिया था या इसके विनाश का आरम्भ कर दिया था। परन्तु दूसरे लेखक सोचते हैं कि आधुनिक मनुष्य के भी अपने मिथ हैं, पर वे मिथ उथले, अपर्याप्त या शायद मिथ्या मिथ हैं, जैसे 'प्रगति' या 'समानता' या 'सार्वभौम शिक्षा' या स्वास्थ्य विषयक या आम रूप से प्रचलित लोक-कल्याण के मिथ, जिनका बहुत विज्ञापन किया जाता है। इन दोनों अवधारणाओं के बीच समानता इस अंश में पायी जाती है (जो संभवतः सच भी है) कि जब-जब 'आधुनिकता' पुराने, दीर्घ अनुभव पर आधारित जीवन की रीतियों (अनुष्ठान और उनके लगे जुड़े-हुए मिथ) को विघटित कर देती है तो अधिकांश लोग (या कहें सभी)

निरुपाय हो जाते हैं; चूंकि मनुष्य केवल अमूर्त संकल्पनाओं के सहारे नहीं जी सकता, अतः वे अपनी खिन्नता को अधकचरे, तुरत गढ़े विच्छिन्न मिथों (जो कुछ होना है या होना चाहिए उसकी तस्वीर है) से करते हैं। यह कहना कि कल्पना-जीवी लेखक को समाज में अपनी कलाकार की हैसियत बनाये रखने के लिए मिथ की आवश्यकता रहती है, इस बात का चिह्न है कि कलाकार अपने समाज के संसर्ग में बने रहने की बहुत तीव्र आवश्यकता महसूस करता है। फ्रांस के बिम्बवादियों ने समाज से एक अलगाव जान-बूझकर बना लिया था, वे विशेषज्ञ संन्यासी बन गए थे। उनका विश्वास था कि कलाकार को अपनी कला के वाणिज्यिक व्यभिचार और कलागत शुद्धता और अलगाव के बीच से एक को चुन लेना होगा। परन्तु येट्स, जिनके मन में मलार्मे के प्रति गहरी श्रद्धा थी, आयरलैंड से अपने को जोड़ने की आवश्यकता अनुभव करते थे, अतः उन्होंने बाद के आरलैंड की अपनी निजी रहस्यवादी व्याख्या की और इसकी परम्परागत केल्ट पुराणकथाओं को इसमें मिला कर इसे एक नया रूप दिया, जिसमें उन्होंने आगस्टन ऐंग्लो-आयरिश (स्विफ्ट, बर्कली और बर्क) व्यक्तियों का उतना ही स्वच्छन्द विवेचन किया है जैसे वैशेल लिंडसे ने अपनी कल्पना से अमरीकी नायकों का विवेचन किया था।

अनेक लेखकों की दृष्टि में तो कविता और धर्म के बीच एक ही चीज उभयनिष्ठ है और यह है 'मिथ'। बेशक, इसके साथ-ही-साथ एक आधुनिक दृष्टिकोण भी है (जिसका प्रतिनिधित्व मैथ्यू अर्नाल्ड और आई० ए० रिचर्ड्स करते हैं) कि कविता धीरे-धीरे अतिप्राकृतिक धर्म का स्थान ग्रहण करती चली जाएगी जिसमें आधुनिक बुद्धिजीवियों का विश्वास नहीं रह जाएगा। लेकिन संभवतः इससे अधिक प्रबल तर्क इस दृष्टिकोण के समर्थन में दिया जा सकता है कि कविता बहुत अधिक दिनों तक धर्म का स्थान नहीं ले सकती क्योंकि संभवतः इसका अन्त धर्म से पहले ही हो जाएगा। धर्म एक बड़ा रहस्य है; कविता छोटा रहस्य है। धार्मिक मिथ (पुराणकथाएँ) कविकृत रूपक की बहुत व्यापक स्वीकृति है। फिलिप व्हीलराइट ने इस बात का प्रतिरोध करते हुए कि पाजिटिविस्ट (प्रत्यक्षवादी) 'धार्मिक सत्य और कविकृत सत्य को मिथ कहकर उड़ा देते हैं, यह दावा किया है कि इसको इस अर्थ में न लेकर इनको धर्म और मिथ की मिली-जुली दृष्टि से देखना चाहिए। अंग्रेजी में इसी के एक पुराने समर्थक जॉन डेनिस हुए हैं और अभी कुछ दिन पहले इसका समर्थन करने वाले रहे हैं आर्थर मैकेन।

पुराने साहित्य अध्येताओं पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि वे बिम्ब, रूपक, प्रतीक और मिथ इस पूरी लड़ी को केवल बाह्य और सतही दृष्टि से देखते रहे हैं। चूंकि अधिकांशतः इन्हें सजावटी अलंकार माना जाता रहा है, अतः इनका अध्ययन कुछ इस प्रकार किया जाता रहा है मानो ये ऐसे तत्व हों जिन्हें उस रचना से अलग लिया जा सकता हो जिसमें वे पाये जाते हैं। दूसरी ओर हमारे दृष्टिकोण से साहित्य का अर्थ और प्रयोजन मुख्यतः रूपक और मिथ में ही होता है। रूपकात्मक और मिथक चिन्तन रूपकों के माध्यम से सोचने जैसी, काव्यात्मक आख्यान या अन्तर्दृष्टि से सोचने जैसी भी एक चीज होती है। ये सभी शब्द हमारा ध्यान किसी साहित्यिक कलाकृति के ऐसे पक्ष की ओर खींचते हैं जो 'रूप' और 'वस्तु' की पुरानी खाई के बीच सेतु का काम करता है, इन्हें एक में मिलाते हैं। ये शब्द दोनों दिशाओं की ओर संकेत करते हैं, अर्थात् इनसे यह जाहिर होता है कि कविता को एक ओर तो 'चित्र' और 'जगत' अपनी ओर खींचते हैं, दूसरी ओर धर्म तथा जीवन-दर्शन (वेल्टनस्का-उंग) अपनी ओर खींचते हैं। इनके अध्ययन की आधुनिक पद्धतियों का सर्वेक्षण करते समय हम इस तनाव को महसूस कर सकते हैं। चूंकि पुरानी पद्धतियां इन्हें सौन्दर्य का साधन मानती थीं (हालांकि इनको वे अन्त तक ललकार मानती रही हैं), आज इसकी प्रतिक्रिया में जीवन-दर्शन पर बहुत अधिक बल दिया जाने लगा है। जहाँ स्काच अलंकारशास्त्री नव्य-कलासिकी युग के अन्त में लिखते हुए स्वभावतः ही सोचते थे कि रूपक और उपमाएँ सोच-समझ कर स्वेच्छा से चुनी जाती हैं, वहाँ आज का विश्लेषक फ्रायड को प्रमाण बनाकर समस्त बिम्बों को अचेतन का प्रकाशन करने वाला मान सकता है। एक ओर अलंकारवादियों के विवेचन से, और दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक जीवनी और 'सन्देश की खोज' से बचने के लिए बहुत अच्छे सन्तुलन की आवश्यकता है।

साहित्यिक अध्ययन के पिछले पच्चीस वर्षों में व्यवहार और सिद्धान्त दोनों दृष्टियों से काम किये गये हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो हमने अलंकार भेद और खास तौर से काव्यात्मक बिम्ब-विधान के भेद करने के प्रयास किये हैं और साथ ही हमने विशेष कवियों या कृतियों (शेक्सपियर इस दृष्टि से बहुत लोकप्रिय रहे हैं) के बिम्ब-विधान पर प्रबन्ध और लेख लिखे हैं। 'व्यावहारिक आलोचना' के हिमायती बहुत उत्साह से अपना काम करते रहे हैं, परन्तु अब कुछ बहुत उत्कृष्ट सैद्धान्तिक और पद्धतिजन्य लेख देखने में आते

हैं जिनमें उक्त पद्धति पर अमल करने वाले आलोचकों की किंचित अत्यन्त सरल मान्यताओं की छानबीन की गई है।

अलंकारों के बहुत सूक्ष्म भेदोपभेदों को—इसके विभाजन की सबसे लम्बी तालिका में दो सौ पचास अलंकारों के नाम दिये गये हैं—दो या तीन श्रेणियों में सीमित करने के अनेक प्रयास किये गये हैं। 'स्कीम' और 'ट्रोप' इन्हीं में से एक हैं जिनमें अलंकारों को ध्वन्यात्मक अलंकारों (साउण्ड फिगर्स) और 'ऐन्द्रिय अलंकारों (सेन्स फिगर्स) में विभाजित किया गया है। एक दूसरे वर्गीकरण में 'शब्दालंकारों' को 'अर्थलंकारों' से पृथक् किया गया है। इन दोनों विभाजनों में यह दोष पाया जाता है कि इनमें एक बाहरी या सबसे बाहरवाले ढाँचे का संकेत मिलता है, जिसमें अभिव्यंजना तत्व का अभाव है। इस प्रकार किसी भी परम्परागत प्रणाली में तुक (राइम) और अनुप्रास (एलिटरेशन) दोनों ध्वनि योजना पर आधारित होते हैं, ये शब्दालंकार हैं; परन्तु इसके बावजूद, आरंभ की तुक और अन्त की तुक, दोनों एक पंक्ति के अर्थ को दूसरी पंक्ति के अर्थ से जोड़ने का काम करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के लोग श्लेष को 'शब्दों का खेल' या 'अधम कोटि का चमत्कार' कहते थे; अठारहवीं शताब्दी में एडिसन ने पहले ही इसे 'नकली चमत्कार' की श्रेणी में रख दिया था। लेकिन बैरक कवि तथा आधुनिक कवि विचारों के दुहराव के लिए, एक होमोफोन (समध्वनि) या 'होमोनिम (द्वयर्थक) के रूप में, एक सोद्देश्य द्वयर्थकता के लिए इसका गंभीरता से प्रयोग करते हैं।

स्कीम को अलग रख दें तो हम कविता की ट्रोपों को पूरे औचित्य के साथ सामीप्य के अलंकारों और साम्य के अलंकारों में बाँट सकते हैं।

सामीप्य के परम्परागत अलंकार मेटानिमी और सिनेकडाक आते हैं। इनसे जो सम्बन्ध प्रकट होते हैं, उनका तार्किक या मात्रागत रूप में विश्लेषण किया जा सकता है—कार्य के लिए कारण, या इसके विपरीत आधेय के लिए आधार; वस्तु के लिए गुण का प्रयोग। सिनेकडाक में अलंकार और अलंकार्य के बीच सम्बन्ध आन्तरिक माने जाते हैं। हमारे सामने किसी चीज़ का एक नमूना, पूरे के लिए अंश, सामान्य के लिए विशेष, अपने रूप या उपयोग के लिए पदार्थ पेश किया जाता है।

शर्ली के प्रसिद्ध अंश में जो परम्परागत मेटानिमी अलंकार का दृष्टान्त माना जाता है रूढ़ सज्जा—औजार या उपकरण—सामाजिक वर्गों के लिए प्रयुक्त हुए हैं :

राजदण्ड और मुकुट लुढ़क जायेंगे
और धूल में मिलकर
दीन हँसिये और फावड़े से एकाकार हो जायेंगे।

मेटानिमी गत विशेषण विपर्यय की एक अधिक विलक्षण शैलीगत विशेषता वर्जिल, स्पेंसर, मिल्टन, ग्रे और क्लासिकी कलावादी कवियों में देखने में आती है: "सैन्सफ्वाय का मृत दहेज", जिसमें पात्र के विशेषण को पदार्थ से जोड़ दिया जाता है। ग्रे की पंक्ति 'झनकती हुई झपकी' और मिल्टन की पंक्ति 'आनन्दित घण्टियाँ' में विशेषण क्रमशः झपकी लेने वाले व्यक्ति और घंटी बजाने वाले व्यक्ति की ओर संकेत करते हैं। मिल्टन द्वारा भूरी मक्खी के 'अपनी खिन्न मूँछ मोड़ने' का चित्रण गर्मी की शाम की याद दिलाता है, जिसके साथ भूरी मक्खियों की भन्नाहट की याद जुड़ी रहती है। ऐसे सभी मामलों में जिनका दृष्टान्त ऊपर सन्दर्भ से काटकर दिया गया है, एक दूसरे अध्यात्मवादी ढंग के पाठ की संभावना रहती है। इन दोनों में भेद यह है कि एक में तो साहचर्य का तर्क काम करता है और दूसरे में इसके स्थान पर, यह निरन्तर व्यक्तिकरण (परसनलाइजेशन) के रूप में प्रयुक्त होती है।

भक्ति काव्य, चाहे यह कैथोलिक हो या इवांजेलिकल, पहली झलक में अनिवार्य रूप से रूपकात्मक प्रतीत होता है, और इसमें प्रमुख तत्व यही है भी। परन्तु नव्य-क्लासिकी भजन-लेखक डा० वाट्स मेटानिमी से एक प्रेरक और शानदार प्रभाव पैदा करते हैं:

जब मैं इस अद्भुत क्रूस की ओर देखता हूँ
जिस पर हमारे गौरव के राजकुमार मरे थे,
मुझे अपना बड़ा से बड़ा लाभ एक घाटा मालूम होता है
और मैं अपने अहंकार पर घृणा उँडेलता हूँ।
मैं उनके सिर, पार्श्व और हाथों को निहारता हूँ।
पीड़ा और प्रेम एक दूसरे में मिले नीचे टपक रहे हैं,
क्या कभी पीड़ा और प्रेम का ऐसा मिलन हुआ था,
या काँटों से कभी ऐसा बढ़िया ताज बना था?

किसी दूसरे युग की शैली में प्रशिक्षित कोई पाठक इस बात को लक्ष्य किये बिना ही कि 'पीड़ा' और 'प्रेम' यहाँ 'पानी और 'खून' के स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं, इस प्रार्थना को सुन सकता है। वह प्रेम के लिए मरे थे, उनका प्रेम ही कारण है; खून उसका परिणाम है। सत्रहवीं शताब्दी में 'घृणा उँडेलता हूँ', से एक

चाक्षुष रूपक ध्वनित होता था, लेकिन फिर इससे भी आगे इस रूपक का अर्थ संभवतः यह है कि मेरे अहंकार की आग घृणा पात्र के उलटने से बुझ जाती है; परन्तु 'उँडेलता' हूँ यहाँ पर अपने अर्थ को भी तीखा बनाता है—मैं अपने अहंकार से बेहद घृणा करता हूँ।

जो भी हो, ये शब्द के बहुत सीमित और संकीर्ण प्रयोग हैं। अभी हाल में साहित्यिक रूप में मेटोनिमी के कुछ बहुत नये अर्थ किये गये हैं, यहाँ तक कि यह भी माना गया है कि मेटानिमी और रूपक दो प्रकार की कविताओं की विशेषताएँ हो सकते हैं—सामीप्य के एक ही व्यापार जगत में होने वाली गति-विधि के साहचर्य की कविता, और अनेक लोकों को जोड़ने वाले, बुलर की शब्दावली में अनेक व्यापार-क्षेत्रों को आपस में मिलाकर एकरस करने वाले सादृश्य पर आधारित साहचर्य का काव्य।

डी० एस० मिर्स्की ने ह्विटमैन पर एक बहुत ओजस्वी आलोचनात्मक विवेचन में लिखा है:

'सांग आफ द ब्राड ऐक्स' के अलग-अलग खण्डित बिम्ब मेटोनिमिक बिम्बों की एक अनन्त लड़ी सी तैयार करते हैं, ये लोकतांत्रिक रचनात्मकता का निर्माण करने वाले तत्वों के उदाहरण हैं, नमूने हैं।

ह्विटमैन की आम काव्य पद्धति की विशिष्टता यह मानी जा सकती है कि इसमें कुछ बहुत व्यापक और समानान्तर श्रेणियों को विश्लेषण से दूसरों तक पहुँचा दिया गया है। 'सांग आफ माईसेल्फ' जैसे अपने सादृश्यमूलक गीतों में उनकी ब्योरे देने, विशिष्टता दर्शाने, खण्ड को एक पूर्ण के खण्ड रूप में प्रस्तुत करने की लालसा प्रधान है। लम्बी सूचियाँ गिनाने के प्रति अपने सारे मोह के बावजूद, वह सच कहें तो बहुत्ववादी या व्यक्तिवादी नहीं है अपितु सर्वात्मवादी अद्वैतवादी हैं। और उनके नाम गिनाने का समग्र प्रभाव जटिलता नहीं है बल्कि सादगी है। सबसे पहले वह अपनी श्रेणियाँ निश्चित करते हैं और उसके बाद उनके एक पर एक दृष्टान्त रखते जाते हैं।

रूपक ने, जिसकी ओर काव्य के सिद्धान्तकार और अलंकारवादी अरस्तू के समय से ही ध्यान देते रहे हैं, पिछले कुछ वर्षों में भाषाशास्त्रियों का भी बहुत अधिक ध्यान आकृष्ट किया है। रिचर्ड्स ने रूपक को किसी भाषा का एक बेजोड़ और अपरिहार्य स्रोत माना है और इसे सामान्य भाषा से विचलन मानने का बहुत उग्र विरोध किया है। कुर्सी का 'पैर', पर्वत के 'पादभाग' और बोतल की 'गर्दन' ये सभी मानव शरीर के अंगों के सादृश्य के आधार पर

बेजान पदार्थों पर भी लागू होते हैं। परन्तु इनको भाषा में पचा लिया गया है और अब ये साहित्यिक और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से संवेदनशील लोगों को भी सामान्यतः रूपक जैसे नहीं मालूम होते। ये 'जर्जर,' 'मुरझाये हुए' या 'मृत' रूपक हैं।

उस रूपक को जिसे 'भाषा' का सर्वव्यापी तत्त्व (रिचर्ड्स) माना जाता है, हमें विशिष्ट काव्यात्मक रूपक से अलग करना होगा। जार्ज कैम्पबेता ने पहले को 'वैयाकरणों' के ऊपर छोड़ दिया है, और दूसरे को 'अलंकारवादियों' को सौंप दिया है। वैयाकरण शब्दों को व्युत्पत्तियों से परखते हैं; अलंकारवादी इस बात से परखते हैं कि वह श्रोताओं पर रूपक का असर पैदा करता है या नहीं।' वुण्ट मेज के 'पाये' या पहाड़ के 'पाद भाग' जैसे भाषागत 'विपर्यासों' को रूपक मानने से इन्कार करते हैं। उनके अनुसार, सच्चे रूपक का यह लक्षण होता है कि इसका प्रयोग करनेवाला एक भावात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सोच समझकर और निश्चित इरादे से इसका प्रयोग करता है। एच० कॉनराड 'भाषाई' रूपक का 'सौन्दर्यात्मक, रूपक से विरोध दिखाते हुए कहते हैं कि पहला (जैसे मेज का पाया) वस्तु के एक सबसे प्रकट लक्षण को उभारकर रखता है जब कि दूसरे की कल्पना वस्तु का एक नया प्रभाव उत्पन्न करने के लिए, 'इसे एक नये परिवेश से आच्छादित करने के लिए' की जाती है।

जिन मामलों में वर्गीकरण करना कठिन होता है, उनमें संभवतः सबसे महत्वपूर्ण है किसी साहित्यिक सम्प्रदाय या पीढ़ी में समान प्रयोग में आनेवाले सभी लेखकों द्वारा प्रयोग में लाये जानेवाले सौन्दर्यात्मक रूपक। इसके उदाहरण हैं 'बोन हाउस' (हड्डी का घर), 'स्वान-रोड' (हंसपथ), 'वर्ड-होर्ड' (शब्दों के लोभी) और पुराने अंग्रेजी कवियों के ऐसे ही दूसरे रूढ़ प्रयोग; होमर के 'स्थिर-रूपक' जैसे 'गुलाबी उँगलियोंवाला प्रभात' (जिसका प्रयोग **ईलियड** के प्रथम भाग में सत्ताइस बार किया गया है) एलिजबेथ युगीन 'मोती से दाँत', 'फीरोजी होंठ', 'हाथी दाँत की ग्रीवा', 'चाँदी की नदियाँ', 'मरकत मणि से मैदान'। आधुनिक पाठकों को इनमें से कुछ (विशेषतः ऐंग्लो-सैक्सन प्रयोग) साहसिक और काव्यात्मक प्रतीत होते हैं, जब कि शेष में से अधिकांश बासी और पुराने लगते हैं। किसी अपरिचित परम्परा के पहले उदाहरणों को कोई व्यक्ति निश्चय ही बिना किसी औचित्य के मौलिक मान सकता है। सचाई तो यह है कि किसी भाषा के व्युत्पत्ति गत रूपक, जिन्हें उस भाषा के लोग महसूस नहीं कर पाते, किसी विश्लेषण-संवेदी विदेशी को किसी कवि की अपनी काव्यात्मक उपलब्धि

प्रतीत हो सकते हैं। किसी विशेष कवि ने किस सीमा तक अपने रूपकों का प्रयोग किया है, इसे समझने के लिए उस भाषा और साहित्यिक रूढ़ियों को अच्छी तरह समझना आवश्यक होता है। पुरानी अंग्रेजी कविता में 'बोन हाउस' और 'बर्ड-होर्ड' निःसन्देह होमर के 'पंखिल शब्द' की तरह के प्रयोग हैं। ये कवि-शिक्षा का ही अंग हैं और ये अपने श्रोताओं को अपनी परम्परावादिता, काव्य की पेशेवर, संस्कारजन्य भाषा की सम्पत्ति होने के कारण आनन्द देते हैं।

हमारे युग में जिसमें हर चीज की उत्पत्ति की छानबीन करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, भाषा के एक तत्त्व और अन्तर्दृष्टि तथा कार्य-व्यापार की साहित्यिक विधि, इन दोनों ही रूपों में रूपक की उत्पत्ति की ओर ध्यान देना स्वाभाविक ही था। 'मानव विकास का इतिहास अपने जातीय विकासक्रम को दुहराता है' और दूसरी ओर, हमें यह विश्वास है कि आदिम समाजों और बालकों का विश्लेषणात्मक प्रेक्षण करते रहें तो हम प्रोगैतिहासिक संस्कृति का इतिहास तैयार कर सकते हैं। हीन्ज वर्नर के मतानुसार, रूपक केवल उन्हीं आदिम समाजों में सक्रिय रूप लेता है जिनमें 'टेबू' (वर्जनाएँ) अर्थात् वे वस्तुएँ हों जिनका अपना नाम नहीं लिया जा सकता। ऐसे अवसर पर हमारा ध्यान तत्काल यहूदियों की रूपक गढ़ने की प्रतिभा की ओर चला जाता है जिन्होंने अपने केवल (जावेह) को, जिनका नाम नहीं लिया जा सकता, चट्टान की, सूरज की, सिंह की और ऐसी ही दूसरी उपमाएँ दी थीं और फिर हमारे अपने समाज में अप्रिय और दुखद प्रसंगों को कुछ सह्य ढंग से कहने (जैसे मरने के लिए गुजरना, या स्वर्गवास) की प्रथा की ओर चला जाता है। लेकिन इतना तो साफ है कि तीक्ष्ण आवश्यकता ही आविष्कार की जननी नहीं हुआ करती। हम ऐसी बातों को भी रूपकों में प्रस्तुत करते हैं जिनसे हमें प्रेम होता है, जिसे हम अपने से चिपका रखना चाहते हैं, जिस पर देर तक गुनते रहना चाहते हैं, जिसे हर पहलू से, हर रंग में, सभी सदृश वस्तुओं के विशेषीकृत फोकस में झलका कर देखना चाहते हैं।

यदि हम भाषा और अनुष्ठान से प्रेरित रूपकों से काव्यगत रूपकों के विकास की मीमांसा की ओर बढ़ें तो हमें इससे कहीं बहुत अधिक बातों को—कल्पना-प्रधान साहित्य के पूरे कार्य-व्यापार को—इसमें सम्मिलित करना होगा। रूपक की संकल्पना को जो चार मूल तत्व माने गये हैं वे हैं सादृश्य; दुहरी दृष्टि; ऐन्द्रिय बिम्ब, अदृश्य का प्रकाशन करनेवाले; और अतीन्द्रिय मनोदृष्टि। ये चारों तत्व कहीं समान अनुपात में नहीं उपस्थित होते: हर देश और काल की

अपनी अभिवृत्तियाँ अलग-अलग हुआ करती हैं। एक सिद्धान्तकार के अनुसार ग्रीक और रोमन रूपकों की प्रवृत्ति लगभग सादृश्य तक (एक तार्किक साम्य तक) सीमित है जब कि बिम्ब-रूपक स्पष्टतः ट्यूटन काल का अलंकार है। इस तरह संस्कृतियों की तुलना करते समय इटालवी और फ्रेंच कविता की ओर, विशेषतः वाल्तेयर और रिम्बो से लेकर वेलरी तक के कवियों का बहुत कम ध्यान रखा गया है। इससे भी अच्छी तुलना अलग-अलग कालों और प्रभावशाली जीवनदर्शनों के बीच की जा सकती है।

प्रत्येक काल की शैली के अपने विशेष अलंकार होते हैं, रूपक जैसे किसी अलंकार के मामले में प्रत्येक काल की रूपकविधान की अपनी विशिष्ट पद्धति होती है। उदाहरण के लिए नव्यक्लासिकी कविता की विशेषता हैं उपमा, पेरीफ्रेसिस (वक्रोक्ति), अलंकारिक एपिथेट (जिसमें वस्तु के लिए गुण या विशेषण का प्रयोग होता है), एपिग्राम (सूक्ति), बैलेन्स (तुल्यगुण), एंटीथीसिस (विरोध)। इनमें दो या तीन ही दृष्टिकोण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, अधिक नहीं। प्रायः तीसरा दृष्टिकोण भी दो घोर विरोधी पहलुओं के बीच में मध्यवर्ती की तरह प्रयुक्त होता है।

बैरक काल का अपना विशिष्ट अलंकार है पैराडौक्स (अन्तर्विरोध), आक्सीमोरोन (विरोधाभास), कैटाक्रेसिस (विपर्यय)। ये ईसाई, रहस्यवादी, बहुत्ववादी अलंकार हैं। सत्य जटिल है। ज्ञान के अनेक रूप हैं और प्रत्येक अपनी जगह पर दुरुस्त है। कुछ तरह के सत्यों को निषेधात्मक रूप में या तोड़-मरोड़ के साथ ही प्रस्तुत किया जा सकता है। ईश्वर को मानवगुणोपेत कहा जा सकता है, क्योंकि उसने मनुष्य की रचना अपनी ही आकृति में ढाल कर की, लेकिन वह परात्पर ब्रह्म भी है। अतः बैरक धर्म में ईश्वर के विषय में सत्य सादृश्य सूचक बिम्बों में (मेमना, दूल्हा) वर्णित किया जा सकता है; इसे वॉन के 'गहरा पर कौंधता अन्धकार' की तरह अन्तर्विरोधी या प्रतिकूल बातों को एक साथ जोड़कर विरोधाभास में भी कहा जा सकता है। नव्यक्लासिकी में स्पष्ट भेद या तर्कसंगत क्रम विकास, व्यक्ति से जाति की ओर साधर्म्य सूचक गति, पसन्द किया जाता है। परन्तु बैरक काल में अनेक लोकों की बात एक साथ की जाती थी और ये सभी लोक अकल्पनीय रूप से एक दूसरे मे जुड़े रहते थे।

नव्य-क्लासिकी काव्य-सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाये तो बैरक काल के अपने विशेष अलंकार कुरुचिपूर्ण हैं, 'उनमें मिथ्या चमत्कार-प्रदर्शन' पाया

जाता है, इनमें या तो किसी प्रकृत या तर्कगम्य बात को मनमाने ढंग से उलटने की चेष्टा की गई है, या केवल बौद्धिक बाजीगरी प्रदर्शित की गई है, जब कि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ये या तो एक बहुत्ववादी प्रमाण मीमांसा या अति प्राकृतिक सत्यविद्या के काव्यालंकारिक अभिव्यंजन हैं।

'कैटाक्रेसिस' (विपर्यय) इसका एक रोचक उदाहरण पेश करता है। सन् १५९९ में जान हास्किन्स ने इस शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'दुष्प्रयोग' किया था और इसकी भर्त्सना करते हुए कहा था, 'अब तो यह आम चलन में आ गया है....' वह इसे एक खींच-तान कर बनायी हुई वाक्य-रचना मानते हैं जो रूपक से भी अधिक खतरनाक है।' वह सिडनी के **आर्केडिया** से एक उदाहरण रखते हैं: "आवाज जो उसके कानों को बहुत सुन्दर लगी", और कहते हैं कि इसमें दृष्टि से सम्बन्धित विषय को जबर्दस्ती कान से जोड़ दिया गया है। पोप ने (आर्ट आफ सिंकिंग, १७२८) 'मो ए बीयर्ड' (दाढ़ी की कटिया करो) और 'शेव द ग्रास" (घास बनाओ) जैसे उदाहरणों को विपर्यय में गिनाया है। जार्ज कैम्पबेल (**फिलासफी आफ रेटरिक**, १७७६) में 'सुन्दर आवाज' और 'आँखों को सुरीला' लगना को विपर्यय का उदाहरण माना है हालाँकि उन्होंने साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि 'हालाँकि मधुर शब्द का सम्बन्ध पहले जिह्वा से था परन्तु अब इसका प्रयोग किसी गन्ध, मेलोडी या सुयोग' के लिए भी किया जा सकता है। उनका विश्वास था कि रूपक में 'संवेदना की वस्तुओं' का उपयोग 'विशुद्ध मनोगम्य वस्तुओं' को सूचित करने के लिए किया जाता है। कैम्पबेल अनेक इन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाले विषयों को दूसरी इन्द्रिय से सम्बन्धित विषयों से जोड़ने की भर्त्सना की है। इसके विपरीत, अभी कुछ दिन पहले हुए एक कैथोलिक अलंकारवादी (बैरक-रोमाण्टिक रुचि के) ने विपर्यय की परिभाषा करते हुए लिखा है कि इसमें दो विरोधी वस्तुओं के बीच साम्य दिखाने की चेष्टा की जाती है। उन्होंने इसके लिए सादृश्य की विशेषताओं का अध्ययन करने पर जोर दिया है और इसके उदाहरण में विक्टर ह्यूगो के कुछ अलंकारों को रखा है।

एक दूसरी तरह का रूपक जो बैरक संवेदना को स्वीकार्य हो सकता था पर नव्य-क्लासिकी मानस को नीरस प्रतीत होता है वह है जिसमें बड़ी चीजों को छोटा करके दिखाया जाता है। हम इसे लाघव सूचक अलंकार कह सकते हैं। बैरक कविता में जिन दो लोकों को एक दूसरे से विशेष रूप से मिलाया जाता है वे हैं प्राकृतिक जगत और मनुष्यकृत शिल्प और कृत्रिमता के लोक। परन्तु

चूंकि नव्य-क्लासिकी में यह माना जाता था कि कला प्रकृति का अनुकरण है, अतः कला में प्रकृति का पर्यवसान इसमें विपरीत और दूषित माना जाता है। उदाहरण के लिए, टामस गिब्बन ने १७६७ में मनमाने सादृश्यों के प्रति चेतावनी देते हुए नीचे लिखा उदाहरण पेश किया था :

"सृष्टि के अनेक भागों के ये रूप उदाहरण हैं: पहाड़ों के उभार, छोटे सागरों की मीनाकारी, विस्तीर्ण महासागरों की मुक्त शिल्पकारी, और चट्टानों का जाली का काम।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नव्य-क्लासिकी कविता में कुछ ऐसे प्रकृति से सम्बन्धित कला-रूपक रह गये हैं, परन्तु वे भी इस स्थिति में कि रूपक निरर्थक विशेषण प्रतीत होते हैं। इसके कुछ नमूने पोप के **पैस्टोरल्स** और **विण्डसर फोरेस्ट** में मिलते हैं : "जाल की उभरती हुई लाली से सागर का दर्पण **चित्रित** हो रहा है" 'लज्जा से लाल फूल पौधे **नीलम** की धरती को रंग रहे हैं। 'परन्तु यह पंक्ति सामान्यतः बिल्कुल स्पष्ट है और सन् १६८१ में ड्राइडेन ने यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं अनुभव किया कि जब वह बच्चे थे तब वह एक बच्चे की तरह सोचते थे कि :

'मुझे याद है कि.....मैं स्पेंसर को, जिसका अनुकरण नहीं किया जा सकता, सिल्वेस्टर की डु वार्टाज की तुलना में एक अधम कवि समझता था और जब मैं इन पंक्तियों को पढ़ता था तो मेरा हृदय आनन्द से भर उठता था :

अब जब जाड़े की ठंडी साँस,
बाल्टिक सागर को निर्मल बनाने,
झीलों पर पानी फेरने, सैलाबों पर लगाम लगाने
और नंगे जंगलों को बर्फ की रोयेंदार टोपी पहनाने को बहने लगी।

तरुण मिलटन्स ने भी डू वार्टाज पढ़ी थी और अपने **नेटिविटी** ओड की अन्तिम पंक्तियों में उन्होंने भी इसी तरह का दर्प प्रकट किया है। ईलियट **'प्रूफ्रौक'** की प्रसिद्ध आरम्भिक पंक्तियों में इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हैं :

जब संन्ध्या किसी मेज पर क्लोरोफार्म से बेहोश रोगी की तरह आकाश पर फैल जाती है—

बैरक काव्य-रीति की विशद सर्वग्राहिता, शुद्धता की अपेक्षा प्राचुर्य, एक-स्वरता की अपेक्षा बहुस्वरता के प्रति प्रेम को ही हम इसके प्रेरक हेतु मानें तो ही इसे क्लासिकी प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह की संज्ञा दी जा सकती है। पर उससे कहीं अधिक विशिष्ट प्रेरक हेतु हैं चौंकाने और ठेस

पहुँचाने की इच्छा; ईसाई अवतारवाद; रोजमर्रा की वस्तुओं से सादृश्य दिखाकर विच्छिन्न वस्तुओं का छात्र-बोध्य परिचय।

अभी तक हम लोग मेटोनिमी (अप्रस्तुत योजना) और रूपक पर विशेष बल देते हुए अलंकरण की प्रकृति पर विचार कर रहे थे; और हम इन अलंकारों की काल-सम्बद्ध शैलीगत प्रकृति दिखा चुके हैं। अब हम रूपकीय बिम्बविधान के अध्ययन की ओर लौटते हैं जो साहित्यिक-ऐतिहासिक न होकर साहित्यिक-आलोचनात्मक है।

रूपकीय बिम्बविधान के विषय में दो सामान्य अध्ययन किये गये हैं, जिनका यहाँ विशेष रूप में उल्लेख जरूरी मालूम होता है। इनमें से एक अध्ययन एक अमरीकी विद्वान् ने और दूसरा एक जर्मन ने किया है।

सन् १९२४ में हेनरी वेल्स ने एक पुस्तक '**पोएटिक इमेजरी**' नाम से प्रकाशित कराई, जिनमें इनका भेद-निरूपण करने का प्रयास किया गया है। ये भेद एलिज़बेथ युगीन साहित्य से लिए गये हैं और इनके उदाहरण भी मुख्यतः इसी काल के साहित्य से दिये गये हैं। इस पुस्तक में बहुत गहरी अन्तर्दृष्टि और बहुत व्यंजक सामान्यकरण हैं पर इसके बावजूद यह एक सुसम्बद्ध प्रणाली स्थापित करने की दृष्टि से सफल नहीं हो सकी है। वेल्स अपनी योजना को कालातीत मानते हैं। उनके विचार से इसे केवल एलिज़बेथ काल पर ही नहीं अपितु सभी कालों पर लागू किया जा सकता है और उनका विश्वास है कि उनकी कृति मूल्यांकन-परक नहीं है अपितु वर्णनात्मक है। उनकी छान-बीन का आधार अलंकारों को 'जैसे वे नीचे से ऊपर की ओर, लगभग बिल्कुल शाब्दिक (अभिधा) से लेकर कल्पनाशील या प्रभाववादी में प्रकट होते हैं,' अलग-अलग वर्गों में बाँटना है। परन्तु उनका दावा है कि 'कल्पनाशीलता की प्रकृति और मात्रा' का मूल्यांकन पर कोई सीधा प्रभाव नहीं पड़ता। उन्होंने बिम्ब-विधान के सात भेद गिनाए हैं और उनका जो क्रम निश्चित किया है वह यह है: शोभाधर्मी[1], लुप्त[2], उग्र (या फास्टियन), मूलाश्रयी[3], तीक्ष्ण[4], विस्तीर्ण[5], और समृद्ध[6]। इन्हें वेल्स के ऐतिहासिक और मूल्यगत संकेतों के अनुसार नये क्रम में रखना भी बड़ा हितकर हो सकता है।

सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से सबसे अनगढ़ रूप है उग्र और आलंकारिक बिम्ब, या 'जनसाधारण का रूपक' और 'बनावटी रूपक' हैं। शोभाधर्मी बिम्ब जो

---

१. डेकोरेटिव; २. संकेन; ३. वायलेंट; ४. रैडिकल; ५ इटेंसिव; ६. एक्सपैंसिव; ७. इक्जुरेंट।

सिडनी की रचना आर्केडिया में भरे पड़े हैं, 'खास एलिज़बेथकालीन ढंग के माने जाते हैं। उग्र बिम्ब जिनके उदाहरण काइड और एलिज़बेथ काल के आरम्भ के दूसरे कवियों से लिये गये हैं, आरम्भिक काल की संस्कृति की विशेषता हैं। परन्तु चूंकि अधिकांश लोग साहित्यिक स्तर से कुछ नीचे पड़ते हैं अतः यह 'किसी भी काल' के गौण साहित्यिक रूपों में पाया जा सकता है; समाजशास्त्रीय दृष्टि से 'फास्टियन' बिम्बों में 'बहुत अधिक और सामाजिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रूपक' आते हैं। मूल्यांकन की दृष्टि से इन दोनों भेदों में 'अपेक्षित आत्मीय (वैयक्तिक) तत्वों की कमी पाई जाती है, कि ये प्रायः 'प्रकृति के बाह्य लोक को मनुष्य के आन्तरिक लोक से जोड़ने की अपेक्षा, प्रायः एक भौतिक बिम्ब को दूसरे से (जैसा कि विपर्यय में होता है) जोड़ते हैं। इसके अतिरिक्त शोभाधर्मी और उग्र दोनों ही रूप में सम्बन्ध अ-संयुक्त, निश्चित और एक दूसरे से असम्पृक्त रहते हैं। परन्तु वेल्स का विश्वास है कि रूपक के उत्कृष्टतम रूपों में प्रत्येक शब्द दूसरे को प्रभावित करता और बदलता है और इस तरह इस सम्बन्ध में एक तीसरा अर्थ, एक नया अवबोध, पैदा होता है।

फिर जब हम इस मानदण्ड पर ऊपर की ओर बढ़ते हैं तो समृद्ध बिम्ब और तीक्ष्ण बिम्ब आते हैं। इनमें से पहला उग्र बिम्बों का ही एक परिष्कृत रूप होता है, और दूसरा शोभाधर्मी रूपकों का परिष्कृत रूप होता है। हमने चमत्कार प्रदर्शन के दूसरे कुछ प्रकट रूपों को, चाहे वे शक्ति से सम्बन्धित हों या कौशल से, पीछे छोड़ दिया है। समृद्ध बिम्बों में हम ऐतिहासिक दृष्टि से मार्लो तक, जो एलिज़बेथ युगीन कवियों में पहला महान कवि था, और बर्न्स तथा स्मार्ट व स्वच्छन्दतावाद के पूर्ववर्ती कवियों तक पहुँच चुके हैं। वेल्स का कहना है कि यह बिम्ब अधिकांश आरंभिक काव्य में बहुत प्रधानता रखता है।' यह 'दो व्यापक और कल्पना की दृष्टि के मूल्यवान शब्दों को एक दूसरे के सान्निध्य में ला खड़ा करता है; दो विशाल और चिकने धरातलों को एक-दूसरे के आमने-सामने ला खड़ा करता है। यदि इसे अन्य किसी रूप में प्रस्तुत किया जाय तो इस श्रेणी में केवल ढीली-ढाली तुलना और मामूली मूल्यपरक श्रेणियों पर आधारित सम्बन्ध ही आयेंगे। बर्न्स लिखते हैं :

मेरी प्रिया एक लाल, लाल गुलाब सी है...
मेरी प्रिया एक रागिनी सी है
जो मधुर सुर में बजायी गयी हो।

एक खूबसूरत औरत, एक ताजा लाल गुलाब और मधुर सुर में बजायी

गयी रागिनी में एक ही साम्य है और वह है इनका सौन्दर्य और प्रीतिकरता; ये इनमें से हर एक अपनी श्रेणी की सर्वोत्तम चीज है। गुलाबी गाल किसी औरत को गुलाब जैसा नहीं बना देते; न ही उसकी मधुर आवाज उसे रागिनी जैसी (ऐसे सादृश्य जिनसे शोभाधर्मी बिम्ब उत्पन्न होंगे) बना देते हैं; गुलाब से उसकी तुलना रंग, रूप, बनावट की दृष्टि से नहीं अपितु मूल्य की दृष्टि से है।

वेल्स का तीक्ष्ण बिम्ब उस ढंग का स्पष्टतः दृष्टिगम्य बिम्ब है जो मध्य काल की सज्जित पाण्डुलिपियों और स्वांगों में देखने को मिलता है। कविता में यह दान्ते का बिम्ब है और अंग्रेजी काव्य में स्पेन्सर का। यह बिम्ब न केवल स्पष्ट है, बल्कि—संभवतः इसी के परिणामस्वरूप—साथ ही छोटा और एकदम नपा-तुला है: दान्ते का नरक न कि मिल्टन का। 'इसी तरह के रूपक चित्र या प्रतीक कहलाते हैं, 'लिसिडस' में लीला-चरित—अपना बालदार चोंगा और सेज का बानेट लिये कामू, और पादरियों का चोंगा और दो चाबियाँ लिए हुए सेण्ट पीटर भी तीक्ष्ण बिम्ब हैं। ये 'समुदाय' बिम्ब हैं: 'पैस्टोरल' (पशु-चारण) और 'शोकगीत' इन दोनों में मिल्टन का समय आने तक बहुत बने-बनाये मोटिफ (अभिप्राय) और बिम्ब प्रयोग में आने लगे थे। बने-बनाये बिम्बों की ही तरह 'बनी-बनायी 'काव्य-भाषा' भी हो सकती है। इसकी परम्परागत और संस्थागत प्रकृति और दृश्य कलाओं तथा प्रतीकात्मक संस्कारों से इसके सम्बन्ध के कारण वेल्स संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से विचार करते हुए गहन बिम्बों को पुरातनवादी धर्म, मध्यकाल, पुरोहिती और कैथोलिकों से जोड़ते हैं।

सबसे ऊपर की तीन श्रेणियाँ हैं लुप्त, मूलाश्रयी और विस्तीर्ण बिम्बों की। संक्षेप में कहें तो लुप्त बिम्ब क्लासिकी काव्य के बिम्ब हैं; मूलाश्रयी बिम्ब मेटाफिजिकल कवियों और मुख्यतः डन के प्रिय बिम्ब हैं; और विस्तीर्ण बिम्ब मुख्यतः शेक्सपियर का और साथ ही बेकन और ब्राउन और बर्क के बिम्ब हैं। इन तीनों तरह के बिम्बों में कुछ बातें समान रूप से पाई जाती हैं और ये हैं इनकी प्रकृति विशेष रूप से साहित्यिक होना (इनका दृष्टिगम्य चित्र न बन सकना), इनकी आन्तरिकता (रूपकात्मक चिन्तन); शब्दों का एक-दूसरे के अर्थ में गहरा प्रवेश (इनका सुफल सुभग परिणय)।

लुप्त बिम्बों को बासी या पुराने बिम्ब न समझें। ये "पूरी दृश्यता को ओझल" रखते हैं, और बिना स्पष्ट रूप-रेखा दिये ठोस ऐन्द्रिय रूप उभार

कर रख देते हैं। इसमें व्यंजनाओं का जो अभाव पाया जाता है वह चिन्तनपरक लेखन के बहुत उपयुक्त पड़ता है। इसके एलिज़बेथ-कालीन उदाहरण सैम्युएल डैनियल हैं जिनकी पद्य रचनाओं की प्रशंसा वर्ड्सवर्थ और थोरो जैसे कवियों ने की है:

जब तक खड़ा न कर पाये अपने ही ऊपर आपको
कितना दीन अकिंचन है इन्सान।

लेकिन शेक्सपियर इसमें सिद्धहस्त है। लीयर में एडगर कहता है:

सहना होगा मानव को
अपना विछोह इस जग से, जैसे जीवन का संयोग;
पकना ही है लक्ष्य।

'पकना' एक लुप्त (व्यंग्य) बिम्ब है जो संभवतः बागों और खेतों से लिया गया है। यहाँ वनस्पतियों के प्राकृतिक चक्र और जीवन के चक्र की अपरिहार्यता के बीच एक सादृश्य की ध्वनि फूटती है। कोई नव्य-क्लासिकी पीढ़ी शेक्सपियर के कुछ लुप्त बिम्बों को 'मिश्रित' बिम्बों का उदाहरण मान सकती है.....

ओह! ग्रीष्म के मधु विश्वास
ध्वंसक दिनों के घेरे से बाहर कैसे आ सकते हैं!

इस वाक्य का विस्तृत विश्लेषण करने की आवश्यकता है, क्योंकि इसमें एक पर एक कई अलंकारों का प्रयोग हुआ है: 'दिनों' शब्द युग या काल के लिए आया है और मेटोनिमी अलंकार है, जिससे आगे एक रूपक तैयार किया गया है कि इन दिनों ने जैसे किसी नगर पर घेरा डाल दिया है और इसकी दीवारों को तोड़-फोड़ कर उस पर कब्जा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वह कौन सी चीज है जो—नगर की तरह, या नगर के शासक की तरह—इन आघातों से बाहर जाने का प्रयत्न कर रही है? यह यौवन है जिसको ग्रीष्म के रूप में रखा गया है, या यह कहना अधिक सही होगा कि ग्रीष्म की मधुर गंध के रूप में रखा गया है: ग्रीष्मकालीन सुगन्ध धरती के लिए वैसी ही है जैसा मधुर श्वास मानव-शरीर के लिए है, यहाँ पूरे के लिए उसका एक अंश या विशेषण प्रयुक्त हुआ है। यदि कोई इस ध्वंसात्मक घेरे और श्वास को एक ही बिम्ब में रखने का प्रयत्न करे तो वह आगे न बढ़ सकेगा। यहाँ अलंकारों की गति बहुत तेज है और इसलिए इसमें शब्दों का लोप होता चलता है।

मूलाश्रयी (रेडिकल) बिम्ब का यह नाम शायद इसलिए पड़ा है कि इसके उपमेय और उपमान को तर्क के आधार पर एक ही कारण से उत्पन्न सिद्ध किया

जाता है; न कि स्वयं इनमें किसी तरह का सम्बन्ध दिखाया जाता है। इस बिम्ब को 'अकाव्यात्मक' कहा जा सकता है क्योंकि यह या तो बहुत परिचित और उपयोगितावादी होता है या अत्यन्त तकनीकी, वैज्ञानिक, पंडिताऊ। अर्थात् मूलाश्रयी बिम्ब में ऐसी चीजों को रूपक का आधार बनाया जाता है जिनका आवेगों को उभारने से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता, जो अमूर्त या व्यावहारिक गद्य की भाषा के अन्तर्गत आती हैं। इस तरह डन अपनी धार्मिक कविताओं में 'भूमिति' की पुस्तकों के कुछ चित्रों का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा 'फर्स्ट ऐनीवर्सरी' में उन्होंने चिकित्सा के क्षेत्र से भी रूपक लिये हैं, अन्तर केवल यही है कि इस तरह के रूपकों में सामान्य गुण-धर्म को बिल्कुल उलट कर रखा गया है:

> **पर जैसे कुछ साँपों का जहर किसी को हानि नहीं पहुँचाता यदि यह किसी जीवित साँप के काटने से प्रविष्ट न हुआ हो, इसी तरह उसके गुणों के हम में प्रवेश के लिए जरूरी है उसका वहाँ होना, खुद उसका असर उसके गुणों से अधिक होगा।**

यह संभवतः मूलाश्रयी बिम्ब का बहुत अच्छा उदाहरण है। इससे अधिक स्पष्ट और कम विपर्यस्त उदाहरण सम्भवतः उनकी कविता 'बैलेडिक्शन फार-बिडिंग मोर्निंग' में कुतुबनुमों का रूपक है। परन्तु जैसा कि वेल्स ने कहा है, यदि कोई 'विश्लेषणात्मक-पद्धति' अपनाये तो मूलाश्रयी बिम्ब स्वच्छन्दतावादी ध्वनि देने वाले बिम्ब-क्षेत्रों से भी लिये जा सकते हैं जैसे पर्वत, नदी और सागर।

अन्त में विस्तारशील बिम्ब आता है। इसका नाम इसे तीक्ष्ण बिम्बों से जोड़ता है। यदि तीक्ष्ण बिम्ब मध्यकालीन और ईसाइयत का बिम्ब है, विस्तीर्ण बिम्ब इल्हामी और प्रगतिशील विचारों का, 'सशक्त आवेग और मौखिक चिन्तन' का बिम्ब है, जिसका चरम उत्कर्ष दर्शन और धर्म के विशद रूपकों में पाया जाता है जिसका प्रतिनिधित्व बर्क, बेकन, ब्राउन और मुख्यतः शेक्सपियर में मिलता है। यदि विस्तीर्ण बिम्ब की परिभाषा करें तो कहना होगा कि यह ऐसा बिम्ब है जिसका प्रत्येक शब्द कल्पना का एक विराट क्षितिज हमारी आँखों के सामने खोल देता है और प्रत्येक शब्द दूसरे को बहुत अधिक बदल देता है: 'अन्योन्य क्रिया' और 'अन्तर प्रवेश', जो आधुनिक काव्य-सिद्धान्त के अनुसार काव्यगत क्रिया के सबसे महत्वपूर्ण रूप हैं, विस्तीर्ण रूपक में सबसे प्रचुरता में पाये जाते हैं। हम **रोमियो और जूलियट** से कुछ उदाहरण ले सकते हैं:

होते यदि तुम दूर कि जितना वह तट विस्तृत
दूर-दूर तक फैले इस विराट सागर के पार
तो भी ले लेता मैं जोखम इस सौदे का ?[1]

और मैकबेथ से :

रोशनी धुंधला रही है, और कौए
उड़ चले अपने बसेरों की दिशा में
दिवस की हर चीज़ अच्छी मुरझने झँपने लगी है।[2]

इन अन्तिम पंक्तियों में, शेक्सपियर ने 'अपराध का एक रूपकीय माहौल' प्रस्तुत किया है, जो रात और दानवीय बुराई के बीच, प्रकाश और अच्छाई के बीच साम्य रखता हुआ एक विस्तीर्ण रूपक बन जाता है. लेकिन ऐसा इससे ध्वनित होने वाली विशिष्टता और ऐन्द्रिय वास्तविकता के कारण ही हो पाता है: 'रोशनी धुंधला रही है,' चीजें मुरझाने और झँपने लगी हैं।' काव्यगत अस्पष्टता और काव्यगत विशिष्टता दोनों का मिलन 'दिवस की हर चीज अच्छी मुरझने झँपने लगी है' में होता है। जब हम इस पंक्ति की ओर ध्यान देते हैं तो उद्देश्य और विधेय दोनों एक-दूसरे को आगे-पीछे दोनों ओर प्रभावित करते हैं। क्रिया से आरम्भ करने पर हम पूछते हैं किस तरह की चीजें—पक्षी, जानवर, लोग, फूल—मुरझने और झपने लगी हैं; फिर उद्देश्य का अस्पष्ट नामकरण देखकर हम यह सोचने लगते हैं कि कहीं ये क्रियाएँ 'असावधान हो जाने', 'बुराई की शक्ति के सम्मुख भय से 'आर्तनाद करने' का संकेत देने के लिए तो नहीं रखी गयी हैं।

क्विण्टिलियन जैसे अलंकारशास्त्री ऐसे रूपकों के बीच जिनमें निर्जीव को सजीव दिखाया जाता है उन रूपकों से बहुत भिन्न मानते हैं जिनमें सजीव को निर्जीव रूपक में प्रस्तुत किया जाता है; परन्तु वे इस अन्तर को आलंकारिक युक्तियों के बीच का अन्तर मानते हैं। अलंकारों का भेद-निरूपण करनेवाले दूसरे व्यक्ति पांग ने इसे दो बिल्कुल अतिवादी भावनाओं के बीच का बहुत बड़ा

---

1. As that vast shore with the farthest sea
I should adventure for such merchandise.

२. यह अंश डंकन की हत्या से पहले का है। संध्या का वर्णन जिस प्रतीकात्मक ढंग से किया गया है उससे यह आभासित होता है कि आज रात को कोई बहुत अशुभ घटना घटित होने वाली है :

Light thickens, and the crow
Makes wing to the rocky wood
Good things of day begin to droop and drowse .

विरोध माना है। ये विरोधी भावनाएँ हैं : मिथक कल्पना जो व्यक्तित्व को बाह्य वस्तु जगत् पर आरोपित करती है, जो प्रकृति में आध्यात्मिकता का पुट भरती है और इसे सजीव बना देती है; और इसके विपरीत ढंग की कल्पना जो अपने से प्रतिकूल वस्तुओं का आश्रय लेती है, जो अपने को निर्जीव रूप में प्रस्तुत करती है या अपने को वस्तु रूप में चित्रित करती है। आलंकारिक अभिव्यंजना की सारी संभावनाएँ आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के इन्हीं दो परस्पर विरोधी छोरों में परिसमाप्त हो जाती हैं।

इनमें से पहले रूप को रस्किन ने पैथेटिक फेलेसी (भावाभास) की संज्ञा दी थी; यदि हम इसे ऊपर ईश्वर और नीचे वृक्षों तक लागू मानें तो इसे सगुणवादी कल्पना कह सकते हैं। रहस्यवादी प्रतीकवाद के एक अध्येता ने इस बात का संकेत किया है कि उच्चतम कोटि के रहस्यवादी अनुभव की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के लिए तीन तरह के पार्थिव मिलन हैं : निर्जीव पदार्थों का मिलन, भौतिक मिश्रण और रासायनिक मिलन : ईश्वर की आग में आत्मा एक चिनगारी, लकड़ी, मोम, लोहा है, ईश्वर आत्मा की मिट्टी के लिए पानी जैसा है, या एक ऐसा महासागर है जिसमें आत्मा की नदी जाकर मिलती है, (२) शरीर जिन तरीकों से अपने जीवन के अत्यावश्यक तत्त्वों को उपलब्ध करता है उनके अनुसार अलंकृत रूप में प्रस्तुत मिलन :

"धर्मशास्त्रों में ईश्वर को उन विशेष चीजों के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिनसे हम अपने को पूरी तरह अलग नहीं कर सकते जैसे प्रकाश और वायु जो हर रंध्र में व्याप्त है, और जल जिसे हम किसी-न-किसी रूप में नित्य ग्रहण करते हैं। अतः पूरी दुनिया के रहस्यवादियों के लिए ईश्वर आत्मा का दाना-पानी है, इसकी रोटी, मछली, जता, दूध और शराब है, (३) मानवीय सम्बन्ध—पिता और पुत्र का, पति और पत्नी का।

इनमें से पहले दो को पांग्स रूपकीय अन्तर्प्रज्ञा के दूसरे आद्य प्रकार में रखते, जो स्वयं "रहस्य" और "जादू" में बँटा हुआ है। रहस्यवादी रूपकों का उदाहरण हमने कवियों से न देकर रहस्यवादियों से दिये हैं। जड़ तत्वों को प्रतीकात्मक रूप में रखा गया है, इन्हें निरी संकल्पना या संकल्पनात्मक सादृश्य नहीं माना गया है अपितु ऐसी प्रतिकृति माना गया है जो स्वयं मूल आकृति भी है।

जादुई रूपकों का अर्थ कला के इतिहासकार बारिंगर के अनुसार प्रकृति जगत् के 'सार रूप में किया गया है। बारिंगर में मिश्र, बाइजैण्टियम, फारस की कलाओं का अध्ययन किया था, ये कलाएँ जो : "मनुष्य सहित सजीव प्रकृति

को भौमितिक-रेखाओं के रूप में बदल देती हैं और प्रायः शुद्ध रेखाओं, रूपों और रंगों के मोह में सजीव जगत् को एकदम छोड़ बैठती हैं....अब यहाँ पर अलंकार अपने आपको.... एक ऐसी चीज़ के रूप में अलग कर लेता है जो जीवन की धारा का अनुगमन नहीं करता, बल्कि इसका जमकर सामना करता है।....यहाँ आशय भ्रम उत्पन्न करने का नहीं रह जाता अपितु वशीभूत करने का हो जाता है...अलंकार....समय से अलग की हुई चीज जैसा है, यह एक शुद्ध फैलाव है, स्थिर और स्थायी।"

मानव विज्ञानी जीवात्मवाद और जादू इन दोनों को ही आदिम संस्कृतियों में पाते हैं। इनमें से पहला मानवीय अवतारों तक—मृतकों और देवताओं तक—पहुँचने, उन्हें प्रसन्न करने, मनाने और उनसे एकाकार होने का प्रयत्न करता है। दूसरा जो विज्ञान का पूर्वरूप है, वस्तुओं द्वारा फूटनेवाली शक्ति के नियमों का—पवित्र शब्दों, मंत्रों, सोंटों और चिमटों, प्रतिमाओं और अवशेषों का अध्ययन करता है। जादू के दो रूप हैं। एक है पुण्य आत्माओं का आह्वान जिसमें कार्नेलियस एग्रिप्पा और पारासेल्सस जैसे ईसाई गुह्य-साधक आते हैं, और दूसरा है दोना-टोटका जिसकी साधना दुष्ट प्रकृति के लोग करते हैं। परन्तु इन दोनों के मूल में वस्तुओं की शक्ति में विश्वास का भाव है। जादू 'प्रतिमा-निर्माण के माध्यम से कलाओं के सम्पर्क में आ जाता है। पाश्चात्य परम्परा में चित्रकार और मूर्तिकार को शिल्पकारों के हुनर से, हैफाइस्टस, डाएडेलस और पिगमैलियन से जोड़ा जाता है जो किसी प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकते हैं। लोकगीतों के सौन्दर्यशास्त्र में प्रतिमाएँ बनानेवाला एक जादूगर या ओझा हुआ करता है जब कि कवि को मंत्रप्रेरित, आविष्ट, और एक ऐसा पागल माना जाता है जो अपने पागलपन में काव्य रचना कर सकता है। जो भी हो, आदिम कवि उच्चाटन और मंत्र रच सकता था, और आधुनिक कवि येट्स की तरह बिम्बों के जादुई उपयोग को, शुद्ध बिम्बों को, अपनी कविता में जादुई-प्रतीक वाले बिम्बों का प्रयोग करने के माध्यम के रूप में अपना सकता है। रहस्यवाद की दिशा इसके विपरीत है : प्रतिमा आध्यात्मिक अवस्था से उत्पन्न एक प्रतीक है; यह व्याख्यात्मक नहीं है अपितु एक अभिव्यंजक बिम्ब है और यह इस अवस्था के लिए आवश्यक नहीं है : वही आध्यात्मिक अवस्था अपनी अभिव्यक्ति दूसरे प्रतीकों में कर सकती है।

रहस्यवादी रूपक और जादू दोनों जीवात्मवाद (एनिमिज्म) के विरोधी हैं : ये दोनों एक गैर-मानवीय जगत में मनुष्य के अपने आरोप की विरोधी

दिशाओं की ओर जाती हैं; ये एक 'अन्य' का—वस्तुओं के निर्वैयक्तिक जगत, पार्थिव कला, भौतिक नियम—आह्वान करते हैं। ब्लेक का 'टाइगर' (शेर) एक रहस्यवादी रूपक है; ईश्वर या ईश्वर का एक अंश शेर है (मनुष्य से कम और मनुष्य से अधिक) है; फिर इस टाइगर को (और इस शेर के माध्यम से इसके बनानेवाले को) बहुत तीखी आँच में गलायी गयी धातु के रूप में रखा गया है। शेर चिड़ियाघर के प्राकृतिक जगत का शेर नहीं है, ऐसा शेर नहीं जिसे ब्लेक ने लन्दन टावर में देखा हो, अपितु यह एक कल्पना-प्रसूत जीव है, जो वस्तु होने के साथ ही साथ प्रतीक भी है।

जादुई रूपकों में इस तरह की अर्ध पारदर्शिता का अभाव होता है। यह मेडूसा (एक यूनानी पौराणिक राक्षसी) का मुखौटा है जो किसी जीवधारी को जड़ बना दे। पांग्स इस जादुई भावना, सजीव वस्तुओं को जड़ बना देने की इस लालसा के प्रतिनिधि के रूप में स्तेफां जार्ज का उदाहरण देते हैं : "जार्ज अपने को आरोपित करने की स्वाभाविक प्रेरणा से रूप-विधान के अध्यात्मीकरण के लिए प्रेरित नहीं होते, अपितु यह अपने मूल में जैव जीवन का एक जोरदार विनाश है आन्तरिक, जादुई जगत की तैयारी का आधार, एक स्वेच्छित 'अलगाव' (विच्छेद) है।

अंग्रेजी कविता में डिकिन्सन और येट्स अपने-अपने ढंग से जड़ता का भाव उत्पन्न करनेवाले, रहस्य-विरोधी रूपक गढ़ते हैं : एमिल डिकिन्सन जब ईसा मसीह द्वारा पुनर्जीवनदान का, या मृत्यु का प्रभाव उत्पन्न करना चाहती है तो वह मरते हुए, घुटते हुए, जड़ीभूत होते हुए मनुष्य की अनुभूति पैदा करना चाहती हैं। मौत नहीं थी यह, बल्कि यह थी :

जैसे मेरे जीवन को झिंझोड़ दिया गया हो
और फ्रेम में जड़ दिया गया हो
और मैं बिना किसी चाबी के साँस न ले सकूँ....
कितनी बार वे पैर लड़खड़ाये
यह वही मुँह बता सकता है जिसे राँगे से जड़ दिया गया हो।
कोशिश करो! क्या तुम इस भयानक रिविट को हिला पाते हो।
कोशिश करो! देखो क्या तुम इस्पात के आवरणों को उठा पाते हो।

जादू के रूप में येट्स की कविता अपनी चरम पराकाष्ठा 'बाइजैण्टियम' (१९३०) में पहुँचती है। सन् १९२७ में ही "सेलिंग टु बाइजैण्टियम" में उन्होंने जैव जीवन : 'युवक-युवतियाँ एक दूसरे की भुजाओं में लिपटे हुए.....मांकरेलों

से भरे समुद्र', और बाइजैण्टाइन कला के बीच में विरोध का आरंभ कर दिया था, जिसमें हर चीज निश्चित, कठोर, अस्वाभाविक है, जो 'सुनहले मोजइक' और 'सुनहले पानी' का संसार है। जैव दृष्टि से मनुष्य एक 'नश्वर प्राणी' है; उसकी अतिजीविता की एक ही आशा है और वह है 'शाश्वत कला में अपने को समेट लेना, किसी भी प्राकृतिक वस्तु से शरीर-ग्रहण नहीं, अपितु कलाकृति बन जाना, एक सुनहली झाड़ी की सोनचिड़िया बन जाना। 'बाइजैण्टियम' एक दृष्टि से येट्स की 'पद्धति' पर पूरी खरी उतरनेवाली एक सैद्धान्तिक कविता है तो दूसरी ओर विशिष्ट साहित्यिक दृष्टि से यह अन्योन्याश्रित प्रकृति-बाह्य बिम्बों का एक ढाँचा है, जो अपनी समग्रता में एक विहित अनुष्ठान था। पूजा-विधान का चित्र खड़ा करती है।

पांस की श्रेणियों की, जिन्हें हमने कुछ छूट लेते हुए प्रस्तुत किया है, एक विशेषता यह है कि इनमें काव्य-शैली को जीवन-दृष्टि से जोड़ा गया है। यद्यपि प्रत्येक काल की शैली को इस रूप में देखा गया है जैसे इसकी अन्य कालों से एक सर्वथा अलग जीवन दृष्टि हो, पर मूलतः ये शैलियाँ कालातीत हैं, वे जीवन को देखने और उसके प्रति प्रतिक्रिया दिखाने के विकल्प हैं। परन्तु ये सभी आधुनिक विचार अर्थात् तर्कनावाद, प्रकृतिवाद, प्रत्यक्षवाद, विज्ञान आदि की सामान्य धारा से बाहर पड़ते हैं। इस तरह के वर्गीकरण से यह प्रकट होता है कि कविता विज्ञान से पूर्व की चिन्तन-विधियों के प्रति निष्ठावान बनी रहती है। कवि में एक बच्चे की और आदिम मनुष्य की, जो बच्चे का पूर्व रूप है, अन्तर्दृष्टि बनी रहती है।

पिछले कुछ वर्षों में विशिष्ट कवियों का यहाँ तक कि कविताओं या नाटकों का उनके प्रतीकात्मक बिम्बविधान की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इस तरह की 'व्यावहारिक आलोचना' में आलोचक की मान्यताओं का महत्त्व बहुत बढ़ जात है। वह चाहता क्या है? वह कवि का विश्लेषण कर रहा है या कविता का?

उन क्षेत्रों का अध्ययन, जिनसे बिम्ब ग्रहण किये जाते हैं (मैकनीस ने ठीक ही कहा है कि इसे "इसके विषय-वस्तु के अध्ययन में रखना अधिक उपयुक्त है") और उन रूपों का अध्ययन करना 'जिनमें बिम्बों का उपयोग किया जाता है, तथा 'आशय' और 'वाहन' (रूपक) के सम्बन्धों के स्वरूप का अध्ययन, ये दोनों दो चीजें हैं। किसी विशेष कवि के बिम्ब-विधान को लेकर लिखे गये अधिकांश निबन्ध पहली श्रेणी में आते हैं। इनमें कवि के रूपकों को प्रकृति, कला, उद्योग,

भौतिक विज्ञान, मानविकी, नगर और ग्राम में विभाजित करके और इन रूपों में उनकी एक तालिका तैयार करके उसकी रुचि आँकने की कोशिश की जाती है। लेकिन इसमें उन वस्तुओं या विषयों का वर्गीकरण ही किया जा सकता है जो कवि में रूपक की प्रेरणा भरते हैं, जैसे स्त्री, धर्म, मृत्यु, विमान। इस वर्गीकरण से अधिक महत्वपूर्ण है बहुत बड़े पैमाने पर आनेवाले समानार्थी शब्दों, मानसिक अनुसंगियों की खोज। कवि के इन दोनों क्षेत्रों से बार-बार यह प्रकट होता रहता है कि कवि के सर्जक मन में इनका सही अर्थ क्या रहा होगा। इस तरह डन के 'सांग्स एण्ड सानेट्स' में शुद्ध प्रेम की कविताओं में रूपक की योजना कैथोलिक जगत की पवित्र प्रेम की अवधारणाओं से ग्रहण की गयी है : यौन प्रेम के स्थान पर वह 'आनन्दातिरेक', 'शहीदी', 'अवशेष' आदि कैथोलिक संकल्पनाओं का प्रयोग करते हैं, जब कि अपने कुछ 'पवित्र सानेटों' में वह ईश्वर का स्मरण बहुत कामोद्दीपक अलंकारों में करते हैं :

फिर भी मैं तुम्हें इतना प्यार करती हूँ, और तुम्हारे प्यार के लिए लालायित हूँ।
मेरा परित्याग कर दो, छोड़ दो, या उस गाँठ को फिर खोल दो
अपने सीने से चिपका लो, बंधन में बाँध लो, क्योंकि
जब तक तुम मुझे बन्धन में न बाँधो मैं मुक्त नहीं हो सकती न ही
तुम्हारे आलिंगन के बिना पवित्र रह सकती हूँ।

धर्म और सेक्स के क्षेत्रों के बीच के अदलाव-बदलाव से यह प्रकट होता है कि इसमें सेक्स को धर्म और धर्म को प्यार माना गया है।

एक दूसरे तरह के अध्ययन में बिम्ब-विधान के माध्यम से कवि की आत्माभिव्यक्ति पर, उसके मनोभावों के प्रकाशन पर बल दिया जाता है। इसमें यह माना जाता है कि कवि के बिम्ब स्वप्न के बिम्बों अर्थात् स्वाविवेक या लज्जा से बिना किसी तरह कटे-छँटे स्वप्न के बिम्बों जैसे होते हैं : ये उसके बाहरी आत्मकथन नहीं होते हैं, अपितु इन्हें उदाहरणों के रूप में रखा जाता है, ऐसा भी हो सकता है कि इनमें उन बातों का प्रस्तुतीकरण न हो पाये जिनको कवि सचमुच प्रकट करना चाहता हो। परन्तु यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या कोई कवि अपने बिम्बों के विषय में कभी इतना असावधान हो सकता है।

एक दूसरी धारणा, जो निश्चित रूप से भ्रान्त है, यह है कि कवि ने जिस चीज की भी कल्पना की है उसने उसका यथातथ्य प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया

होगा (इसी के बल पर कुमारी आई० वेड ने ट्रैहर्न के अध्ययन में उनके आरम्भिक जीवन का चित्र खड़ा करने का प्रयत्न किया है।) डा० जानसन के मतानुसार, टाम्सन की एक महिला प्रशंसिका को इस बात का पक्का विश्वास था कि उन्हें टाम्सन की रचनाओं के आधार पर यह पता है कि उनकी रुचि क्या थी। "उन्होंने टाम्सन की रचनाओं से उनके चरित्र की तीन बातों का पता लगा लिया था : कि वह बहुत बड़े प्रेमी थे, बहुत अच्छे तैराक थे, और नशे से उन्हें सख्त परहेज था। लेकिन सैवेज (जानसन की परिचिता) का कहना था कि प्रेम के नाम पर वह एक ही चीज जानते थे और वह है वासना की तृप्ति; उन्हें जीवन में संभवतः कभी दुर्दिन नहीं देखने पड़े थे; और जितना ऐश वह उड़ा सकते थे उतना उड़ाने से कभी चूकते नहीं थे।"

यह मानना कि कवि के बिम्ब मुख्यतः उसके अवचेतन की देन हैं, और इसलिए इन बिम्बों में कवि जो कुछ भी कहता है वह एक आदमी की हैसियत से कहता है, न कि एक कलाकार के रूप में, कवि की ईमानदारी जाँचने के विषय में बहुत उथली और किंचित असंगत धारणाओं की याद दिलाता है। एक ओर तो यह माना जाता है कि बहुत पैने बिम्ब आयाससिद्ध और इसलिए हृदय से फूटे हुए नहीं होते हैं : एक आदमी जो सचमुच भावावेग में है वह जिस भाषा का प्रयोग करेगा उसमें या तो बिम्ब आयेंगे ही नहीं या वे बहुत सतही और बासी होंगे। लेकिन इसके प्रतिकूल भी एक विचार पाया जाता है कि पिटे-पिटाये अलंकार जिनसे ऊपरी अनुक्रिया ही जाग्रत होती है, अपने आन्तरिक भावों के प्रति सच्चा न रहने का चिह्न हैं, अपनी अनुभूतियों को सही-सही बयान करने के स्थान पर इनसे मिलती-जुलती बातों को स्वीकार करने का लक्षण है। यहाँ हमारी भूल यह है कि हम साहित्यिक व्यक्ति को आम व्यक्ति, लिखनेवालों को, या कहें कविताओं में बात करनेवालों को सामान्य ढंग से बात करनेवाला आदमी समझ बैठते हैं। मामूली व्यक्तिगत आवेग और बासी बिम्ब दोनों एक साथ हो सकते हैं। जहाँ तक कविता में 'दिल से फूटी आवाज' की बात है, यह मुहावरा बिल्कुल बेकार मालूम होता है। किस चीज का हृदय से फूटना? उस कल्पित भावात्मक अवस्था का जिसमें यह फूटी थी? या उस मनोदशा का जिसमें कविता की रचना की गयी थी? या कविता की अभिव्यक्ति के प्रति सच्चाई, अर्थात् लिखते समय लेखक के मन में उभरनेवाली भाषागत पद-योजना के प्रति सच्चाई? इसमें कोई सन्देह नहीं कि सच्चाई का प्रश्न अन्तिम चीज, अर्थात् कविता की अभिव्यक्ति के प्रति ही खड़ा हो सकता है।

किसी कवि का बिम्ब-विधान उसके अपने 'स्व' की अभिव्यक्ति करता है। उसके स्व की व्याख्या में हम क्या कह सकते हैं? मेरिमो प्राज और श्रीमती हास्टर्डाइन दोनों कैरोलिन स्पर्जियन के शेक्सपियर की अवहेलना करते हुए, बीसवीं शताब्दी के अंग्रेजों का मनोरंजन करते रहे हैं। यह माना जा सकता है कि महान कवियों में भी 'मानवता के सामान्य तत्व' पाये जाते रहे हैं। इसे जानने के लिये हमें धर्मग्रंथों का बिम्ब-विधान समझने की जरूरत नहीं है। यदि बिम्ब के अध्ययन का मूल्य यह माना जाये कि यह किसी छिपी हुई चीज को खोल कर रखता है तो हम यह मान सकते हैं कि इसमें हम कुछ निजी बातों का भी पता पा सकते हैं, इससे शेक्सपियर के मन की छिपी गुत्थियों को खोल सकते हैं।

शेक्सपियर के बिम्बों में उनकी सार्वभौम मानवता का उद्घाटन करने के बजाय हमें इस विषय में एक गूढ़ रिपोर्ट मिल सकती है कि किसी विशेष नाटक की रचना करते समय उनकी मानसिक अवस्था क्या थी। अत: कैरोलिन स्पर्जियन ट्रायलस और हैम्लेट के बारे में कहती हैं: "यदि दूसरे स्रोतों से हमें इस बात का पता न रहता तो इन दो नाटकों में पाये जानेवाले प्रतीकों की समानता और सातत्य के आधार पर हमें यह निश्चित विश्वास हो जाता कि ये दोनों लगभग एक साथ ही लिखे गये थे, और लिखे भी ऐसे समय में गये, जब लेखक एक ऐसे मोहभंग, विक्षोभ और बेचैनी से परेशान था जैसा हमें इतनी तीव्रता से अन्यत्र कहीं भी अनुभव नहीं होता।" यहाँ कैरोलिन स्पर्जियन यह नहीं मानतीं कि शेक्सपियर के मोहभंग के असल कारण का पता लगाया जा सकता है, बल्कि यह मानती हैं कि हैम्लेट में मोहभंग की अभिव्यक्ति हुई है और यह शेक्सपियर का अपना मोहभंग हो सकता है। अगर वह ईमानदार नहीं होते, अर्थात् अपनी मनोदशा से बाध्य होकर न लिख रहे होते तो वह इतना महान नाटक न लिख पाये होते। इस तरह का कोई सिद्धान्त ई० ई० स्टोल और दूसरे कुछ लोगों के मत से उल्टा पड़ता है जिसमें शेक्सपियर की कला, उनके नाटयशास्त्र, पहले सफल हो चुके नाटकों के सामान्य नमूने पर नये और पहले से अच्छे नाटक लिख पाने की दक्षता पर बल दिया गया है। जैसे हैम्लेट द स्पैनिश ट्रेजेडी के बाद लिखा गया था; द विण्टर्स टेल और द टेम्पेस्ट ब्यूमा और फ्लेचर के नाटकों की प्रतिस्पर्धा में लिखे गये थे।

परन्तु काव्यगत बिम्ब-विधान के सभी अध्ययनों में कवि का रहस्य खोलने और उसके आन्तरिक जीवन का चित्रण करने के ही प्रयत्न नहीं किये जाते हैं।

कल्पित जिन्दगी का नहीं अपितु कविता के कालों का अध्ययन कर रहे हैं।

छंद की ही तरह बिम्ब-विधान भी, किसी कविता की संरचना का एक नियामक तत्व है। हमारी योजना के अनुसार यह वाक्य-विन्यास या शैली के स्तर की चीज है। अन्तिम बात यह है कि इसका अध्ययन अन्य स्तरों से इसे अलग करके नहीं किया जाना चाहिए अपितु साहित्यिक कृति की समग्रता और अखण्डता के एक तत्व के रूप में ही किया जाना चाहिए।



सोलह

आख्यानात्मक कथा का स्वरूप और प्रकार

उपन्यास-विषयक साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना काव्य के साहित्य-सिद्धान्त और आलोचना से परिमाण और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से घटिया दर्जे के हैं। आम तौर पर इसका कारण यह बताया जाता है कि कविता बहुत प्राचीन है और इसकी तुलना में उपन्यास अभी कल की चीज है। परन्तु यह सफाई बहुत सन्तोषजनक नहीं मालूम होती। एक कला-विधा के रूप में देखें तो उपन्यास वस्तुतः महाकाव्य का आधुनिक रूप है जिसमें नाटक के तत्व भी आकर मिल गये हैं—पहले महाकाव्य और नाटक ही दो सर्वोत्तम कलारूप थे। इसका असली कारण उपन्यास को गंभीर कला न मानकर एक पलायन मानने, इसे मनोरंजन या दिल-बहलाव से जोड़ कर देखने की व्याप्त धारणा है। इसका कारण महान उपन्यासों के विषय में भी यह प्रचलित भ्रम है कि ये बिक्री का संकीर्ण लक्ष्य रख कर लिखे जाते हैं। अमरीका में शिक्षाशास्त्रियों की फैलाई हुई इस आम धारणा को लावेल और अर्नाल्ड जैसे प्रतिनिधि आलोचकों की उपन्यास के प्रति दृष्टि से भी बढ़ावा मिला है कि गल्प से इतर साहित्य पढ़ना शिक्षाप्रद और उत्तम है और गल्प साहित्य पढ़ना हानिकर है, या अधिक से अधिक आदमी में आत्मासक्ति पैदा करता है।

लेकिन दूसरी तरफ, उपन्यास को गलत ढंग से गंभीर मानकर चलना भी—अर्थात् यह मानना भी खतरनाक है कि उपन्यास एक दस्तावेज या व्यक्तिगत वृत्त है, एक आत्म-स्वीकृति है—जिसका दावा यथार्थ का भ्रम पैदा करने के लिए उपन्यासों में भी किया जाता है—कि यह एक सच्ची कहानी है, जीवन और इसके उतार-चढ़ाव का इतिहास है। साहित्य के लिए आवश्यक है कि इसका एक ढाँचा और सौन्दर्यात्मक प्रभाव हो, पूरे का एक गठन और प्रभाव हो। जीवन

से भी इसका इतना सम्बन्ध तो होना ही चाहिए कि इसमें चित्रित जिन्दगी को पहचाना जा सके, पर ये सम्बन्ध अनेक तरह के हो सकते हैं। जीवन का बहुत तीखा वर्णन किया जा सकता है, इसकी मखौल उड़ाई जा सकती है और इसे उलट कर भी पेश किया जा सकता है; इसे जिस भी रूप में पेश किया जाये, यह सदा जीवन से एक विशिष्ट प्रयोजन से चुनी गयी चीजों से अलग कुछ नहीं होता। यह जानने के लिए कि किसी विशेष कलाकृति का 'जीवन' से क्या संबन्ध हो सकता है, हमें साहित्य से बिल्कुल अलग होकर उसका ज्ञान प्राप्त करना होगा।

अरस्तू ने काव्य को (अर्थात् महाकाव्य को) इतिहास की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट बताया है। इस सूत्र का शाश्वत महत्व है। सत्य दो प्रकार के होते हैं। एक है तथ्यपरक सत्य, जो एक निश्चित स्थान और काल की सीमा में सत्य होता है और इसे संकीर्ण अर्थ में हम इतिहास का सत्य कह सकते हैं। एक दूसरा होता है दार्शनिक सत्य जो संकल्पनारूप, स्थापनात्मक और सामान्य होता है। इतिहास की ऐसी परिभाषा की जाये तो इतिहास और दर्शन की इस दृष्टि से कल्पनाप्रसूत साहित्य 'गल्प' है, एक झूठ है। साहित्य के विरुद्ध प्लेटो ने जो आरोप लगाया था वह 'गल्प' शब्द में आज भी बना हुआ है, जिसका उत्तर देते हुए फिलिप सिडनी और डा० जान्सन ने कहा था कि साहित्य इस अर्थ में सत्य होने का दावा नहीं करता; वर्णना के इस पुराने आरोप का जो सड़ा-गला अंश आज भी इस शब्द में अवशिष्ट रह गया है, उससे आज भी किसी सच्चे उपन्यासकार को झल्लाहट हो सकती है, जो यह अच्छी तरह जानता है कि गल्प सत्य की तुलना में कम विलक्षण और अधिक सच्चा होता है।

विल्सन फालेट ने डिफो के श्रीमती वील और श्रीमती बारग्रेव के विवरण को लेकर बहुत अच्छी बात कही है : इस कहानी की हर बात सच है, पर यह पूरी की पूरी कहानी सच नहीं है। लेकिन इस बात पर तो गौर कीजिये कि डिफो ने इस पूरी कहानी को भी इतनी सुन्दरता से रखा है कि इस पर उँगली उठाना कठिन मालूम होता है। यह कहानी एक तीसरी औरत की जबानी बयान की गयी है जो ठीक उसी प्रकृति की है जिस प्रकृति की अन्य दोनों औरतें हैं, और जो श्रीमती बारग्रेव की आजीवन सहेली रही हैं!· ·"

मैरियन मूरे ने कविता के विषय में कहा है कि यह: "हमारी आँखों के सामने सजीव मेढकों से भरे हुए काल्पनिक बगीचे पेश करती है, कि हम उन्हें निहार सकें।"

किसी गल्प-कृति की वास्तविकता—अर्थात् इसका यथार्थ का भ्रम, पाठक के मन पर इसका एक सच्चे जीवन का-सा प्रभाव—अनिवार्यतः या मूलतः परिस्थिति की या ब्योरे की या रोजमर्रा की आम वास्तविकता नहीं हुआ करती। इन सभी मानकों से देखें तो हावेल्स या गाटफ्रीड जैसे लेखक **ईडिपस रेक्स, हैम्लेट** और **माबी डिक** जैसी पुस्तकों के लेखकों को लज्जित कर सकते हैं। सादृश्य का प्रत्येक ब्योरा देना यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने का एक साधन है, पर **गुलिवर्स ट्रैवेल्स** की तरह इसका प्रयोग प्रायः पाठकों को किसी ऐसी असंभाव्य या अविश्वसनीय स्थिति का विश्वास कराने के लिए किया जाता है जिसमें परिस्थितिजन्य सत्य की अपेक्षा अधिक गहरा 'वस्तु सत्य' पाया जाता है।

यथार्थवाद या प्रकृतिवाद, चाहे ये उपन्यास में हों या नाटक में, स्वच्छन्दतावाद या अतियथार्थवाद की तरह साहित्यिक या साहित्य-दर्शन विषयक आन्दोलन, रूढ़ियाँ और शैलियाँ हुआ करते हैं। यहाँ भेद यथार्थ और भ्रम में नहीं हुआ करता, अपितु यथार्थ की विभिन्न संकल्पनाओं में, भ्रम के विविध रूपों में हुआ करता है।

कथा साहित्य का जीवन से क्या सम्बन्ध है? क्लासिकी या नव्य-क्लासिकी उत्तर यह हो सकता है कि यह टाइपीय विशेषताओं को, सार्वभौम चीजों को चित्रित करता है, जैसे एक कंजूस का एक टाइप (मालेयर, बाल्जाक), बेवफा लड़की का एक टाइप (लीयर, गोरियो)। परन्तु इस तरह की टाइपीय संकल्पनाएँ क्या समाजशास्त्र की परिधि में नहीं आतीं? अथवा, यह कहा जा सकता था कि कला जीवन का उदात्त, तीखा और आदर्श रूप प्रस्तुत करती है। इसमें सन्देह नहीं कि कला की एक ऐसी भी शैली पाई जाती है, परन्तु वह मात्र एक शैली है, कला का सारतत्व नहीं। हाँ इतना जरूर है कि सभी कलाएँ एक सौन्दर्यात्मक दूरी खड़ी करके, रूप या वाणी देकर उन चीजों के भावन को सुखद बना देती हैं जिनका अनुभव करना या यहाँ तक कि जिनका जीवन में साक्षात्कार करना भी पीड़क हो सकता है। यह बात संभवतः कही जा सकती है कि गल्प कृति में 'एक' व्यक्ति-वृत्त (केस स्ट्री) होता है—किसी सामान्य प्रतिरूप या रोगनिकाय का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे कुछ उदाहरण पाये जाते हैं—कैथर का 'पाल्स केस' या 'द स्कल्पटर्स फ्यूनरल' जैसी कहानियों में—जिन्हें ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु उपन्यासकार एक व्यक्ति-वृत्त—चरित्र या घटना—की अपेक्षा एक पूर्ण जगत प्रस्तुत करता है। प्रत्येक महान उपन्यासकार इस तरह की एक दुनिया प्रस्तुत करता है—यह दुनिया अनुभव-

जगत का आच्छादन करती तो मालूम होती है, परन्तु अपनी आत्मसंगत बुद्धि-गम्यता में बिल्कुल अलग होती है। कभी-कभी यह एक ऐसा संसार होता है जिसे भूमण्डल पर किसी निश्चित क्षेत्र में चिह्नित किया जा सकता है—जैसे ट्रालप की काउण्टियाँ और कैथेड्रल नगर तथा हार्डी का वेसेक्स; परन्तु कभी-कभी—जैसा कि पो के साथ देखने में आता है—ऐसा कर पाना संभव नहीं लगता : पो की लोमहर्षक गढ़ियाँ जर्मनी या वर्जीनिया में नहीं अपितु आत्मा के भीतर हैं। डिकेन्स का संसार लन्दन है, यह पहचान में आ जाता है; काफ्का का संसार पुराना प्राग है : परन्तु ये दोनों संसार इस तरह 'प्रक्षेपित' हैं, इतने सृजन-कारक और सृष्ट हैं और इसके बाद के अनुभव-जगत में इन्हें डिकन्स के चरित्रों और काफ्का की स्थितियों में इतना पहचाना जाता है कि इनमें से एक को दूसरे से अभिन्न मानकर देखना असंगत मालूम होता है।

डेस्माण्ड मैकार्थी का कहना है कि मेरिडिथ, कानराड, हेनरी जेम्स और हार्डी इन सभी ने "इतना विराट सतरंगी बुलबुला पैदा किया है कि जिसमें वे जिन मनुष्यों का वर्णन करते हैं वे वास्तविक लोगों से मिलते-जुलते तो मालूम होते हैं पर वे इस संसार में ही सजीव हो पाते हैं।"

मैकार्थी का कहना है, "जरा सोचिये तो कि एक चरित्र को एक काल्पनिक संसार से दूसरे काल्पनिक संसार में पहुँचा दिया गया है। यदि पेकस्निफ को द गोल्डन बाउल में पहुँचा दिया जाये तो वह खत्म हो जायेगा।.....किसी उपन्यासकार की एक भूल अक्षम्य है और वह है टोन की संगति के निर्वाह में उसकी असफलता।

जब हम उपन्यास की जीवन से तुलना करने का प्रयास करें या किसी उपन्यासकार की कृति को नैतिक या सामाजिक दृष्टि से परखने चलें तो हमें उपन्यासकार के संसार या सृष्टि की—इस प्रतिरूप या संरचना या सजीव पिण्ड की जिसमें कथानक, चरित्र, माहौल, विश्व-दृष्टि और "टोन" आते हैं— छान-बीन ही करनी चाहिए। जीवन या 'यथार्थ' के अनुरूप होने की परख इस या उस ब्योरे की तथ्यपरक युक्तियुक्तता से वैसे ही नहीं की जा सकती जैसे नैतिक परख इस आधार पर नहीं की जा सकती कि किसी उपन्यास में यह या वह यौन या निन्दात्मक शब्द है या नहीं, जैसे कि बोस्टन सेंसर किया करता है। अधिक स्वस्थ दृष्टि है पूरे गल्प-जगत की हमारे अनुभव और कल्पना के जगत से तुलना जो कि उपन्यासकार के जगत से कम संघटित होता है। जब किसी उपन्यासकार का जगत हमारे अपने जगत की तरह निरूपित या निर्मित नहीं भी रहता, पर उसमें

वे सभी तत्व विद्यमान रहते हैं, जिनको हम अपनी सार्वलौकिक परिधि के लिए आवश्यक मानते हैं, या अपनी विस्तार, सीमा में संकीर्ण होते हुए भी उसमें गहन और केन्द्रीय तत्वों को चुन कर रखा गया होता है, और जब खंडों का पैमाना या क्रम-विन्यास ऐसा मालूम होता है जो किसी परिपक्व व्यक्ति को रुच सकता हो तो हम उस उपन्यासकार को महान कहकर सन्तोष कर लेते हैं।

जब हम 'जगत' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम एक दिक्सूचक शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु 'कथा' (नैरेटिव फिक्शन)—या इससे अच्छा रहेगा यदि हम कहें 'कहानी' (स्टोरी)—जैसा शब्द हमारा ध्यान काल की ओर एक कालबद्ध अनुक्रम की ओर भी खींचता है। कहानी शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'स्टोरी' 'हिस्ट्री' (इतिहास) शब्द से निकला है। सामान्यतः साहित्य को चित्रकला और मूर्तिकला आदि दिक् सापेक्ष कलाओं से अलग करते हुए काल-सापेक्ष कला कहा जा सकता है; परन्तु आधुनिक कविता (कथाहीन कविता) अपनी इस नियति से बचने की पूरी चेष्टा करती है और एक चिन्तनापरक विराम एक 'आत्मचिन्तनात्मक' रूप-विन्यास लाने का प्रयत्न करती है, और जैसा कि जोजेफ फ्रैंक ने बड़ी पटुता से सिद्ध किया है, आधुनिक कलात्मक उपन्यास (**यूलिसिज, नाइटवुड, मिसेज डैलोवे**) को कलात्मक रूप में, अर्थात् आत्म-चिन्तन के रूप में गठित करने का प्रयत्न किया गया है। इससे हमारा ध्यान एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना की ओर जा सकता है : पुरानी कथा या कहानी (महाकाव्य या उपन्यास) एक निश्चित समय के भीतर घटित होती थी—महाकाव्य के लिए समय-सीमा परम्परागत रूप से एक साल की रखी जाती थी। अनेक महान उपन्यासों में लोगों को जन्म लेते, जवान होते और मरते दिखाया गया है; चरित्र विकसित होते हैं और बदलते हैं; यहाँ तक कि एक पूरे समाज को बदलते देखा जा सकता है : (**द फोरसाइट सागा, युद्ध और शान्ति**) या, एक परिवार की कई पीढ़ियों की प्रगति और ह्रास (**बडेनब्रुक्स**) दिखाया जा सकता है। परम्परागत रूप से उपन्यास में समय के आयाम के प्रति बहुत सावधानी बरती जाती रही है।

खलनायकों पर आधारित उपन्यास में तो केवल एक ही चीज होती है, और वह है कालानुसार घटना-विन्यास : यह हुआ और उसके बाद यह और फिर यह। हर शौर्य-प्रदर्शन जो अपने आपमें एक घटना होता है, और जो एक स्वतन्त्र कहानी भी हो सकता है, नायक के व्यक्तित्व से जोड़ दिया जाता है। अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक उपन्यासों के कालानुक्रम के साथ कार्य-कारण का ढाँचा भी

जुड़ जाता है। इस तरह के उपन्यास में चरित्र को एक अवधि के भीतर चलते रहनेवाले कारणों के क्रम में गिरता-सँभलता दिखाया जाता है। या जिन उपन्यासों में कथानक बहुत सघन बुना गया रहता है, उनमें समय आने पर ऐसा कुछ हो जाता है कि अन्त की स्थिति आरम्भ से बिल्कुल भिन्न हो जाती है।

कहानी कहनेवाले को केवल फल की ही चिन्ता नहीं रखनी पड़ती, अपितु घटनाओं का भी बहुत अधिक ध्यान रखना होता है। ऐसे पाठक हुआ करते हैं, या हुआ करते थे जो कहानी पढ़ते समय हमेशा इस बात पर नजर रखे रहते थे कि देखें कहानी का अन्त क्या होता है; परन्तु जो आदमी उन्नीसवीं शताब्दी के किसी उपन्यास का 'अन्तिम अध्याय' पढ़ेगा उसे कहानी में कोई रुचि नहीं रह जायेगी। कहानी जो एक प्रक्रम है, एक लक्ष्य की ओर उन्मुख प्रक्रम है। हमें ऐसा लग सकता है कि एमर्सन जैसे कुछ दार्शनिक और आचारवादी हैं जो मुख्य रूप से उपन्यासों की ओर ध्यान नहीं देंगे, क्योंकि क्रिया—या बाह्य क्रिया—या कालबद्ध क्रिया—उन्हें अस्वाभाविक मालूम होती है। वे इतिहास को वास्तविक नहीं मान सकते : इतिहास में लगभग एक जैसी चीज घटनाक्रम से खुलती चली जाती है; और उपन्यास एक काल्पनिक इतिहास है।

आख्यानात्मक कथा के सम्बन्ध में यहाँ एक शब्द कह देना चाहिए, जिसे जब हम गल्प पर लागू करते हैं तो वह अभिनीत गल्प, अर्थात् नाटक से बिल्कुल विपरीत प्रतीत होता है। कहानी या फेबल (पशु-पक्षियों के माध्यम से कही गयी कहानी) कोई अभिनेता पेश कर सकता है, या इसे एक ही किस्सागो बयान कर सकता है जो महाकाव्य की कथा कहनेवाला या उसका कोई उत्तराधिकारी हो सकता है।

महाकवि उत्तम पुरुष का प्रयोग करता है और वह मिल्टन की तरह इसे गीति-मूलक या लेखकीय उत्तम पुरुष का रूप दे सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी का उपन्यासकार हालांकि उत्तम पुरुष में नहीं लिखता, परन्तु टिप्पणी करने और सामान्यकरण करने के उसी अधिकार का प्रयोग करता है जिसका महाकवि किया करते थे। गीति रचनाओं के उत्तम पुरुष से इसकी भिन्नता दिखाने के लिए हम इसे 'निबन्धमूलक' कह सकते हैं। लेकिन वर्ण्य कथा का प्रधान लक्षण है इसकी समावेशी प्रकृति। इसमें घटमान का संक्षिप्त विवरण देते हुए वार्तालाप में यत्र-तत्र दृश्य भी प्रस्तुत किये गये होते हैं।

अंग्रेजी कथा साहित्य के दो प्रमुख रूप रहे हैं जिन्हें 'रोमान्स' और 'नावल' (उपन्यास) कहा गया है। क्लारा रीव ने सन् १७८५ में इन दोनों का भेद दिखाते

हुए लिखा था : "उपन्यास वास्तविक जीवन का और इसके रीति-व्यवहार का और उस गुण का चित्र होता है जिसमें इसकी रचना की जाती है। रोमान्स में भड़कीली और काव्यात्मक भाषा में उन चीजों का वर्णन किया जाता है जो न तो कभी घटित हुई हैं और न ही आगे कभी घटित हो सकती हैं।"

उपन्यास यथार्थवादी होता है; रोमान्स काव्यात्मक या महाकाव्यात्मक होता है। अब आगे हम इसे 'मिथक' कहेंगे। ऐन रैडक्लिफ, सर वाल्टर स्काट, हाथार्न 'रोमान्स' के लेखक हैं। फैनी बर्नी, जेन आस्टेन, ऐन्थनी ट्रालप, और जार्ज गिसिग उपन्यासकार हैं। ये दोनों रूप जो एक दूसरे से बिल्कुल अनमेल हैं, गद्य-कथा के दोहरे विकास को प्रकट करते हैं। उपन्यास का विकास गैर-काल्पनिक कथारूपों—पत्र, डायरी, संस्मरण या जीवनचरित, वार्ता या इतिहास—से हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इसका विकास दस्तावेजों से हुआ है। शैली की दृष्टि से इसमें यथार्थ की एक-एक बारीकी पर बल दिया जाता है। कुछ संकीर्ण अर्थ में कहें तो इसमें "अनुकरण" पर बल दिया जाता है। दूसरी ओर रोमान्स में महाकाव्यों की या मध्यकालीन रोमान्सों की परम्परा जीवित है। इसमें हर दृष्टि से यथार्थ का सादृश्य उपस्थित करने (जैसे अलग-अलग आदमियों की बातचीत को कथोपकथन में प्रस्तुत करने) की उपेक्षा की जा सकती है, इसमें किसी उच्चतर वास्तविकता या गहनतर मनोविज्ञान को विषय बनाया जा सकता है। हाथार्न ने लिखा है कि "जब कोई लेखक अपनी कृति को रोमान्स की संज्ञा दे रहा हो तो यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि वह इसकी वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से छूट पाने का दावा कर रहा है।"....."यदि इस तरह के रोमान्स का आधार अतीत काल को बनाया गया है तो ऐसा इसलिए नहीं किया गया है कि इसमें अतीत की जैसी की तैसी तस्वीर उतारी जायेगी, बल्कि जैसा कि हाथार्न ने ही एक अन्य स्थान पर कहा है इसका लक्ष्य होता है, 'एक तरह का काव्यात्मक... माहौल तैयार करना जहाँ वास्तविकताओं पर... बहुत अधिक बल नहीं दिया जायेगा।..."

उपन्यास का विश्लेषण करते हुए जो आलोचना लिखी गयी है, उसमें इसके तीन नियामक तत्व आम तौर पर गिनाये गये हैं और ये हैं कथानक, चरित्रचित्रण और परिवेश। इनमें से तीसरा तत्व इतना प्रतीकात्मक है कि इसे कुछ आधुनिक सिद्धान्तों में 'वातावरण' या 'टोन' की संज्ञा दी गयी है। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं है कि ये तीनों तत्व एक दूसरे का निर्धारण करते हैं। हेनरी जेम्स ने अपने लेख 'द आर्ट आफ फिक्शन' में ठीक ही प्रश्न किया है,

'चरित्र घटनाओं के निर्धारण से अलग है ही क्या? और घटनाएँ चरित्र के निदर्शन से इतर क्या हैं?'

किसी नाटक, कहानी, या उपन्यास के आख्यानात्मक ढाँचे को कथानक या प्लाट कहा जाता रहा है; और संभवतः इस शब्द को इसी अर्थ में बनाये रखा जाना चाहिए। लेकिन साथ ही यह भी है कि इसे इतने व्यापक अर्थ में लिया जाना चाहिए कि इसमें हार्डी, बिल्की कालिन्स और पो के साथ ही साथ चेकाफ, फ्लाबेयर और हेनरी जेम्स को भी समेटा जा सके: इसे गाडविन के कैलेब विलियम्स की तरह एक दूसरे से नथी-जुड़ी घटनाओं के ढाँचे तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए। हम तो कथानकों का भेद करते हुए शिथिल और जटिल कथानकों की, 'रोमाण्टिक' और 'यथार्थवादी' कथानकों की बात करेंगे। किसी साहित्यिक संक्रमण के काल में कोई उपन्यासकार ये दोनों तरह की रचनाएँ लिखने की बाध्यता महसूस कर सकता है, इनमें से एक प्रकार का लेखन किसी समाप्तप्राय प्रकार में से जन्म ले सकता है। हाथार्न के **द स्कार्लेट लेटर** के बाद के उपन्यासों में बहुत भद्दे और पुराने ढंग के रहस्यपूर्ण कथानक चुने गये हैं, जब कि इनके वास्तविक कथानक अधिक शिथिल और यथार्थवादी ढंग के हैं। डिकन्स ने अपने बाद के उपन्यासों के रहस्यपूर्ण कथानकों में बहुत विचक्षणता का परिचय दिया है, जो उपन्यास की रुचि के मूल केन्द्र से मेल नहीं भी खा सकता है। **हकलबरी फिन** का अन्तिम तीसरा अंश शेष से स्पष्ट रूप से घटिया है और लगता है इस अंश को लिखते समय लेखक के मन में यह भाव काम कर रहा था कि लेखक का एक उत्तरदायित्व 'कथानक' का संयोजन भी है। इस बिन्दु तक आने पर असल कथानक काफी आगे बढ़ आया था: यह वास्तव में एक मिथक कथानक है जिसमें रूढ़िवादी समाज से अलग-अलग कारणों से भागे हुए चार व्यक्तियों का एक बहुत बड़ी नदी में एक बेड़े पर मिलन दिखाया गया है जहाँ से वे आगे की यात्रा एक साथ करते हैं। सबसे प्राचीन और सार्वभौम कथानकों में से एक है जल या स्थल से यात्रा--**हक फिन, मोबी डिक, पिलग्रिम्स प्रोग्रेस, डान क्विक्सट, पिकविक पेपर्स, द ग्रेप्स आफ राथ**। कथानकों की बात करते समय हम आदतन सभी कथानकों में संघर्ष (कृति से जूझता हुआ मनुष्य, या दूसरे मनुष्यों से जूझते हुए मनुष्य, या अप प्राप से जूझते हुए मनुष्य) की भी बात करते हैं; लेकिन इस शब्द के साथ ी कथानक की ही तरह बहुत अधिक छूट लेनी होगी। संघर्ष कुछ 'नाटकीय' शब्द है, इससे दोनों पक्षों में लगभग समान शक्तियों के बीच द्वन्द्व

की, क्रिया और प्रतिक्रिया की झलक मिलती है। लेकिन इसके बावजूद ऐसे कुछ कथानक पाये जाते हैं जिनमें एक ही धारा या दिशा पायी जाती है जैसे अनुधावन या पीछा करने के कथानक जिसके उदाहरण हैं **कैलेब विलियम्स, द स्कार्लेट लैटर, क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट** और काफ़्का का **ट्रायल**।

कथानक (या आख्यानात्मक ढाँचा) स्वयं भी छोटे-छोटे आख्यानात्मक ढाँचों (पताका, प्रकरी) से निर्मित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो बड़े और अधिक समन्वयकारी साहित्यिक ढाँचों (त्रासदी, महाकाव्य, उपन्यास) का विकास हास्य-व्यंग्य, कहावत, दन्तकथा, पत्र आदि अधिक आदिम रूपों से हुआ है; और नाटक या उपन्यास का ढाँचा अनेक ढाँचों का मिला-जुला रूप होता है। रूसी रूपवादी और डाइबेलियस जैसे विधा-विश्लेषक कथानक के आद्य तत्वों को 'मोटिव' (फ्रेंच मोतीफ, जर्मन मोटीव) की संज्ञा देते हैं। साहित्य के इतिहासकार इस अर्थ में जो मोटिव शब्द का प्रयोग करते हैं वह फिनलैण्ड के लोककथा के विशेषज्ञों का दिया हुआ है, जिन्होंने परीकथाओं और लोककथाओं के अंगों का विश्लेषण किया है। साहित्य में इसके जो स्पष्ट उदाहरण पाये जाते हैं वे हैं गलत पहचान (**कामेडी आफ एरर्स**); किसी बूढ़े का किसी किशोरी से विवाह (**'जैनुअरी एण्ड मे'**); पिता के प्रति अकृतज्ञता (**लीअर, पीयरे गैरियो**); बच्चे द्वारा अपने पिता की तलाश (**यूलिसिज़** और **द आडेसी**)।

हम जिसे उपन्यास का संपुंजन (कम्पोजीशन) कहते हैं, उसे ही जर्मन और रूसी 'अभिप्रेरण' (मोटिवेशन) की संज्ञा देते हैं। यह शब्द बहुत सुन्दर है और इसे अंग्रेजी में भी ग्रहण कर लिया जाना चाहिए, क्योंकि यह संरचनागत या आख्यानात्मक रचना का तो संकेत देता ही है, साथ ही यह मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, या दार्शनिक सिद्धान्त की आन्तरिक संरचना का भी कुछ संकेत करता है—इस बात का संकेत कि लोग जैसा आचरण करते हैं वैसा ही क्यों करते हैं—और अन्ततः कारणता का एक सिद्धान्त भी प्रदान करता है। सर वाल्टर स्काट ने बहुत पहले ही यह दावा किया था कि "किसी वास्तविक वृत्तान्त और गल्प-वृत्तान्त में एक स्पष्ट भेद यह है कि पहले में जिस घटना का वर्णन किया जाता है, वह अपने सुदूर कारणों को देखते हुए अस्पष्ट हुआ करती है... जब कि दूसरे में लेखक का यह कर्त्तव्य होता है... कि वह हर चीज का ब्यौरा दे।"

संपुंजन या अभिप्रेरण (अपने व्यापकतम अर्थ में) में कथाविधि : "विस्तार"

(स्केल), 'गति' (पेस); शिल्प : दृश्यों या घटनाओं को चित्र या सीधे कथात्मक वर्णन के अनुपात में रखना और इन दोनों को कथासार के अनुपात में रखना।

मोटिफों और शिल्प की अपनी कालानुरूप प्रकृति होती है। गाथिक रोमान्स की अपनी कथारूढ़ियाँ (मोटीफ) और शिल्प युक्तियाँ थीं; यथार्थवादी उपन्यास की अपनी डाइबेलिथ स्थान-स्थान पर यह उल्लेख करते हैं कि डिकन्स के उपन्यासों में पाया जाने वाला यथार्थवाद प्रकृतिवादी उपन्यासों में पाये जाने वाले यथार्थ से भिन्न है। उनमें जिन शिल्प-युक्तियों का उपयोग किया गया है वे पुराने ढंग की अतिनाटकीय कथानक रूढ़ियों की याद दिलाती हैं : जिस आदमी को मृत समझ लिया गया था वह एकाएक जी उठता है, या कोई बच्चा अनाथ का जीवन बिताता है और अन्त में उसके असल माता-पिता का पता चल जाता है, या कोई रहस्यमय परोपकारी व्यक्ति अन्ततोगत्वा सजायाफ्ता अपराधी सिद्ध होता है।

किसी साहित्यिक कला-कृति में 'अभिप्रेरण' से 'यथार्थ का भ्रम', अर्थात् उसका 'सौन्दर्यात्मक प्रयोजन' अवश्य बढ़ना चाहिए। यथार्थवादी अभिप्रेरण एक कलात्मक युक्ति है। कला में प्रतीयमान वस्तु-सत्य से अधिक महत्वपूर्ण होता है।

रूसी रूपवादियों ने 'फेबल' का, काल तथा कारण के अनुक्रम का, जो किसी भी तरह बयान किया जाये पर है 'कहानी' या कथात्मक अंश ही, और 'सुजेत' का जिसे हम 'आख्यानात्मक ढाँचा' कह सकते हैं, विभेद किया है। 'फेबल' समस्त कथानक-रूढ़ियों का कुल योग है, जब कि 'सुजेत' कथानक-रूढ़ियों का कलात्मक रीति से प्रस्तुतीकरण है, (जो बहुधा बिल्कुल भिन्न होता है)। इसके जो उदाहरण देखने में आते हैं वे हैं काल-विषयक विस्थापन जैसे आरंभ का मध्य में आना, जैसा कि **आडेसी** या **बार्नबाई रुज** में मिलता है; कथा का आगे और पीछे दोनों ओर प्रवाह, जैसा कि फाकनर के **ऐबसेलम ऐबसेलम** में पाया जाता है। फाकनर के **ऐज आई लाई डाइंग** में कथा का 'सुजेत' इस तरह रखा गया है कि इसमें कहानी अपनी माता की लाश को दूरस्थ कब्रिस्तान की ओर ले जाते हुए एक परिवार के सदस्य बारी-बारी से सुनाते हैं। 'सुजेत' किसी विशेष दृष्टिविन्दु से 'आख्यान के संगम स्थल में से प्रस्तुत कथानक' है। यों कह सकते हैं कि 'फेबल' गल्प की 'मूल सामग्री' (लेखक का अनुभव, अध्ययन आदि) का निचोड़ है, (सुजेत फेबल का निचोड़ है); या इससे

अच्छा यह कहना रहेगा कि यह आख्यान करने वाले की दृष्टि का अधिक तीक्ष्ण या स्पष्ट संगम है।

फेबल के काल (फेबल टाइम) में कहानी की परिधि में आने वाला समस्त काल आता है। परन्तु 'आख्यान' का काल 'सुजेत' के अनुसार होता है। यह कहानी पढ़ने या अनुभव करने का समय होता है, जिसका नियंत्रण निसन्देह लेखक करता है जो कुछ ही वाक्यों में वर्षों की दूरी पार कर जाता है पर किसी नृत्य या चायपार्टी पर दो लम्बे अध्याय लिख डालता है।

चरित्र-चित्रण का सबसे सीधा ढंग है नाम देना। प्रत्येक 'नामकरण' एक तरह से 'जीवन डालने,' 'प्राण फूँकने' और 'पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करने' जैसा होता है। अठारहवीं शताब्दी की कामदियों में 'प्रतीकात्मक' या 'प्रतीकात्मक' जैसे नाम देखने में आते हैं, जैसे—फील्डिंग के आलवर्दी, और श्वाकम, विट वुड, मिसेज माला प्राप, सर बेंजामिन बैकवाइट जिनमें जानसन, बनयान, स्पेंसर और एब्रीमैन की झलक दिखाई देती है। परन्तु इससे भी अधिक कौशलपूर्ण चलन एक तरह का ध्वन्यनुकरण मूलक नाम देने का रहा है, जिसमें डिकन्स और हेनरी जेम्स, बाल्जक और गोगोल जैसे एक-दूसरे से अनमेल लेखक एकसमान सिद्धहस्त रहे हैं इसके उदाहरण हैं पेकस्निफ, पम्बलचूक, रोज़ा डार्टल (डार्ट—भाला; स्टार्टल—चौंकना) मि० और मिस मर्डस्टन (मर्डर—हत्या; स्टोनी हार्ट—वज्र हृदय) जैसे प्रयोग। मेलविल के ऐहब और इसमाइल जैसे चरित्र इस बात के उदाहरण हैं कि साहित्यिक—इस दृष्टान्त में बाइबिल की—शब्दों की व्यंजनाओं से थोड़े से ही शब्दों में कितना सफल चरित्र-निरूपण किया जा सकता है।

चरित्र-चित्रण के कई प्रकार हो सकते हैं। स्काट जैसे पुराने खेवे के उपन्यासकार अपने प्रत्येक प्रमुख चरित्र का परिचय एक पैराग्राफ में उनकी शारीरिक बनावट ही हर बारीकी का चित्रण करते हुए और एक दूसरे पैराग्राफ में उनकी नैतिक और मनोवैज्ञानिक प्रकृति का विश्लेषण करते हुए देते हैं। लेकिन पूरे चरित्र की झलक एक साथ देने के इस रूप को एक परिचयात्मक लेबल ही माना जा सकता है। या यह लेबल स्वांग या मूक अभिनय—किसी रीति, भंगिमा, या उक्ति —का रूप ले सकती है। इसे जैसा कि डिकेन्स में देखने में आता है, जब-जब पात्र फिर प्रवेश करता है, बार-बार दुहराया जाता है और इस तरह यह एक प्रतीकात्मक गुण-समुदाय का काम करता है। श्रीमती ग्यूमिज "हमेशा अपने बूढ़े चाचा को याद करती रहती हैं; यूरिया हीथ

का तकिया कलाम है 'अम्बल' और साथ ही वह हमेशा अपने हाथों को एक खास अन्दाज में घुमाती रहती हैं; हाथार्न कभी-कभी किसी ठेठ प्रतीक से ही चरित्र-चित्रण करते हैं जैसे जैनोबिया के लाल फूल या वेस्टर बेल्ट के नकली दाँत। जेम्स की रचना **द गोल्डन बाउल** में एक पात्र दूसरे को प्रतीकात्मक रूप में देखता है।

चरित्र-चित्रण स्थिर और गतिशील या विकासपरक दोनों ही तरह का हो सकता है। इसमें दूसरे तरह का चरित्र-चित्रण **वार एण्ड पीस** जैसे लम्बे उपन्यासों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होता है, जबकि नाटक के लिए जिसका कि वर्णन-काल सीमित होता यह उसकी अपेक्षा कम उपयुक्त रहा है। नाटक में, (जैसे कि इब्सन के नाटकों में) यह बताया जा सकता है कि कोई चरित्र जैसा है वैसा किस कारण बना है; उपन्यास में इस परिवर्तन को घटित होते दिखाया जा सकता है। 'सपाट' चरित्र-चित्रण (जो आम तौर पर स्थिर चरित्र-चित्रण से बहुत अंशों में मिलता-जुलता है) में एक ही चरित्र-गत लक्षण को सबसे प्रभावशाली या सामाजिक रूप से व्यक्त लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यह कैरिकेचर या विद्रूप-चित्रण हो सकता है या सारग्राही आदर्शीकरण हो सकता है। क्लासिकल नाटक (जैसे रसीन के नाटक) में इसे प्रधान पात्रों पर घटित किया जा सकता है। सर्वांगीण चरित्र-चित्रण जिसमें 'गतिशील' चरित्र-चित्रण की भाँति स्थान और काल की अपेक्षा होती है, दृष्टिकोण या दिलचस्पी पैदा करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण पात्रों के लिए उपयोग में आ सकता है। अतः इसका सामान्य पृष्ठभूमि में सामान्यतः पृष्ठ-भूमि में आने वाले पात्रों—पात्र-वृन्द—के वर्णन में 'सपाट' चित्रण के साथ मिला कर प्रयोग किया जाता है।

चरित्र-चित्रण (साहित्यिक पद्धति) और चरित्र-विज्ञान (चरित्र और व्यक्तित्व के प्रकार-भेद सम्बन्धी सिद्धान्त) के बीच स्पष्टतः किसी न किसी तरह का सम्बन्ध अवश्य है। पात्रों के कुछ प्रकार-भेद हैं जो अंशतः साहित्यिक परम्परा से और अंशतः लोक-मानव-विज्ञान से निर्धारित होते हैं और उप-न्यासकार इनका उपयोग करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी और अम-रीकी कथा-साहित्य में हमें काले और भूरे बालों वाले व्यक्ति, स्त्री-पुरुष (हीथ-क्लिफ, रावेस्टर; बेकी शार्प; मैगी ट्यूलिवर; जैनोबिया; मिरियम; लीजिया) और सुनहले बालों वाली रमणियाँ (एमीलिया सेडली, लूसी डान; और हाथार्न की हिल्डा, प्रिसिला, और फीबी; तथा पो की लेडी रोवेना) मिलती हैं।

स्वर्णकेशी महिलायें घरेलू, अनुत्तेजक, परन्तु स्थिरचित्त और मधुर प्रकृति की हैं। काले भूरे बालों वाले, कामुक, उग्र, रहस्यमय, मोहक और अविश्वसनीय पात्र हैं जिनमें ऐंग्लो सैक्सन दृष्टिकोण से पूर्वी, यहूदी, स्पेनी और इटालवी विशेषताएँ इकट्ठी चित्रित की गयी हैं।

नाटकों की ही तरह उपन्यासों में भी हमें एक साथ लगे-जुड़े अनेक चरित्र—नायक, नायिका, खलनायक, गौण पात्र (या 'हास्य चरित्र' या मसखरे) दिखाई देते हैं। इनमें बालक, युवा और वृद्ध (पिता, माँ, क्वाँरी बुआ, बूढ़ी महिला, या धाय) सभी पाये जाते हैं। लैटिन परम्परा की नाट्य कला में (प्लाटिनस और टेरन्स, जानसन और मोलियर) बिल्कुल स्पष्ट और परम्परागत चरित-भेदों—कंजूस पिता, दुष्ट नौकर आदि —का उपयोग करते हैं। परन्तु डिकेन्स जैसा कोई महान उपन्यासकार अठारहवीं शताब्दी के रंगमंच और उपन्यासों के उपयुक्त टाइपों को अपनाता और रूपान्तरित करता है। डिकन्ज ने केवल दो नये टाइप प्रस्तुत किये हैं—असहाय बूढ़े और बच्चे, और स्वप्नजीवी या खयाली दुनिया में रमने वाले लोग।

साहित्यिक पात्र-टाइपों के लिए जो भी अन्तिम सामाजिक और मानव-वैज्ञानिक आधार हों परन्तु बिना वैज्ञानिक प्रमाणों की सहायता के, उपन्यासों से ही इनके भाव-व्यंजक प्रतिरूप तैयार किये जा सकते हैं और ऐसा करने पर हम आमतौर पर पायेंगे कि इनकी एक लम्बी साहित्यिक और ऐतिहासिक परम्परा चली आई है।

परिवेश—वर्णन (जो आख्यान से अलग है) के साहित्यिक तत्व—की ओर ध्यान दें तो इससे पहली दृष्टि में तो ऐसा लगता है कि इससे ही 'कथा' और नाटक का अलगाव होता है; पर इस पर गहराई से विचार करने पर लगेगा कि इसका सम्बन्ध साहित्य के युग-विशेष से है। नाटक हो चाहे उपन्यास, परिवेश की ओर अधिक ब्योरेवार ध्यान सभी कालों और भाषाओं में नहीं दिया गया—यह केवल स्वच्छन्दतावादी और यथार्थवादी कालों (अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी) में दिया गया है। नाटक में परिवेश को या तो शाब्दिक रूप में दिखाया जा सकता है (जैसा कि शेक्सपियर में देखने में आता है) या दृश्य तैयार करने वालों और बढ़इयों को मंच-विषयक निर्देश देकर तैयार कराया जा सकता है। शेक्सपियर के नाटकों में कुछ दृश्यों को निश्चित नहीं किया जा सकता, उनकी पूरी रूपरेखा नहीं दी जा सकती। परन्तु उपन्यासों के भीतर भी परिवेश का वर्णन बहुत अंशों में बदल सकता है। फील्डिंग और

स्मालट की भाँति जेन आस्टेन भी भीतरी या बाहरी दृश्य का शायद ही कहीं वर्णन करती हैं। जेम्स के आरंभिक उपन्यासों में, जिनकी रचना बाल्ज़क से प्रभावित होकर की गयी है, घर का और प्राकृतिक दृश्यों का एक-एक ब्योरा दिया गया है; पर बाद के उपन्यासों में इसके बजाय कि दृश्य देखने में कैसे लगते हैं, प्रतीकात्मक रूप में यह चित्रित किया गया है कि अपनी समग्रता में वे अनुभव कैसे होते हैं।

स्वच्छन्दतावादी वर्णन में एक मनःस्थिति तैयार करने और उसे बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें टोन, या प्रभाव कथानक और चरित्र-चित्रण पर हावी रहते हैं--इसके उदाहरणस्वरूप श्रीमती रैडक्लिफ और पो को रखा जा सकता है। प्रकृतिवादी वर्णन ऊपर से देखने पर एक बहुत यथार्थ सा मालूम होता है—यह विस्तृत ब्योरा यथार्थ का भ्रम पैदा रने के लिए दिया जाता है (डिफो, स्विफ्ट, ज़ोला)।

परिवेश ही पर्यावरण है; और पर्यावरण को, विशेषतः घर के भीतर के ब्योरों को चरित्र की आलंकारिक अभिव्यक्ति के रूप में दर्शाया जा सकता है। किसी व्यक्ति का घर उसके अपने अस्तित्व का ही विस्तार होता है। इसका वर्णन करने से उसका वर्णन भी हो जाता है। बाल्ज़क ने कंजूस ग्रान्दे या पेंशन वाकर के घर का जो विस्तृत ब्योरा दिया है वह न तो असंगत है, न ही अनावश्यक। ये घर अपने मालिकों की अभिव्यक्ति करते हैं; दूसरे किसी आदमी को, जिसे उनमें रहना पड़े, ये पर्यावरण के रूप में प्रभावित करते हैं। छोटे बुर्जुआ वर्ग का पेंशन का त्रास रैस्टिगनेक की और एक दूसरे अर्थ में वात्रिन की प्रतिक्रिया से तत्काल पैदा हो जाता है, जब कि गोरियो के अधःपतन के ब्योरे इसके हर वर्णन के बाद दिये गये वैभव के विवरणों से निरन्तर वैषम्य प्रस्तुत करते हैं।

परिवेश से व्यक्ति के संकल्प की भी अभिव्यक्ति हो सकती है। यदि यह प्राकृतिक परिवेश हुआ तो यह संकल्प का ही प्रक्षेप हो सकता है। आत्म-विश्लेषक ऐमिएल ने कहा है कि 'प्रकृति-चित्र एक मनोदशा हुआ करता है।' मनुष्य और प्रकृति के बीच कुछ स्पष्ट अन्तःसम्बन्ध हुआ करते हैं, जिनकी अनुभूति बहुत तीक्ष्णता से स्वच्छन्दतावादियों ने की थी यद्यपि ऐसा करने वाले वे ही एकमात्र लोग नहीं थे। एक उग्र, तूफानी स्वभाव का नायक तूफान में बाहर निकल पड़ता है। खुशदिल व्यक्ति को धूप और उजाले से अधिक प्रेम होता है।

इसके अतिरिक्त, परिवेश क्रियाओं और घटनाओं का बहुत बड़ा निर्धारक भी हो सकता है—भौतिक और सामाजिक कारण के रूप में दर्शाया गया पर्यावरण, एक ऐसी चीज जिसके ऊपर व्यक्ति का अपना लगभग कुछ भी नियंत्रण नहीं होता। परिवेश हार्डी का एडगन हीथ या लेविस का जेनिथ हो सकता है। अनेक आधुनिक उपन्यासों में महान नगर (पेरिस, लन्दन, न्यूयार्क) अत्यन्त सजीव चरित्रों के रूप में चित्रित किये गये हैं।

कहानी पत्रों और डायरियों के माध्यम से भी बयान की जा सकती है। या, यह चुटकुलों यानी छोटी-छोटी घटनाओं के वर्णन से आकार ग्रहण कर सकती है। अनेक चुटकुलों को मिलाकर तैयार की गयी कहानी, ऐतिहासिक दृष्टि से चुटकुले और उपन्यास के बीच की चीज है। **डिकैमरा** में कहानियों को विषय के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। **कैण्टरबरी टेल्स** में इस तरह के विषयों (जैसे विवाह) के वर्गीकरण के साथ-साथ कहानी के द्वारा कहानी कहने वाले के चरित्र-चित्रण की और कुछ थोड़े से पात्रों के जो आपस में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तनावों से ग्रस्त रहते हैं, चरित्र-चित्रण की उद्भावना की गयी है। अनेक कहानियों के गुम्फन से तैयार कहानी का एक स्वच्छन्दतावादी रूप भी होता है : इर्विंग के **टेल्स आफ ए ट्रैवेलर** और हाफमैन की कहानी **टेल्स आफ सेरेपियन ब्रदरेन** इसके उदाहरण हैं। गाथिक उपन्यास **मेलमाथ द वाण्डरर** अलग-अलग कहानियों को शिथिल ढंग से एक में जोड़ कर गढ़ा गया एक अजीब पर निश्चय ही प्रभावकारक समूह है—समानता इनमें यही है कि इन सबमें आतंक का स्वर पाया जाता है।

एक दूसरा तरीका जो आज कल प्रयोग में नहीं आता, उपन्यास में ही सम्मिलित कहानी का है (जैसे **टाम जोन्स** में एक पहाड़ी आदमी की कहानी; विल्हम माइस्टर में 'एक पुण्यात्मा की अपराध स्वीकृति')। ऐसा करने के दो कारण हैं—एक तो किसी कृति के आकार की वृद्धि के लिए भरती का प्रयास और दूसरा वैविध्य की खोज। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति विक्टोरिया युगीन तिहरे कथानकों वाले उपन्यासों में अधिक अच्छी तरह होती है, जिनमें दो या तीन कथानकों को बारी-बारी से आगे बढ़ाया जाता था और अन्त में इन सबको एक में जोड़ दिया जाता था—अनेक कथानकों को एक-दूसरे में मिलाने का प्रयोग एलिजबेथ काल में ही किया जाने लगा था और प्रायः इसमें उनको अद्भुत सफलता मिली थी। अगर इन कथानकों को कलात्मक ढंग से सँभाला जाय तो एक कथानक दूसरे के समानान्तर चलता है (**लीयर** में) या प्रहसन या

पैरोडी का काम करता है, और इस तरह दूसरे कथानक में अन्तर्गर्भित रहता है।

उत्तम पुरुष में कहानी कहने की पद्धति को दूसरी पद्धतियों की तुलना में रख कर बहुत सावधानी से परखना होगा। यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि इस तरह कथा कहने वाला व्यक्ति लेखक स्वयं होता है। उत्तम पुरुष में कथा कहने के प्रयोजन और प्रभाव दोनों बहुत अलग-अलग हुआ करते हैं। कभी-कभी इसके प्रभाव स्वरूप कथा कहने वाला पात्र दूसरे पात्रों से कम स्पष्ट और सजीव बन जाता है (डेविड कापरफील्ड)। दूसरी ओर माल फ्लाण्डर्स और हक फिन अपनी कहानियों के प्रधान पात्र हैं। पो की उत्तम पुरुष में बयान की गयी कहानी 'द हाउस अशर' में पाठक अशर के तटस्थ मित्र से अपना अभेद कर बैठता है और तबाही की अन्तिम घड़ी में उसके साथ ही साथ विरत हो जाता है; परन्तु इसका उन्मादी या विक्षिप्त प्रधान पात्र अपनी ही कहानी 'लीगिया', 'बेरेनिस' और 'द टेल-टेल हार्ट' में सुनाता है; कहानी बयान करने वाला व्यक्ति, जिसके साथ हमारा तादात्म्य नहीं हो पाता, अपना अपराध स्वीकार कर रहा है, वह जो कुछ हमें बताता है और जिस ढंग से बताता है उसी के माध्यम से उसका चरित्रचित्रण होता चलता है।

एक रोचक प्रश्न यह है कि कोई कहानी किस रूप में बनी रहना चाहती है। कुछ कहानियों के साथ अच्छी खासी भूमिका दी गयी रहती है (**कैसल आफ आट्रैण्टो, टर्न आफ द स्क्रू, स्कार्लेट लेटर**) असल कहानी इस तरह प्रस्तुत की जाती है कि इसे 'क' ने 'ख' को सुनाया था, या इसकी पाण्डुलिपि 'क' ने 'ख' को दी थी जिसने संभवतः 'ग' की जीवन-कथा लिखी थी और इस तरह लेखक या पाठक को इससे बिल्कुल असम्पृक्त रखा जाता है। उत्तम पुरुष में वर्णित पो की कहानियाँ कभी तो स्पष्टतः नाटकीय एकालाप (एमाण्टिलेडो) होती हैं, कभी ग्लानि से पीड़ित किसी व्यक्ति द्वारा अपने हृदय का बोझ हल्का करने के उद्देश्य से कही जातीं हैं ('द टेल-टेल हार्ट')। कभी-कभी इसकी अवधारणा स्पष्ट नहीं हो पाती—'लीगिया' में हम यह समझें कि कहानी कहने वाला व्यक्ति अपने आप से बातचीत कर रहा है या यह कि वह अपने ही त्रास की भावना को उभारने के लिए अपनी कहानी का मानसिक अवलोकन कर रहा है?

कथा वर्णन की पद्धति की सबसे प्रमुख समस्या है कि लेखक का अपनी

कृति से क्या सम्बन्ध होता है। नाटक का लेखक नाटक में कहीं सामने नहीं आता, वह इसकी आड़ में रहता है, लेकिन महाकाव्य का लेखक अपनी कहानी एक पेशेवर किस्सागो की तरह बीच-बीच में अपनी ओर से भी कुछ जोड़ता हुआ कहता है और कथा को बिल्कुल अपनी शैली में (कथोपकथन से भिन्न) प्रस्तुत करता है।

इसी तरह उपन्यासकार कोई ऐसी कहानी सुना सकता है जिसके विषय में उसे इस बात का रंच मात्र भी दावा न हो कि उसने स्वयं इसे देखा या इसमें भाग लिया है। वह 'सर्वदर्शी लेखक' की तरह इसे प्रथम पुरुष में लिख सकता है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि कथा कहने का यही परम्परागत और 'स्वाभाविक' ढंग है। लेखक अपनी कृति के पास ही उपस्थित रहता है जैसे व्याख्याता बाइस्कोप या डाकुमेण्टरी फिल्म के साथ लगा रहता है।

महाकाव्य की मिश्रित वर्णन-शैली से भिन्न दो और वर्णन शैलियाँ हैं। इनमें से एक में, जिसे स्वच्छन्दतावादी व्याजोक्ति शैली कहा जा सकता है, कथा कहने वाले का महत्व जान-बूझ कर बहुत बढ़ा दिया जाता है, ऐसे हर संभव भ्रम को तोड़ने में कि यह 'वास्तविक घटना' है न कि 'कल्पित', लेखक आनंद लेता है और पुस्तक में लिखे साहित्यिक चरित्र पर बल दिया जाता है। इस धारा के स्थापक स्टर्न हैं, और विशेषत: **ट्रिस्ट्रैम शैण्डी** में; जर्मनी में इसके बाद इस शैली को अपनाने वाले जीन पाल रिक्टर, टीक और रूस में वेल्टमैन और गोगोल रहे। **ट्रिस्ट्रैम** को उपन्यास-लेखन विषयक उपन्यास कहा जा सकता है और यही बात ज़ीद के **ले फॉ मेनायो** और **प्वाइण्ट काउण्टरप्वाइण्ट** के विषय में भी कही जा सकती है। थैकरी का **वेनिटी फेयर**, जिसकी कथा में बार-बार यह याद दिलाया जाता है कि ये पात्र उसके गढ़े हुए पुतले हैं—इसी साहित्यिक जाति में आता है जिसमें यह याद दिलाया जाता है कि यह साहित्य साहित्य के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

उपन्यास का दूसरा विपरीत लक्ष्य है 'वस्तुनिष्ठ' या 'नाटकीय' पद्धति, जिसके पक्ष में तर्क देने वाले और जिसे आधार बना कर लेखन करने वाले रहे हैं जर्मनी में ओटो लुडविग, फ्रान्स में फ्लाबेयर, मोपांसां और इंग्लैण्ड में हेनरी जेम्स। इस पद्धति के उन्नायक कलाकारों के साथ ही साथ इसके आलोचकों ने भी इसे एक मात्र कलात्मक शैली माना है (इस कट्टरपन्थी विचारधारा को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है)। इसका बहुत प्रशंसनीय विवेचन परसी लबक ने अपनी पुस्तक **क्रैफ्ट आफ फिक्शन** में किया है जो हेनरी जेम्स

के औपन्यासिक सिद्धान्त और व्यवहार पर आधारित उपन्यास का एक काव्य-शास्त्र है।

हालाँकि 'वस्तुनिष्ठ' शब्द का प्रयोग करना अधिक अच्छा है, क्योंकि 'नाटकीय' का अर्थ 'कथोपकथन' या (विचारों और भावनाओं के आन्तरिक लोक से अलग) क्रिया या आचरण हो सकता है; परन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस आन्दोलन की प्रेरणा नाटक और रंगमंच से ही मिली थी। ओटो लुड-विग ने अपने सिद्धान्त मुख्यतः डिकन्स पर आधारित किये थे जिन्होंने मूक अभिनय और चरित्र-चित्रण के लिए बने बनाये मुहाविरे अठारहवीं शताब्दी की कामदियों और प्रहसनों से लिये थे। डिकन्स कथा कहने के स्थान पर कथा को सदा संवाद और अंगचेष्टा में प्रस्तुत करते हैं। वह किसी चीज के विषय में हमें बताने के स्थान पर उसे दिखाते हैं। उपन्यास के बाद के रूपों में दूसरे और अधिक सूक्ष्म नाटकों से शिक्षा ग्रहण की गयी है जैसे जेम्स ने इब्सन के नाटकों से लाभ उठाया था।

वस्तुनिष्ठ पद्धति को केवल संवाद और सूचित व्यवहार तक ही सीमित नहीं मान लेना चाहिए। जेम्स का उपन्यास 'द आकवर्ड एज' और हेमिंग्वे की कहानी 'द किलर्स' इसके उदाहरण माने जा सकते हैं। इस तरह की सीमा खड़ी करने से उपन्यास और नाटक में सीधी प्रतिस्पर्धा शुरू हो जायेगी। इसकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि इसमें मनोजगत का भी चित्रण किया जा सकता है जिसे यदि नाटक में दिखाया भी जा सकता है तो बिल्कुल भोंड़े ढंग से ही। इसके आवश्यक तत्व हैं 'सर्वदर्शी उपन्यासकार' का स्वेच्छा से उपन्यास की ओट में रहना, और इसके स्थान पर एक 'नियंत्रित दृष्टिकोण' की उपस्थिति। जेम्स और लबक के मतानुसार उपन्यास 'चित्र' और 'नाटक' प्रस्तुत करता है, जिससे उसका तात्पर्य यह है कि पात्र को इस बात की चेतना है कि (भीतर और बाहर) क्या व्यापार चल रहा है और इस दृष्टि से यह 'दृश्य' से भिन्न वस्तु है—यह कम से कम आंशिक रूप से संवाद रूप में प्रस्तुत किया जाता है और इसमें कुछ विस्तार के साथ कोई महत्वपूर्ण कथा या घटना दिखाई जाती है। 'चित्र' उतना ही वस्तुपरक होता है जितना 'नाटक', फर्क केवल इतना होता है कि यह किसी कुछ विनिर्दिष्ट आत्मनिष्ठ घटनाओं का, अर्थात् किसी एक पात्र की मानसिक घटनाओं का वस्तुपरक वर्णन होता है (जैसे मदाम बावेरी, या स्ट्रेयर), जबकि नाटक में भाषण और आचरण को वस्तुपरक ढंग से पेश किया जाता है। इस सिद्धान्त में यह गुंजायश है कि

'दृष्टिकोण' को किसी एक व्यक्ति से दूसरे पर स्थानान्तरित किया जा सके (जैसे द गोल्डन बाउल के उत्तरार्ध में इसे राजा से रानी के ऊपर मोड़ दिया गया है) शर्त यह है कि यह व्यवस्थित रूप में हो। इसमें लेखक उपन्यास में किसी ऐसे पात्र को भी रख सकता है जो लेखक से मिलता-जुलता हो, यह पात्र चाहे अपने किसी मित्र को कहानी सुनाने वाले के रूप में रखा जा सकता है (कान-राड के यूथ में मार्लो) या एक ऐसी चेतना के रूप में जिसके माध्यम से हर चीज को देखा जा रहा है (दि ऐम्बेसडर्स का स्ट्रेथर) यहाँ बल उपन्यास की आत्मसंगत वस्तुनिष्ठता पर दिया जाता है। यदि लेखक को 'समाधान' की स्थिति से अलग भी उपन्यास में उपस्थित रहना हुआ तो उसे अपने को या अपने प्रति-निधि को उसी आकार और औकात पर लाना होगा जो दूसरे पात्रों की है।

वस्तुनिष्ठ पद्धति का अभिन्न अंग है काल-विषयक प्रस्तुतीकरण जिसमें पाठक पात्रों की प्रक्रिया से होकर गुजरते हैं। इसमें कुछ अंशों तक 'चित्र' और 'नाटक' के साथ 'संक्षिप्त सार' भी आते हैं, जैसे नाटक में 'अंक एक और दो के बीच पाँच दिन का व्यवधान है') परन्तु इसका उपयोग बहुत कम होना चाहिए। विक्टोरिया युगीन नाटको का अन्त करते हुए प्रधान पात्रों के बाद के जीवन, विवाह और मृत्यु आदि का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता था; जेम्स, होवेल्स और इनके समसामयिक दूसरे लेखकों ने इसे खत्म कर दिया क्योंकि उनकी दृष्टि से यह एक भारी कलात्मक गलती है। वस्तुनिष्ठ शैली के अनुसार लेखक को पहले से यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि आगे क्या होने वाला है; उसे केवल अपना चार्ट धीरे-धीरे खोलते जाना चाहिए और ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारी नजर में एक से अधिक पंक्तियाँ एक समय में न आवें। रैमन फर्नेण्डीज़ ने रेसिट अर्थात् कथा वर्णन और रोमन अर्थात् उपन्यास में भेद करते हुए लिखा है कि पहले में जो कुछ घटित हो चुका है उसका इस समय उद्घाटन और वर्णन के नियमों के अनुसार ब्योरा दिया जा रहा है जब कि दूसरे में घटनाओं को सजीव वस्तुओं के क्रम में, समय में, घटित होते दिखाया जाता है।

वस्तुनिष्ठ उपन्यास की एक तकनीकी विशेषता है 'चेतना प्रवाह शैली' जिसे अंग्रेजी में 'स्ट्रीम आफ कांशसनेस' कहा जाता है। अंग्रेजी में इस शब्द का प्रयोग पहली बार विलियम जेम्स ने किया था। इसकी परिभाषा करते हुए ड्यूजार्डिन ने लिखा है कि यह एक ऐसी शैली है जिसमें 'पाठक लेखक की ओर से स्पष्टीकरण या टिप्पणी के रूप में किसी तरह की बाधा के बिना

ही पात्रों के आन्तरिक जीवन में प्रवेश कर जाता है....' और इसमें 'नितान्त निजी विचारों की, अवचेतन के सर्वाधिक निकट पड़ने वाले विचारों की अभिव्यक्ति होती है।....' लबक का कहना है कि **दि ऐम्बेसडर्स** में जेम्स' स्ट्रेथर के मन की कहानी सुनाते नहीं; वह यह कहानी उसी से कहलाते हैं, वह इसे नाटकीय रूप दे देते हैं। 'इन शैलियों का इतिहास और आधुनिक साहित्य में इनकी छाया का अध्ययन करना अभी हाल ही में शुरू हुआ है—इसके प्राचीन उदाहरणों में से एक है शैक्सपियर के नाटकों में आये आत्मालाप; इसका दूसरा उदाहरण है स्टर्न जिन्होंने लाक के विचारों के मुक्त साहचर्य का प्रयोग किया था; 'आन्तरिक विश्लेषण' अर्थात् लेखक द्वारा पात्र के विचारों और भावनाओं का संक्षिप्त विवरण इसका तीसरा प्राचीन उदाहरण है।

गल्प 'संसार' (कथानक, पात्र, परिवेश) के हमारी इस तीसरी परत के संबंध में जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनके दृष्टान्त मुख्यतः उपन्यासों से लिये गये हैं परन्तु एक साहित्यिक कृति के रूप में विचार करते समय इन्हें नाटकों पर भी लागू माना जाना चाहिए। चौथी पर्त, अर्थात् 'अति भौतिक विशेषताओं' की पर्त के विषय में हम देख चुके हैं कि यह गल्प 'संसार' से बहुत निकट सम्बन्ध रखता है, और यह 'जीवन के प्रति दृष्टिकोण' अथवा इस संसार से ध्वनित होने वाले स्वर का समकक्षी है; लेकिन इन विशेषताओं पर मूल्यांकन का विवेचन करते समय हम अधिक सूक्ष्मता से विचार करेंगे।



सत्रह

साहित्यिक विधाएँ

कथा-साहित्य अलग-अलग कविताओं, नाटकों और उपन्यासों का ऐसा संग्रह है जिसे एक सामूहिक नाम दे दिया गया है? हमारे युग में इस तरह का नामरूपवादी (नामिनलिस्टिक) उत्तर विशेषतः क्रोचे ने दिया है। उनके उत्तर से यह बात तो समझ में आती है कि यह घोर शास्त्रीय प्राधिकारवाद की एक प्रतिक्रिया है, परन्तु इसने साहित्यिक जीवन और इतिहास के तथ्यों के साथ न्याय नहीं किया है।

साहित्यिक वर्ग निरा एक नाम नहीं है, क्योंकि कोई कृति जिस सौन्दर्य-शास्त्रीय रूढ़ि में आती है, उसी से उसके स्वरूप का भी निर्धारण होता है। साहित्यिक वर्गों को संस्थागत विधान माना जा सकता है जो एक ओर तो लेखक को अपने अनुसार मोड़ते हैं और दूसरी ओर जिन्हें लेखक स्वयं भी अपने अनुसार मोड़ता है। 'मिल्टन राजनीति और धर्म के क्षेत्र में इतने मुक्तिवादी होते हुए भी, कविता के क्षेत्र में परम्परावादी थे और जैसा कि डब्ल्यू० पी० केर ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है, वह 'महाकाव्य की अमूर्त धारणा से ग्रस्त' थे, जिन्हें यह स्पष्ट मालूम था कि किसी सच्चे महाकाव्य के क्या नियम हैं, गीतिनाट्य (नाटिका) के क्या नियम हैं, और गीति के क्या नियम हैं।' परन्तु उन्हें यह भी मालूम था कि क्लासिकी विधाओं से कैसे ताल-मेल बैठाया जा सकता है, उन्हें कैसे विस्तार दिया या बदला जा सकता है। जैसे सैम्सन में उन्हें यह मालूम था कि ग्रीक त्रासदी के रूप में वर्णित एक हिब्रू लोककथा के माध्यम से अपनी व्यक्तिगत कहानी कैसे बयान की जा सकती है, वैसे ही उन्हें यह भी मालूम था कि **ईनिड** पर ईसाइयत का और अपना निजी रंग कैसे चढ़ाया जा सकता है।

साहित्य एक संस्था है—जैसे चर्च, विश्वविद्यालय, या राज्य एक संस्था है। इसका अस्तित्व किसी जानवर, या इमारत, गिरजा, पुस्तकालय, या संसद भवन की तरह का नहीं है, अपितु संस्था जैसा है। कोई आदमी किसी विद्यमान संस्था में काम कर सकता है और इसमें काम करते हुए अपनी अभिव्यक्ति कर सकता है, नई संस्थाओं की सृष्टि कर सकता है, या यथासंभव इसके आयोजनों या अनुष्ठानों में भाग लिये बिना अपना काम चला सकता है; वह संस्थाओं में शामिल हो सकता है और फिर उन्हें नया रूप दे सकता है।

विधाओं का सिद्धान्त व्यवस्था का सिद्धान्त है। इसमें साहित्य और साहित्यिक इतिहास का वर्गीकरण समय और स्थान (काल या राष्ट्रीय भाषा) के आधार पर नहीं किया जाता है, अपितु गठन या संरचना के विशिष्ट साहित्यिक टाइपों के आधार पर किया जाता है। किसी भी आलोचनात्मक और मूल्यपरक —ऐतिहासिक अध्ययन से भिन्न—अध्ययन में किसी न किसी रूप में इस तरह की संरचनाओं का विचार करना ही होता है। उदाहरण के लिए किसी कविता के गुण-दोष विचार में कविता के वर्णनात्मक और आदर्शपरक समग्र अनुभव और अवधारणा का विचार आता है (यद्यपि दूसरी ओर किसी व्यक्ति की कविता विषयक अपनी अवधारणा उसके बाद की विशिष्ट कविताओं के उसके अनुभव और निर्णय से सदा बदलती रहती है।)

क्या साहित्यिक वर्गों के सिद्धान्त के साथ यह कल्पना भी लगी हुई है कि प्रत्येक कृति किसी न किसी वर्ग में अवश्य आती है? हमारी जानकारी में यह प्रश्न किसी भी पुस्तक में नहीं उठाया गया है। यदि हम इसका उत्तर प्राकृतिक जगत के सादृश्य पर ढूंढ़ना चाहें तो हम इसके उत्तर में 'हाँ,' कहेंगे : यहाँ तक कि ह्वेल और चिमगादड़ भी किसी न किसी प्राणि-वर्ग में रखे जा सकते हैं, और हम यह भी स्वीकार करते हैं कि कुछ ऐसे भी जीव हैं जो एक प्राणि-वर्ग से दूसरे में संक्रमण की स्थिति में हैं। हम अपने वाक्यों को कुछ ऐसी नयी शब्दावली में रखने का प्रयत्न कर सकते हैं जिससे हमारा प्रश्न अधिक पैना होकर सामने आये। क्या प्रत्येक कृति दूसरी से इतना निकट संबंध रखती है कि इसके अध्ययन में दूसरी कृतियों के अध्ययन से सहायता मिल सके? और फिर विधा की धारणा में 'आशय' (इंटेन्शन) का प्रश्न कहाँ तक खड़ा होता है? इसके उन्नायक (पायोनियर) का आशय? दूसरे लोगों का आशय?

क्या विधाएँ स्थिर बनी रहती हैं? संभवतः नहीं। नयी कृतियों के जुड़ने के साथ ही साथ हमारी श्रेणियाँ बदलती जाती हैं। इस दृष्टि से उपन्यास पर

ट्रिस्टैम शैण्डी या **यूलिसेज़** के प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है। जब मिल्टन ने **पैराडाइज़ लास्ट** की रचना की थी तो उनका यह खयाल था कि यह उसी तरह की रचना है जिस तरह की **ईलियड** तथा **ईनिड** हैं। हम **इलियड** को मौखिक महाकाव्य मानें या न मानें, हमें मौखिक महाकाव्य और साहित्यिक महाकाव्य के बीच फर्क कर लेना होगा। संभवतः मिल्टन यह स्वीकार करने को तैयार नहीं होते कि **फेयरी क्वीन** एक महाकाव्य है, यद्यपि इसकी रचना उस काल में हुई थी जिस काल में महाकाव्य और रोमान्स दोनों मिली-जुली अवस्था में थे और जब महाकाव्य का रूपात्मक (ऐलिगरिकल) स्वरूप बहुत प्राधान्य रखता था, फिर भी स्पेन्सर को यह निश्चित विश्वास था कि वह उसी तरह का काव्य लिख रहे हैं जिस तरह का काव्य होमर ने लिखा था।

सचाई तो यह है कि एक विशिष्ट प्रकार का आलोचना-कार्य एक नये वर्गीकरण, नयी विधाओं के प्रतिरूप की खोज और उनका भेदोपभेद करना प्रतीत होता है। एम्पसन ने **ऐज़ यू लाइक इट, द बेगर्स आपेरा, एलिस इन वण्डरलेण्ड** को पैस्टोरल के ही अलग-अलग रूप माना है। **ब्रदर्स कारामज़ोफ** को हत्या पर आधारित अन्य रहस्य-कथाओं के साथ रखा गया है।

विधाओं के सिद्धान्त के लिए अरस्तू और होरेस हमारे शास्त्रीय आधार रहे हैं। उन्हीं के समय से हम त्रासदी और महाकाव्य को विशिष्ट (साथ ही महत्वपूर्ण) विधाएँ समझते आये हैं। परन्तु कम से कम अरस्तू कुछ दूसरे और अधिक बुनियादी भेदों—नाटक, महाकाव्य और गीतिकाव्य के बीच—से भी परिचित रहे हैं। अधिकांश आधुनिक साहित्य-सिद्धान्तों में गद्य और पद्य के दो भेद किये जाते हैं और फिर कल्पना साहित्य को कथा (उपन्यास, कहानी, महाकाव्य), नाटक (चाहे पद्य में हो या गद्य में), और कविता (जिसे प्रायः प्राचीन 'गीतिकाव्य' से मिलता-जुलता माना जाता है) में बाँटा जाता है।

वीटर ने ठीक ही कहा है कि 'विधा' शब्द का प्रयोग न तो इन तीन आद्य (अल्टिमेट) श्रेणियों के लिए होना चाहिए न त्रासदी और कामदी जैसे ऐतिहासिक भेदों के लिए। और हमारे विचार से इनका प्रयोग दूसरे—ऐतिहासिक रूपों—के लिए किया जाना चाहिए। पहले के लिए कोई ठीक शब्द रख पाना बहुत कठिन है—संभवतः व्यवहार में इसकी प्रायः आवश्यकता भी नहीं पड़ती है। प्लेटो और अरस्तू ने तीन प्रमुख रूपों के 'अनुकरण की रीति' (या प्रस्तुतीकरण) के अनुसार विभेद किये हैं : गीति काव्य कवि का अपना 'मुखौटा' (परसोना) होता है; महाकाव्य (या उपन्यास) में कवि कुछ बातें कथाकार के

रूप में अपनी ओर से कहता है, और कुछ अपने पात्रों के बीच सीधी बातचीत (मिश्र वर्णना) के रूप में कहलाता है; नाटक में कवि पात्रों की पृष्ठिभूमि में अन्तर्धान रहता है।

समय के आयामों और यहाँ तक कि भाषागत पदरचना को इन तीनों रूपों के बीच बाँट कर इनका आधारभूत स्वरूप दिखाने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। हाव्स ने डैवेनाण्ट को लिखे गये अपने पत्र में इसी तरह का एक प्रयत्न किया था जब उसने दुनिया को दरबार, नगर और देहात में बाँट कर इनके अनुसार कविता के तीन मूल भेद किये थे—हीरोइक (महाकाव्य और त्रासदी), स्कीमैटिक (व्यंग्य तथा कामदी) तथा पैस्टोरल। ई० एस० डैलस नामक अंग्रेजी के एक प्रतिभाशाली आलोचक ने, जिसे कोलरिज तथा श्लेगल के आलोचनात्मक चिन्तन का अच्छा ज्ञान है, कविता के तीन मूलभूत रूप 'नाटक' (प्ले), कथा (टेल) और गीत (साँग) माने हैं, और इनको उसने अनेक नमूनों (स्केमेटा) में विभाजित किया है, जो नमूने अंग्रेजी से अधिक जर्मन साहित्य के अनुरूप हैं। इन्हीं को उसने दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखा है: नाटक—मध्यम पुरुष, वर्तमान काल; महाकाव्य—अन्य पुरुष, भूतकाल; गीत प्रथम पुरुष एकवचन, भविष्यत काल। परन्तु जान एर्स्काइन, जिन्होंने १९१२ में बुनियादी साहित्यिक रूपों की एक व्याख्या प्रकाशित कराई थी, इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि गीत वर्तमान काल की अभिव्यक्ति करता है। परन्तु चूँकि वह यह मान कर चले हैं कि त्रासदी व्यक्ति के पूरे विगत जीवन की अन्तिम परिणति को दर्शाती है—उसका ही चरित्र संचित होकर उसका भाग्य बन जाता है—और महाकाव्य किसी जाति या राष्ट्र की नियति को दर्शाता है, अतः वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसे यदि नग्न रूप में रखा जाये तो लगेगा कि इसमें नाटक को बिल्कुल उल्टे ढंग से अतीत से और महाकाव्य को भविष्य के साथ जोड़ा गया है।

एर्स्काइन की नैतिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्या की आत्मा और पद्धति रोमन जैकबसन जैसे रूसी रूपवादियों से बहुत अलग पड़ती है, जिसने भाषा की निश्चित व्याकरणिक संरचना (गठन) और साहित्यिक भेदों के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखाया है। जैकबसन का कहना है कि गीत प्रथम पुरुष, एक वचन, वर्त्तमान काल होता है, जब कि महाकाव्य अन्य पुरुष, भूत काल (महाकाव्य की कथा कहने वाले के 'मैं' को यदि कुछ पार्श्व से देखें तो यह अन्य पुरुष जैसा मालूम होगा) होता है।

आधारभूत रूपों की इस तरह की खोजें, जिनका सम्बन्ध एक ओर तो भाषागत रूप प्रक्रिया से और दूसरी ओर ब्रह्माण्ड के प्रति उनकी चरम अभिवृत्तियों से जोड़ा जाता है, 'सांकेतिक' तो हैं पर इनसे किसी तरह के वस्तुपरक परिणामों की आशा नहीं बँधती। सचाई तो यह है कि इस बात पर भी सन्देह किया जा सकता है कि इन तीनों रूपों की कोई आदिम हैसियत है भी या नहीं, यहाँ तक कि इनकी हैसियत ऐसे नियामक तत्वों की भी है, या नहीं, जिन्हें अलग-अलग रूपों में समन्वित किया जा सके।

निःसन्देह यह एक भद्दी बात है कि हमारे युग में नाटक का आधार महाकाव्य (गल्प, उपन्यास) और गीत से भिन्न हो गया है। अरस्तू और यूनानियों के काल में महाकाव्य का सार्वजनिक या कम से कम मौखिक पाठ हुआ करता था। होमर की कवितायें आयन जैसी भावमयता से गायी जाती थीं। शोकगीत और आयम्बिक काव्य के साथ बाँसुरी से और गेय कविताओं के साथ वीणा से संगत की जाती थी। आज कविताएँ और उपन्यास अधिकांशतः आँख से देख कर मन ही मन पढ़े जाते हैं। परन्तु नाटक आज भी उसी तरह से एक मिश्र कला है जैसे यह यूनानियों के काल में था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह मुख्य रूप से साहित्यिक है, परन्तु इसके साथ 'नेत्ररंजक' चीजों की भी आवश्यकता है—यह अभिनेताओं और नाटक के निर्देशक के कौशल का, वस्त्र-सज्जाकार और प्रकाश-व्यवस्था करने वाले के शिल्प का भी उपयोग करता है।

परन्तु यदि कोई इन तीनों को समान साहित्यिक स्तर पर उतारने की कठिनाई से बचाना चाहे तो नाटक तथा कहानी के बीच विभेद कैसे किया जा सकता है? हाल की अमरीकी छोटी कहानी (जैसे हेमिंग्वे की 'द किलर्स') में नाटकों जैसी वस्तुनिष्ठता, संवाद की सी विशुद्धता लाने का हौसला रखा जाता है। परन्तु परम्परागत उपन्यासों में महाकाव्य की तरह संवाद या प्रत्यक्ष प्रस्तुतीकरण को कथाधारा के साथ मिला दिया जाता रहा है। सचाई तो यह है कि दूसरे विधागत मानों के कुछ अन्य समर्थक महाकाव्य को अंशतः इसी आधार पर सर्वोत्कृष्ट विधा मानते हैं कि इसमें दूसरी सभी विधाएँ समाहित हो जाती हैं। यदि महाकाव्य और उपन्यास मिश्र कलारूप हैं तो आद्य रूपों के लिए हमें इनके नियामक अंशों को "प्रत्यक्ष कथावर्णन" और "संवाद के माध्यम से कथावर्णन" (अनभिनीत नाटक) जैसे तत्वों में बिलगा लेना होगा; और इस तरह हमारे तीन आद्य रूप कथावर्णन, संवाद और गायन (सांग) हो जायेंगे। क्या इस रूप में लाने, विशुद्ध किये जाने और सुसंगत बनाये जाने के बाद ये तीनों

साहित्यिक रूप 'निरूपण' (डिस्क्रिप्सन) 'प्रतिपादन' (एक्सपोजीशन) और 'कथा-वर्णन' (नैरेशन) से अधिक आदिम हो जाते हैं ?

आइये हम इन 'आद्य रूपों'—कविता, गल्प और नाटक—से उन रूपों की ओर मुड़ें जिन्हें हमने इनका उपविभाजन समझा था। अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटकों के विषय में टामस हैन्सकिन्स ने लिखा है कि 'अंग्रेजी नाटक अपने विविध उपवर्गों अर्थात् मिस्ट्री, मोरैलिटी, त्रासदी और कामदी' में प्रकट हुआ था। अठारहवीं शताब्दी में गद्य के दो वर्ग थे : उपन्यास और रोमान्स। हमारे विचार से इस दूसरे वर्ग के उपविभाजनों को ही 'विधाओं' की संज्ञा दी जा सकती है।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियाँ ही ऐसी हैं जिनमें विधाओं की ओर गंभीरता से ध्यान दिया गया। इन शताब्दियों के आलोचक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके लिये विधाओं का अपना अलग अस्तित्व है, जिनके लिये ये वास्तविक हैं। नव्य-क्लासिकी की एक सामान्य मान्यता यह थी कि विधाओं में विभेद होता है और इनमें विभेद किया भी जाना चाहिए। परन्तु यदि हम विधा की परिभाषा जानने के लिए, या एक विधा का दूसरी से विभेद करने की पद्धति के लिए नव्य-क्लासिकी आलोचना की ओर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि यह विसंगतियों से भरी हुई है और इसमें इस चेतना तक का अभाव है कि इस विभेद के लिए किसी तर्कसंगत आधार की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए बोलो ने पशुचारण काव्य, शोकगीत, ओड, सूक्ति, व्यंग्य, त्रासदी, कामदी और महाकाव्य को इसमें शामिल नहीं किया है, फिर भी बोलो ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि उन्होंने अपना भेद-निरूपण किस आधार पर किया है (संभवतः इसका कारण यह है कि वह भेद-निरूपण को ऐतिहासिक रूप में निश्चित मानते हैं न कि तर्कनापरक रचना)। क्या उनके द्वारा निर्धारित विधाएँ एक-दूसरे से अपनी विषय-वस्तु, संरचना, पद्य-विधान, विस्तृति, भावात्मक टोन या अपने भावकों के आधार पर अलग की गयी हैं ? इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि नव्य-क्लासिकी के अनेक हिमायतियों की दृष्टि में विधाओं की समग्र धारणा स्वतःसिद्ध है और यहाँ कोई सामान्य समस्या नहीं है। ह्यू ब्लेयर ने (**रेटारिक एण्ड बेल लेटर्स** १७८३) मुख्य विधाओं पर अनेक अध्याय लिखे हैं, परन्तु इन विधाओं की न तो परिचयात्मक चर्चा की है न ही साहित्यिक वर्गीकरण का कोई सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। जिन प्रभेदों (विधाओं) को उन्होंने चुना है उनमें न तो कार्यपद्धति

विषयक संगति है और न ही किसी और प्रकार की। इनमें से कुछ ग्रीक काल से ही चले आ रहे हैं, परन्तु सभी ऐसे नहीं हैं। उन्होंने 'वर्णनात्मक काव्य' की चर्चा काफी विस्तार से की है, और उनके कथनानुसार इसमें 'मानव प्रतिभा का सर्वाधिक उपयोग' दृष्टिगोचर होता है। इसके बावजूद इससे उनका मतलब उस अर्थ में भी 'किसी विशेष वर्ग या रचना के किसी विशेष रूप' से नहीं है जिस अर्थ में **डि रेरम नेचुरा** या **द एसे आन मैन** को डिडैक्टिक (उपदेशपरक) काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। और फिर वर्णनात्मक काव्य से व्लेयर हिब्रू लोगों की कविता की ओर बढ़ जाते हैं और उनके विचार से हिब्रू काव्य से एक सुदूर देश और बहुत प्राचीन युग की काव्य रुचि का पता चलता है जिसे वह पूर्वी देशों के काव्य का एक नमूना मानते हैं जो उनके अपने ग्रीक-रोमन-फ्रेंच परम्परा से बिल्कुल अलग है, हालाँकि व्लेयर ने न तो यह बात कहीं कही है न ही इस पर उनकी निगाह गयी है। इसके बाद व्लेयर उस चीज की चर्चा करने लगते हैं जिसे रूढ़ि का पूरा निर्वाह करते हुए वह 'काव्यात्मक लेखन के दो सर्वोच्च प्रकार (महाकाव्य और नाट्यरचना) कहते हैं; यद्यपि दूसरे के लिए यदि उन्होंने 'त्रासदी' शब्द का उपयोग किया होता तो यह अधिक ठीक रहा होता।

नव्य क्लासिकी सिद्धान्त विधाओं के सिद्धान्त की या इनके भिन्नन (डिफरेन्शियेशन) के आधार की न तो व्याख्या करता है, न विवेचन और न ही पक्षपोषण। एक निश्चित सीमा तक इसमें विधाओं की विशुद्धता, विधाओं के श्रेणीविभाजन, विधाओं की अवधि और नयी विधाओं के आकर जुड़ने जैसे विषयों पर विचार किया गया है।

चूंकि नव्य-क्लोसिकीवाद इतिहास में प्राधिकारवाद और तर्कनावाद का एक मिश्रण है अतः एक रूढ़ प्रवृत्ति के रूप में यह यथासंभव प्राचीन काल में उद्भूत विधाओं विशेषतः काव्यात्मक विधाओं को बनाये रखने और अपनाने के लिए बाध्य था। परन्तु बोलो सानेट और मैड्रीगल को स्वीकार करते हैं; और जानसन डेनहम की इस बात के लिए प्रशंसा करते हैं कि उसने काव्य की एक नयी योजना का आविष्कार किया था, उसने 'रचना के ऐसे वर्गों का आविष्कार किया था जिन्हें स्थानीय काव्य की संज्ञा दी जा सकती है' और वह टामसन की सीजन्स को 'एक नये तरह-की कविता' मानते हैं और मानते हैं कि इसमें उनके सोचने और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का ढंग 'मौलिक' है।

विधाओं की शुद्धता के सिद्धान्त को ऐतिहासिक दृष्टि से क्लासिकी त्रासदी के समर्थकों ने शुरू किया था जो एलिज़बेथन त्रासदी के विरुद्ध थे, जिसमें परिहास के दृश्यों को (**हैम्लेट** में कब्र खोदने वाले और **मैक्बेथ** में शराब पीकर धुत हुआ पोर्टर) स्थान दिया जाता है। एलिज़बेथकालीन त्रासदी जहाँ सैद्धान्तिक है वहाँ इसकी परम्परा होरेस से जुड़ी हुयी है, और जहाँ यह अनुभव और शिष्ट सुखवाद (हेडानिज्म) पर बल देती है वहाँ यह अरस्तू की परम्परा में है। अरस्तू के शब्दों में, त्रासदी को "किसी क्षणिक आनन्द की सृष्टि नहीं करनी चाहिए अपितु इसे अवसरोपयुक्त आनन्द की सृष्टि करनी चाहिए।"

विधाओं का श्रेणी-विभाजन अंशतः एक सुखवादी परिकलन (कैल्कुलस) है : परन्तु क्लासिकी वक्तव्यों के अनुसार सुख का मानदण्ड तीक्ष्णता के आधार पर या इसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर परिमाणमूलक नहीं कहा जा सकता है। हम कह सकते हैं कि यह सामाजिक, नैतिक, सौन्दर्य-मूलक, सुखवादी और परम्परागत का एक मिला-जुला रूप है। साहित्यिक कृतियों के आकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती : सानेट और ओड जैसी छोटी विधाओं को किसी तरह महाकाव्य और त्रासदी की तुलना में नहीं रखा जा सकता। मिल्टन की छोटी कविताएँ इन छोटी विधाओं में अर्थात् सानेट, कैन्ज़ोन और मास्क में लिखी गयी हैं। उनकी लम्बी कविताओं में एक 'नियमित' त्रासदी और दो महाकाव्यों को रखा जा सकता है। यदि इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी विधाओं को परिमाण के आधार पर परखें तो महाकाव्य बाजी मार ले जायेगा। इसके बावजूद इस बिन्दु पर अरस्तू के मन में झिझक बनी हुई थी और उन्होंने परस्पर विरोधी मानदण्डों का विवेचन करने के बाद त्रासदी को ही प्रथम स्थान दिया, जब कि पुनर्जागरण काल के आलोचकों ने उनकी अपेक्षा अधिक तर्कसंगत ढंग से महाकाव्य को श्रेष्ठ बताया। यद्यपि बाद के कालों में इन दोनों दावों के बीच काफी अनिश्चितता बनी रही परन्तु हाव्स, या ड्राइडन या ब्लेयर जैसे नव्य-क्लासिकी आलोचकों ने इन दोनों को अधिकांशतः मूलभूत श्रेणियाँ मान कर ही संतोष कर लिया।

अब हम दूसरे ऐसे वर्गों की ओर आते हैं जिनमें बन्द और छन्द ही निर्धारक तत्व हैं। हम सानेट, रोण्डो, और बैलेड का वर्गीकरण, किस तरह करेंगे ? क्या ये भी विधाएँ हैं, या इससे कुछ भिन्न और घट कर हैं ? अधिकांश जर्मन और फ्रेंच लेखक इन्हें 'स्थिर रूप' कहना पसन्द करते हैं, इन्हें एक वर्ग मानते हैं ताकि इन्हें विधाओं से अलग किया जा सके। परन्तु वीटर कम से कम सानेट को

एक अपवाद मानते हैं; हमें इसमें कुछ और चीजों को रखना चाहिए। लेकिन यहाँ हम शब्दावली से हटकर मानदण्डों की परिभाषा पर पहुँच जाते हैं : क्या 'आक्टोसिलेबिक पद्य' या 'द्विपदिक पद्य' जैसी कोई विधा है? हमें यहाँ कहना पड़ता है कि इस तरह की एक विधा है और इसका यह अर्थ करना होता है कि जहाँ अंग्रेजी काव्य का आदर्श आयम्बिक पेण्टामीटर है वहीं अठारहवीं शताब्दी की आक्टोसिलैबिक कविता और बीसवीं शताब्दी की द्विपदिक कविता को टोन और एथास (विशिष्ट प्रकृति) के आधार पर एक विशेष प्रकार की कविता माना जा सकता है। यहाँ हम मात्र छन्दों के आधार पर वर्गीकरण नहीं कर रहे हैं (जैसा कि प्रार्थना की पुस्तकों में पाया जा सकता है) बल्कि इसमें हम कुछ और भी बातों का समावेश कर रहे हैं, कुछ ऐसी चीजें जिनका 'बाह्य' रूप तो है ही साथ ही 'आन्तरिक' रूप भी है।

हमारे विचार से विधा को साहित्यिक कृतियों का एक ऐसा वर्गीकरण माना जाना चाहिए जो सिद्धान्तत. बाहरी रूप (विशिष्ट छन्द या संरचना) पर तो आधारित हो ही साथ ही आन्तरिक रूप (अभिवृत्ति, टोन या लहजा, उद्देश्य—जिसे कुछ सीधे ढंग से कहें तो विषय और भाव कह सकते हैं) पर भी आधारित हो। इसका व्यक्त आधार इनमें से कोई एक हो सकता है (जैसे आन्तरिक रूप के लिए 'पैस्टोरल' (पशुचारण काव्य) और 'व्यंग्य'; और बाहरी रूप के लिए द्विपदिक कविता और पिण्डारिक ओड); परन्तु आलोचना की समस्या इसके बाद दूसरे आयामों का पता लगाना है ताकि इस खाके को पूरा किया जा सके।

कभी-कभी किसी विधा में बहुत विलक्षण अन्तर आता है। प्राचीन ग्रीक और रोमन कविता की ही तरह अंग्रेजी ने भी 'शोकगीत' (एलेजी) का आरंभ करुण द्विपदियों (एलेजिक कप्लेट) या डिस्टिच (दोहों) से हुआ था; इसके बावजूद शोकगीत लिखने वाले कवि अपने को मृत व्यक्तियों के लिए विलाप तक ही सीमित नहीं रखते थे, न ही ग्रे के पूर्ववर्त्ती कवि हैमण्ड और शेन्स्टन ने ही ऐसा किया है। परन्तु ग्रे ने अपनी एलेजी हीरोइक क्वेट्रेनों (चतुष्पदियों) में लिखी न कि कप्लेटों (द्विपदियों) में, और इनके साथ अंग्रेजी की एलेजी की वह प्राचीन धारा एकदम टूट गयी जिसमें दो पंक्तियों के मुक्तकों में भावनापूर्ण व्यक्तिगत उदगार प्रकट किये जाते थे।

कोई व्यक्ति अठारहवीं शताब्दी के बाद विधाओं के इतिहास को इस आधार पर छोड़ सकता है इसके बाद रूपगत अपेक्षाएँ, आवृत्तिमूलक पदयोजना

समाप्त हो गयी है। इस तरह की हिचक विधाओं के विषय में फ्रेंच और जर्मन साहित्यों में पायी जाती है जिसके साथ यह धारणा भी जुड़ गयी है कि सन् १८४० से लेकर १८५० तक का काल साहित्य में सबसे रुग्ण काल रहा है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भविष्य में हम एक ऐसे साहित्य की ओर वापस लौटेंगे जो विधाओं से अधिक बँधा हुआ होगा।

इसके बावजूद यह कहना अधिक उपयुक्त मालूम होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में विधाओं की अवधारणा में किंचित अन्तर आ गया था न कि यह बिल्कुल लुप्त हो गयी, विधाओं में बँधकर लिखने के विषय में तो यह और भी गलत है। उन्नीसवीं शताब्दी में भावकों का दायरा बहुत अधिक बढ़ गया और इसी के साथ कुछ और विधाएँ पैदा हो गयीं; और चूँकि सस्ती छपाई के कारण इनका विस्तार अधिक तेजी से होने लगा अतः इनकी आयु बहुत कम होती है अथवा इनमें बहुत तेजी से परिवर्तन होते जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में और हमारे अपने काल में 'विधा' की परिकल्पना के साथ वे ही कठिनाइयाँ खड़ी हो गयी हैं जो 'काल' के साथ उत्पन्न हुई हैं। साहित्यिक फैशन बहुत जल्दी-जल्दी बदलने लगे हैं—अब पचास साल की अपेक्षा हर दस साल पर एक नयी साहित्यिक पीढ़ी (अमेरिकी कविता के सन्दर्भ में देखें तो मुक्त छन्द का काल, ईलियट का काल, आडेन का काल) तैयार हो जाती है। यदि कुछ अलग हट कर देखें तो पायेंगे कि इनमें से कुछ विशिष्टताओं की दिशा और प्रकृति काफी मिलती-जुलती है (जैसे अब हम यह मानते हैं कि बायरन, वर्ड्सवर्थ और शैले सभी अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी कवि थे)।

उन्नीसवीं शताब्दी में विधाओं के उदाहरण क्या हो सकते हैं? वान टीगहेम और कुछ दूसरे व्यक्तियों ने एक विधा के रूप में ऐतिहासिक उपन्यास का बराबर नाम लिया है। 'राजनैतिक उपन्यास' के बारे में क्या कहना होगा? और यदि राजनैतिक उपन्यास जैसी कोई चीज है तो क्या धार्मिक उपन्यास जैसी भी कोई विधा (जिसमें **राबर्ट एल्समीयर**, और काम्पटन मैकेंजी के **द आल्टर स्टेप्स** के साथ ही साथ **बारचेस्टर टावर्स** और **सुलेम बैपेल** को शामिल किया जा सकता है) है? नहीं। यहाँ राजनीतिक और धार्मिक उपन्यासों के साथ हम एक ऐसे वर्गीकरण की ओर खिसक गये हैं जो विषयवस्तु पर आधारित है, जो एक विशुद्ध समाजशास्त्रीय वर्गीकरण है, और यदि इसी आधार पर हम विधाओं का निर्धारण करते चलें तो इसका कभी अन्त ही नहीं आयेगा —आक्सफोर्ड आन्दोलन को विषय बना कर लिखे गये उपन्यास, उन्नीसवीं

शताब्दी के वे उपन्यास जिनमें अध्यापकों का चित्रण किया गया है, नाविकों पर आधारित उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यास और साथ ही समुद्री उपन्यास। 'ऐतिहासिक उपन्यास' औरों से किस अर्थ में भिन्न है? इसकी भिन्नता का आधार यह नहीं है कि इसकी विषयवस्तु अधिक सीमित है, अर्थात् इसमें अतीत को समग्र रूप में प्रस्तुत करने से अलग की कोई चीज नहीं रखी गयी है, अपितु मुख्यतः यह कि ऐतिहासिक उपन्यास स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन और राष्ट्रीयता की भावना से जुड़ा हुआ है—क्योंकि इसमें अतीत के प्रति एक नयी भावना, नयी अभिवृत्ति निहित है। गाथिक उपन्यास इसकी अपेक्षा एक विधा का अधिक अच्छा उदाहरण है, जो उन्नीसवीं शताब्दी में **द कैसल आफ ओट्रान्टो** से आरंभ हुआ था और आज तक चला आ रहा है। गद्य की वर्णनात्मक विधा पर जितने मानदण्ड लागू किये जा सकते हैं उन सबसे विचार करने पर यह एक अलग विधा सिद्ध होता है: इसमें न केवल एक सीमित और अविच्छिन्न विषय-वस्तु या आधार-विषय है, अपितु साथ ही इसमें बहुत सारे साधनों का समान रूप में उपयोग हुआ है (प्रासंगिक कथाएँ और वर्णन, जैसे भग्न गढ़ी, रोमन कैथोलिक संत्रास, रहस्यमय चित्रण, सरकने वाले किवाड़ों से खुलने वाले गुप्त मार्ग; अपहरण, कैद, एकान्त वनों में भटकना)। इसके अतिरिक्त इसका एक सौन्दर्यात्मक आशय भी है, जिसको पाठकों को सुखद संत्रास और रोमांच प्रदान करने (जिसे कुछ गाथिक प्रवृत्ति के उपन्यासकार 'करुणा और संत्रास' की संज्ञा दे सकते थे) के विषय प्रयोजन से रखा गया है।

मोटे तौर पर कहें तो विधा सम्बन्धी हमारी अवधारणा रूपगठन की ओर झुकी हुई होनी चाहिए, अर्थात्, इसे हुडिबास्टिक आक्टोसिलेबिक और सानेट को विधा का रूप देने की ओर प्रवृत होना चाहिए, न कि राजनैतिक उपन्यासों और कारखाने में काम करने वालों के जीवन पर आधारित उपन्यासों को: हम यहाँ 'साहित्यिक' वर्गों की बात कर रहे हैं, न कि विषय-वस्तु पर आधारित ऐसे वर्गीकरण की बात कर रहे हैं जो गल्पेतर साहित्य पर भी घटित किया जा सके। अरस्तू के काव्यशास्त्र में, जिसमें महाकाव्य, नाटक, और गीतिकाव्य को पूरी तरह मोटे तौर पर कविता के आधारभूत रूप माना गया है, इनके माध्यमों के भेदों पर विचार किया गया है और इनमें से प्रत्येक रूप के सौन्दर्यात्मक उद्देश्य के प्रति इनका औचित्य सिद्ध किया गया है (नाटक आयम्बिक पद्य में लिखा जाता है, क्योंकि यह वार्तालाप से सबसे निकट पड़ता है, जब कि महाकाव्य के लिए डायलेक्टिक हेक्सामीटर की अपेक्षा होती है

जिससे बातचीत के लहजे की तनिक भी गंध नहीं आती है) 'यदि कोई व्यक्ति किसी वर्णनात्मक कविता की रचना किसी अन्य छन्द में या अनेक छन्दों में करता है तो यह अनमेल मालूम होगा, क्योंकि हीरोइक छन्द सबसे वजनदार और शानदार छन्द है और इसलिए इसमें उधार लिए हुए शब्द और रूपक और अलंकार बहुत आसानी से पच जाते हैं...'' 'छन्द' और 'बन्द' से ऊपर 'रूपबन्ध' का दूसरा स्तर है 'संरचना' (अर्थात् कथानक का एक विशेष प्रकार का गठन) यह कुछ सीमा तक परम्परागत अर्थात् ग्रीक रचनाओं की अनुकृति पर लिखे गये महाकाव्य और त्रासदी में पाते हैं। परन्तु सभी 'क्लासिकी साधन' संरचना से सम्बद्ध नहीं प्रतीत होते; युद्ध के वर्णन और नीचे की दुनिया के विषय में उतर कर कही गयी बातें विषयवस्तु या कथा के क्षेत्र में आते हैं। अठारहवीं शताब्दी से बाद के साहित्य को छोड़ कर 'सुनिर्मित नाटकों' या जासूसी उपन्यासों को (हत्या या रहस्य) इस स्तर का निश्चय करना आसान नहीं है, जहाँ गठित कथानक की संरचना कुछ इसी तरह की होती है। परन्तु छोटी कहानी की चेखव-परम्परा में भी एक गठन, एक संरचना पाई जाती है जो पो या ओ' हेनरी की छोटी कहानियों से कुछ भिन्न प्रकार की होती है (यदि हम चाहें तो इसे 'शिथिल' गठन कह सकते हैं।)

विधाओं के सिद्धान्त में रुचि रखने वाले किसी व्यक्ति को इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि 'क्लासिकी' और आधुनिक सिद्धान्त के बीच पाये जाने वाले भेदों में गड़बड़ी न होने पाये। क्लासिकी सिद्धान्त विधेयात्मक और नियामक है हालाँकि इसके 'नियमों' में उस तरह का प्राधिकारवाद नहीं पाया जाता जो इसके सिर आज भी कभी-कभी मढ़ दिया जाता है। क्लासिकी सिद्धान्त में केवल यह नहीं माना जाता कि अपने स्वरूप और गौरव की दृष्टि से एक विधा दूसरी विधा से भिन्न होती है, बल्कि उसकी यह मान्यता भी है कि इन्हें एक-दूसरे में मिलने नहीं दिया जाना चाहिए, अपितु अलग रखा जाना चाहिए। यही विधाओं की परिशुद्धता का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। हालाँकि इसका विवेचन कभी बहुत तर्कसंगत रूप में नहीं किया गया, परन्तु इसमें एक बहुत वास्तविक सौन्दर्य-सिद्धान्त (न कि केवल कुछ जातीय विभेद) का प्रश्न जुड़ा हुआ है: इसमें टोन की एकाग्रता, शैली की शुद्धता और सादगी का बहुत कठोरता से पालन किया जाता था। एक कथानक या विषय में एक ही आवेग (संत्रास या हँसी) पर ध्यान केन्द्रित किया जाता था। इसमें विशेषीकरण और बहुत्व (प्यूरलिज्म) पर भी बल दिया जाता था (प्रत्येक प्रकार की कला की अपनी क्षमताएँ और आनन्द होते हैं) कविता क्यों 'चित्रात्मक' या 'संगीतात्मक' होने

की कोशिश करे, या संगीत क्यों किसी दृश्य का वर्णन करने या कहानी कहने की चेष्टा करे? 'सौन्दर्यात्मक शुद्धता' के सिद्धान्त को इस अर्थ में घटित करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक सिंफनी किसी आपेरा या ओरैटोरियो से (जिसमें समवेत स्वर और वाद्यवृन्द दोनों होते हैं) अधिक शुद्ध होती है, परन्तु स्ट्रिंग क्वार्टेट सिम्फनी से भी अधिक शुद्ध होता है (क्योंकि इसमें आर्केस्ट्रा के केवल एक ही क्वायर का प्रयोग होता है और वुडविण्ड, ब्रास तथा दूसरे सभी वाद्य नहीं रहते हैं)।

क्लासिकी सिद्धान्त में विधाओं का वर्गीकरण सामाजिक आधार पर भी किया गया था। महाकाव्य और त्रासदी का सम्बन्ध राजाओं और सामन्तों के कार्य-व्यापार से होता है, कामदी का सम्बन्ध मध्यवर्ग (नगर और बुर्जुआ) से तथा व्यंग्य और प्रहसन का आम लोगों से। पात्र-सूची के इस विभेद के साथ ही प्रत्येक के 'शिष्टाचार' (वर्ग के 'आचार') शैलियों के भेद का सिद्धान्त भी था जो उत्तम, मध्यम और अधम में विभाजित था। इसके साथ इन रूपों का श्रेणीविभाजन भी लगा हुआ था जिसमें मात्र पात्रों का दर्जा और शैली ही मात्र तत्व नहीं थे, अपितु लम्बाई या आकार (शक्ति का निर्वाह करने की क्षमता) और टोन की गंभीरता भी जुड़े हुए थे।

साहित्यिक विधाओं की क्रम-परम्पर से सहानुभूति रखने वाला कोई व्यक्ति (जैसा कि वान टीगहेम ने हमारे अध्ययन को बताया है) नव्य-क्लासिकी सिद्धान्त के लिए एक नया आधार प्रस्तुत करने की आकांक्षा महसूस कर सकता है और यह सोच सकता है कि इसके सिद्धान्तकारों ने इसके लिए जो तर्क दिये हैं उनसे अधिक अच्छे तर्क (सौन्दर्यशास्त्री आधार पर) दिये जा सकते हैं। सौन्दर्यात्मक सिद्धान्त की शुद्धता के प्रसंग में हम इस विषय में अंशतः अपने तर्क दे चुके हैं। परन्तु अब हमें इस 'क्रम-परम्परा' को मात्र किसी एक परम्परा या सिद्धान्त तक सीमित करना होगा। 'क्लासिकी प्रवृत्ति' दूसरी सौन्दर्य-प्रणालियों, प्रकारों और रूपों को सहन नहीं कर सकती थी और सच कहें तो इसे इनका ज्ञान भी नहीं था। गाथिक गिरजों को एक ऐसा 'रूप' (फार्म) मानने की अपेक्षा जो ग्रीक मन्दिरों से अधिक जटिल था इसने इन्हें 'रूपहीन' (फार्मलेस) मान लिया था। यही हाल विधाओं के साथ भी था। हर संस्कृति की अपनी विधाएँ होती हैं चाहे वह चीनी हो, या अरबी या आयरी। सभी की अपनी आदिम मौखिक विधाएँ होती हैं। मध्यकालीन साहित्य में बहुत सारी विधाएँ भरी पड़ी हैं। हमें ग्रीक-रोमन विधाओं के 'आद्य' स्वरूप की हिमायत करने की

आवश्यकता नहीं है। इसी तरह हमें विधाओं की उस तरह की शुद्धता की हिमायत करने की भी आवश्यकता नहीं है जो ग्रीक-रोमन रूप में पायी जाती है जो कि एक विशेष सौन्दर्यात्मक मानदण्ड के आधार पर रखी गयी है।

विधाओं का आधुनिक सिद्धान्त वर्णनात्मक है। इसमें विधाओं की संख्या को सीमित नहीं किया जाता, न ही लेखकों के लिए नियम निर्धारित किये जाते हैं। इसमें यह माना जाता है कि परम्परागत विधाओं को 'मिलाया' जा सकता है और इनसे नयी विधाएँ जैसे सुखदुखान्तकी तैयार की जा सकती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विधाएँ 'शुद्धता' के आधार पर तो खड़ी की ही जा सकती हैं, साथ ही ये समन्वयशीलता या 'समृद्धि' के आधार पर भी खड़ी की जा सकती हैं। इन्हें इनके अपने तत्वों के आधार पर भी तैयार किया जा सकता है साथ ही नये तत्वों को जोड़ कर भी। एक विधा से दूसरी विधा के अन्तर पर बल देने की अपेक्षा यह इस बात का पता लगाने में—उसी तरह जैसे स्वच्छन्दता-वादी प्रत्येक 'मौलिक प्रतिभा' और प्रत्येक कृति की अनन्यता पर बल देते हैं—रुचि लेता है। एक विधा में वे कौन से तत्व हैं जो सर्वत्र पाये जाते हैं, वे कौन से साहित्यिक साधन और प्रयोजन हैं जो एक विधा की सभी रचनाओं में मिलते हैं।

किसी साहित्यिक कृति में किसी को जो आनन्द मिलता है वह इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें कितनी नवीनता है और साथ ही कितना अंश ऐसा है जिसे वह जानता-पहचानता है। संगीत में सोनाटा और फ्यूज पूर्वपरिचित प्रतिरूपों के अच्छे उदाहरण हैं, हत्या पर आधारित रहस्य-कथाओं में कथानक क्रमशः बन्द होता या सिकुड़ता चला जाता है —कथानक क्रमशः साध्य की दिशा में (जैसा कि **ईडिपस** में देखने में आता है) सरकता चला जाता है। यदि प्रतिरूप पूर्णतः परिचित हो या उसको बार-बार दुहराया जा रहा हो तो उससे ऊब होने लगती है। यदि कला-रूप पूर्णतः नया हो तो वह समझ में ही नहीं आयेगा —असल में इसकी बात भी नहीं सोची जा सकती। अतः हम कह सकते हैं कि विधा उन सौन्दर्यात्मक साधनों का समन्वित रूप है जो लेखक को उपलब्ध होते हैं और जो पाठक के लिए पहले से ही बोधगम्य रहते हैं। कोई अच्छा लेखक कुछ अंशों में पहले से विद्यमान विधा से बँध कर चलता है और कुछ अंशों में इसका विस्तार करता है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि महान् लेखक विधाओं के आविष्कारक नहीं होते हैं। शेक्सपियर, रसीन, मालियर, और जानसन, डिकेन्स और दोस्तोएव्स्की ने दूसरे व्यक्तियों के श्रम का लाभ उठाया था।

विधाओं के अध्ययन का एक स्पष्ट मूल्य यह है कि इससे साहित्य के आन्तरिक विकास की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है। हेनरी वेल्स ने इसी को (न्यू पोएट्स फ्राम द ओल्ड, १९४० में) साहित्यिक 'आनुवंशिकी' कहा है। साहित्य का मूल्य के दूसरे क्षेत्रों से जो भी सम्बन्ध क्यों न हो, यह सच है कि पुस्तकें पुस्तकों से प्रभावित होती हैं। एक पुस्तक में दूसरी पुस्तकों का अनुकरण किया जाता है, उनकी पैरोडी की जाती है, उन्हें नए रूपों में रूपायित किया जाता है। और ऐसा केवल उन पुस्तकों में ही नहीं होता है जो इन पुस्तकों की सीधी क्रम-परम्परा में आती हैं। आधुनिक विधाओं की परिभाषा के लिए सबसे अच्छा तो यह रहे कि हम अपनी बात सर्वाधिक प्रभावशाली पुस्तकों और लेखकों से आरंभ करें और यह देखें कि इनका दूसरी कृतियों पर क्या प्रभाव पड़ा है। देखें कि ईलियट और आडेन, प्रूस्त और काफ्का का दूसरी विधाओं की रचनाओं पर क्या साहित्यिक प्रभाव पड़ा है।

हम यहाँ विधाओं के सिद्धान्त के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण विषय सुझाना चाहेंगे, हालाँकि केवल कुछ प्रश्न और प्रयोगात्मक बातें ही उठा सकते हैं। इनमें से एक का सम्बन्ध आदिम (मौखिक और लोक साहित्य विषयक) विधाओं का विकसित साहित्य की विधाओं से है। श्लोव्स्की नामक एक रूसी रूपवादी आलोचक का मत है कि नये कला-रूप मात्र घटिया दर्जे की (उप-साहित्यिक) विधाओं के व्यवस्थित रूप हैं। "दोस्तोएव्स्की के उपन्यास अपराध पर आधारित उपन्यासों, रोमांचक वृत्तान्तों के गौरवान्वित रूप हैं, पुश्किन के गीत चलते-फिरते गीतों से निकले हैं, ब्लाख के गीत जिप्सियों के गानों से और मायकोव्स्की की कविताएँ हास-परिहास की कविताओं से फूटे हैं।" जर्मनी में बर्टहोल्ड ब्रख्त और अंग्रेजी में आडेन ये दोनों ही जान-बूझ कर लोकप्रिय कविताओं को गंभीर कविताओं में रूपान्तरित करने का प्रयास करते हैं। इसे इस दृष्टिकोण के रूप में रखा जा सकता है कि साहित्य के लिए निरन्तर इस बात की आवश्यकता बनी रहती है कि वह अपने को निरन्तर 'नये सिरे से जंगली अवस्था में पहुँचा कर' नया बनाता रहे। इसी तरह का एक दूसरा दृष्टिकोण आन्द्रे-जोल्स का है कि जटिल साहित्यिक रूप अपेक्षाकृत सरल इकाइयों से उत्पन्न होते हैं। जूल्स ने नव ऐसी आदिम विधाएँ गिनाई हैं जिनको आपस में मिला कर हम दूसरी सभी विधाओं पर पहुँच सकते हैं। उपन्यास का इतिहास इसी तरह के किसी विकास का एक उदाहरण है। इसके आगमन और **पामेला** और **टाम जोन्स** तथा **ट्रिस्ट्रैम शैण्डी** के रूप में परिपक्वता की स्थिति में पहुँ-

चने से पहले पत्र, डायरी, यात्रा-विवरण (या काल्पनिक यात्रायें), संस्मरण, सत्रहवीं शताब्दी के 'चरित्र-चित्रण', निबन्ध, और साथ ही कामदी, महाकाव्य और रोमान्स जैसे 'कला-रूप' विद्यमान थे ।

दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध विधाओं के सातत्य से है । इस विषय में लोगों में बहुत दूर तक सहमति पायी जाती है कि ब्रुनेटियर ने 'विकास' के अपने जीव-विज्ञानवत्, सिद्धान्त के द्वारा इस तरह के विशिष्ट निष्कर्ष निकाल कर कि फ्रान्स के साहित्यिक इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी के धार्मिक प्रवचन उन्नीसवीं शताब्दी (कुछ क्रमभंग के बाद) के गीत काव्य के रूप में बदल गया था, उन्होंने साहित्यिक क्रम-परम्परा का बहुत अहित किया। यह आरोपित सातत्य फान टीगहेम के द्वारा होमर की परम्परा में लिखे गये महाकाव्यों और वैभरली उपन्यास, छन्दबद्ध दरबारी रोमान्स, और आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास के बीच सिद्ध किये गये सादृश्य से मिलता-जुलता प्रतीत होता है, जिसमें समय और स्थान से एक-दूसरे से अलग पड़ने वाली कृतियों के बीच लेखकों और भावकों की चित्तवृत्ति में पाये जाने वाले साम्यों के आधार पर सम्बन्ध-सूत्र जोड़े गये हैं। परन्तु फान टीगहेम इस तरह के सादृश्य-स्थापन से अलग जाकर यह भी कहते हैं कि इन सम्बन्ध-सूत्रों से ठीक-ठीक साहित्यिक विधाओं का पता नहीं चलता। विधाओं की क्रम-परम्परा और एकनिष्ठता का दावा करने के लिए हमें इनमें कुछ सुनिश्चित रूपगत सातत्य सिद्ध करने में समर्थ होना चाहिए। क्या त्रासदी एक विधा है ? हम यह जानते हैं कि हर काल और राष्ट्र की त्रासदियों का अपना अलग ढंग है ! ग्रीक त्रासदी, एलिजबेथकालीन त्रासदी, फ्रेंच क्लासिकी, उन्नीसवीं शताब्दी की जर्मन त्रासदी। ये सभी अलग-अलग विधाएँ हैं या किसी एक ही विधा के अलग-अलग वर्ग हैं ? इसका उत्तर अंशतः प्राचीन क्लासिकी युग से इनकी रूपगत अविच्छिन्नता पर और अंशतः आशय पर निर्भर प्रतीत होता है। जब हम उन्नीसवीं शताब्दी में पहुँचते हैं तो इनका उत्तर अधिक कठिन प्रतीत होता है। चेखव के चेरी आर्चर्ड और सी गल, इब्सन के घोस्ट्स, राजमर्सहोम, मास्टर बिल्डर के विषय में क्या कहा जायेगा ? क्या ये त्रासदियाँ हैं ? इनका माध्यम पद्य से बदल कर गद्य का रूप ले चुका है। 'ट्रैजिक हीरो' की परिकल्पना बदल चुकी है। हमारे मन में इस तरह के सवाल पैदा होते हैं कि, 'क्या उन्हें अतीत की महान् त्रासदियों का पता था ?' और "क्या चेखव और इब्सन का इरादा ऐसे नाटकों की रचना करने का था जिन्हें त्रासदियों का आधुनिक समकक्षी कहा जा सके, या उन्हें यदि अतीत में लिखा गया

होता तो इनको यही नाम दिया जाता और इनकी परिकल्पना इसी रूप में की जाती।

इस तरह के प्रश्न हमें किसी विधा के इतिहास स्वरूप विषयक प्रश्न की ओर अग्रसर करते हैं। एक ओर तो यह तर्क दिया जाता रहा है कि आलोचनात्मक इतिहास लिखना संभव ही नहीं है (क्योंकि यदि हम शेक्सपियर की त्रासदियों को आदर्श मान कर चलें तो ग्रीक और फ्रेंच त्रासदियों के प्रति अन्याय होगा); और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि जिस इतिहास में इतिहासदर्शन न हो वह मात्र तथ्य-संग्रह है। इन दोनों मान्यताओं में जान है। इसका उत्तर यह मालूम होता है कि एजिलबेथकालीन त्रासदी का इतिहास शेक्सपियर की दिशा में उसके विकास और शेक्सपियर के बाद से उसके ह्रास को ध्यान में रख कर लिखा जा सकता है, परन्तु यदि त्रासदी के इतिहास जैसी कोई चीज लिखी जाये तो इसे दो पद्धतियों से काम लेना होगा, अर्थात् एक तो इसे 'त्रासदी' की परिभाषा करनी होगी और उसमें उन सभी तत्वों को गिनाना होगा जो सभी त्रासदियों में समान रूप से पाये जाते हैं और तथ्य-संग्रह के ढंग से एक काल और राष्ट्र के त्रासदी-स्कूलों और उसके परवर्ती स्कूल के बीच सम्बन्ध-सूत्र जोड़ना होगा, परन्तु उसे इस सातत्य के ऊपर आलोचनात्मक लड़ियों का एक बोध भी होना चाहिए (जैसे जाडेल से रसीन तक और रसीन से वाल्तेयर तक फ्रेंच त्रासदी)।

इतना तो जाहिर है ही कि विधा की समस्या से साहित्यिक इतिहास और साहित्यिक आलोचना के तथा इनके पारस्परिक सम्बन्धों के अनेक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े होते हैं। यह वर्ग और इसके नियामक व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध की दार्शनिक समस्या को, एक और अनेक की दार्शनिक समस्या को, एक विशिष्ट साहित्यिक सन्दर्भ में प्रस्तुत करती है।

अध्याय अठारह

मूल्यांकन

'मूल्य' और 'मूल्यांकन' शब्दों के अर्थों में विभेद कर लेना बहुत सुविधाजनक होगा। मनुष्य-जाति सदा से मौखिक और मुद्रित साहित्य को 'मूल्यवान्' समझती रही है, अर्थात् इसमें रुचि लेती रही है और इसे कुछ काम की चीज समझती आई है। परन्तु जिन आलोचकों और दार्शनिकों ने साहित्य का, या विशिष्ट साहित्यिक कृतियों का, 'मूल्यांकन' किया है, वे इनको बेकार वस्तु करार दे सकते हैं। जो भी हो यहाँ हम रुचि के अनुभव से निर्णय (गुण-दोष विचार) की क्रिया पर पहुँच जाते हैं। हम किसी वस्तु या रुचि की कोटि का अन्दाजा किसी एक आदर्श के सन्दर्भ में, कुछ मानकों को लागू करके, या दूसरी वस्तुओं और रुचियों से इनकी तुलना करके करते हैं।

यदि हम व्योरे के साथ यह बताने का प्रयास करें कि मनुष्य जाति का साहित्य से क्या वास्ता रहा है तो हमारे सामने परिभाषा की मुश्किलें खड़ी हो जायेंगी। ऐसा लगता है कि साहित्य का उद्भव गायन, नृत्य और धार्मिक अनुष्ठानों के सांस्कृतिक गुच्छ से हुआ है, परन्तु आधुनिक अर्थ में देखें तो इसका उद्भव इनसे बहुत धीरे-धीरे ही हुआ है। और यदि हम यह बताने चलें कि मनुष्य जाति का साहित्य से क्या लगाव है तो हमें इस लगाव का विश्लेषण करके इसके अवयवों को देखना होगा। वस्तुतः वह कौन सी चीज है जिसके लिए लोग साहित्य को मूल्यवान समझते रहे हैं? वे इसमें किस तरह के मूल्य, अर्हता, या रुचि पाते रहे हैं? इसके उत्तर में हमें कहना होगा कि ये अनेक प्रकार के रहे हैं। होरेस के सूत्र **डल्स एट यूटाइल** को हम 'मनोरंजन' और 'ज्ञानवृद्धि' या 'क्रीड़ा' और 'कार्य' या 'परम मूल्य' और 'नैमित्तिक मूल्य', या 'कला' और

'प्रचार'—या कला जो अपना लक्ष्य आप है और कला जो जातीय अनुष्ठान और संस्कृति को परस्पर जोड़ने का काम करती है—कह सकते हैं।

यदि अब हम यहाँ कर्तव्यविषयक सवाल उठाएँ—कि लोगों को साहित्य को किस रूप में मूल्यवान समझना चाहिए और किस तरह इसका मूल्यांकन करना चाहिए—तो इसका उत्तर देते हुए हमें कुछ परिभाषाएँ देनी होंगी। साहित्य स्वयं अपने आप में जो कुछ है उसी के लिए लोगों को इसे मूल्यवान समझना चाहिए और इसका मूल्यांकन इसके साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि इसमें यह मूल्य कितनी मात्रा में विद्यमान है। साहित्य के स्वरूप प्रयोजन और मूल्यांकन के बीच अनिवार्य रूप से निकट सम्बन्ध होना चाहिए। किसी चीज का प्रयोग—इसका आम, विशिष्ट या उपयुक्त उपयोग—वह होना चाहिए जिसके लिए इसका स्वरूप (या ढाँचा) बना है। कार्य रूप में जो कुछ इसकी क्रिया होती है वही संभाव्यता के रूप में उसका स्वरूप हुआ करता है। यह जो कुछ कर सकती है वही होती भी है; यह जो कुछ होती है वही कर भी कसती है या वही इसे करना भी चाहिए। हमें वस्तुओं का मूल्य उसी बात के लिए स्वीकार करना चाहिए जो कुछ वे हों या जो कुछ वे कर मकती हों, और इनका मूल्यांकन उसी ढंग की और वही काम करने वाली दूसरी चीजों से तुलना करके करना चाहिए।

साहित्य का मूल्यांकन हमें इसके अपने स्वरूप और मात्रा को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। इसका अपना स्वरूप क्या है? साहित्य अपने आप में क्या है? 'शुद्ध' साहित्य क्या होता है? हमने इन प्रश्नों को जिस शब्दावली में प्रस्तुत किया है उससे किसी विश्लेषणात्मक या अपचेय प्रक्रिया की ध्वनि फूटती है; यह उसी तरह का उत्तर है जिससे हम 'विशुद्ध' कविता की अवधारणाओं—विम्बवाद या ध्वनि—पर पहुँचते हैं। परन्तु यदि हम इसी आधार पर शुद्धता को और आगे बढ़ायें तो हमें दृश्य बिम्ब विधान और यूफोनी के मिश्रण को अलग-अलग करके चित्र-कला और संगीत में बाँट देना होगा और कविता लुप्त हो जायेगी।

इस तरह की शुद्धता की आवधारणा इसके विश्लेषक तत्वों में से एक है। इससे अच्छा तो गठन और प्रयोजन को लेकर अपनी बात आरंभ करना रहेगा। इस बात का निर्धारण कि कोई विशेष कृति साहित्य है या नहीं इस बात से नहीं होता कि उसके क्या तत्व हैं और उनको किस रूप में गठित किया गया है, बल्कि इस बात से होता है कि इन तत्वों को किस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए रखा

गया है। शुद्ध साहित्य के कुछ पुराने हामियों ने अपने सुधार के उत्साह में यह मान लिया था कि मात्र नैतिक या सामाजिक विचारों के आ जाने के कारण ही कोई उपन्यास या कविता 'उपदेशात्मक' हो जाती है। परन्तु साहित्यिक रूप में प्रयुक्त, पात्र और परिवेश की तरह—वस्तु के रूप में—साहित्यिक कृति के अभिन्न अंग के रूप में विचारों के प्रयुक्त होने के कारण ही साहित्य दूषित नहीं हो जाता। आधुनिक परिभाषा के अनुसार साहित्य को जिन चीजों से शुद्ध होना चाहिए वे हैं व्यावहारिक आशय (प्रचार, तत्काल और सीधी कार्रवाई के लिए प्रोत्साहन) और वैज्ञानिक आशय (जानकारी या तथ्य प्रस्तुत करना, ज्ञान की वृद्धि करना)। 'शुद्ध' से हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि कविता में ऐसे 'तत्व' विच्छिन्न तत्व नहीं होने चाहिए जिनको अपने सन्दर्भ से हटा कर व्यावहारिक या वैज्ञानिक अर्थ में लिया जा सके। हमारा यह भी तात्पर्य नहीं है कि किसी 'शुद्ध' उपन्यास या कविता को, कुल मिलाकर 'अशुद्ध' रूप में पढ़ा ही नहीं जा सकता। प्रत्येक वस्तु का दुरुपयोग हो सकता है, या उसका अनन्-रूप प्रयोग, अर्थात् ऐसे कार्यों के लिए प्रयोग होता है जो उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते :

> जैसे कुछ लोग चर्च सिद्धान्त के लिए नहीं
> अपितु संगीत सुनने के लिए जाते हैं।

गोगोल की कहानी 'द क्लाक' और उपन्यास 'द डेड सोल्स' का उनकी रचना के दिनों प्रबुद्ध आलोचक तक गलत अर्थ लगाते थे। परन्तु इनके छिट-फुट अंशों और तत्वों के आधार पर गलत अर्थ लगा कर जो यह दृष्टिकोण बनाया गया था कि ये प्रचारवादी हैं, इसका इन कृतियों के अपने साहित्यिक गठन उनकी व्यंग्य, पैरोडी, श्लेष चमत्कार, स्वांग और प्रहसन की जटिल युक्तियों से कोई मेल ही नहीं बैठता।

साहित्य के प्रयोजन की इस रूप में परिभाषा करके क्या हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाये हैं? एक तरह से सौन्दर्यशास्त्र की पूरी समस्या को उन दोनों दृष्टिकोणों के बीच में स्थित माना जा सकता है जिनमें से एक का दावा है कि 'सौन्दर्यानुभव' का अपना पृथक और अनपचेय (इरिड्यूसिबल) अस्तित्व है, (जो कला के स्वायत्त लोक का दावा करता है) और दूसरा जो कला को विज्ञान और समाज का उपादान मानता है, जो इस तरह के 'सौन्दर्यात्मक मूल्य' को 'ज्ञान' और 'क्रिया', एक ओर विज्ञान व दर्शन और दूसरी ओर नीति शास्त्र व राजनीति के बीच की चीज मानता है। सिर्फ इसलिए कि कोई परम,

अपचेय 'सौन्दर्यात्मक मूल्य' को मानने से इन्कार करता है किसी को यह मानने से इन्कार नहीं करना चाहिए कि कला-कृतियों में मूल्य होता है। कोई व्यक्ति कलाकृतियों, या कला के मूल्यों को उन चीजों पर 'घटित', खण्डित और विभाजित कर सकता है जिन्हें वह 'वास्तविक', 'आद्य' मूल्य-प्रणालियाँ कहता है। कुछ दार्शनिकों की तरह वह कलाओं को ज्ञान का आदिम और घटिया रूप मान सकता है; या कुछ सुधारकों की तरह वह क्रिया को प्रोत्साहित करने के साहित्य के कल्पित सार्मथ्य के आधार पर उसको परख सकता है। वह कला का (और विशेषतः साहित्य का) मूल्य उसके विस्तृत प्रभावक्षेत्र में, अविशेषज्ञ को भी प्रभावित कर सकने में मान सकता है। लेखकों और आलोचकों के लिए यह दावा साहित्यिक कृतियों की रचना और व्याख्या की विशेषज्ञता के दावे की अपेक्षा अधिक आडंबरपूर्ण हो सकता है। इससे साहित्यिक मेधा के व्यक्ति को 'पैगम्बरी' अधिकार मिल जाता है, वह एक 'सर्वथा भिन्न 'सत्य' का अधिकारी हो जाता है जो विज्ञान और दर्शन के सत्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक और गहन होता है। परन्तु इन ऊँचे दावों की रक्षा इनके इतने ऊँचे होने के कारण ही करना कठिन हो जाता है, सिवाय उस स्थिति के जिसमें प्रत्येक क्षेत्र का मूल्य—चाहे वह धर्म हो, या दर्शन या अर्थशास्त्र या कला—अपने आदर्श रूप में यह दावा करे कि यह दूसरे सभी से अधिक सच्चा है और दूसरों में जो कुछ सर्वोत्तम है वह सब इसमें आ गया है। साहित्य को ललित कलाओं में से एक मानना इसके कुछ समर्थकों को कायरता और विश्वासघात प्रतीत होता है। साहित्य ने यह दावा तो किया ही है कि यह ज्ञान का एक उत्कृष्ट रूप है, साथ ही यह दावा भी किया है कि यह नैतिक और सामाजिक क्रिया का भी एक रूप है—इन दावों को त्यागने का मतलब क्या साहित्य के दाय या इसकी हैसियत को छोड़ना नहीं है? और क्या प्रत्येक क्षेत्र (प्रत्येक विस्तारवादी राष्ट्र, और महत्वाकांक्षी व आत्मविश्वासी व्यक्ति की तरह) उससे कहीं अधिक दावा नहीं कर सकता जितने के विषय में उसे यह आशा हो सकती है कि उसे उसका पड़ोसी या प्रतिस्पर्धी छोड़ने के लिए तैयार होगा?

कुछ साहित्य-प्रेमी इस बात को मानने से इन्कार करेंगे कि साहित्य को सौन्दर्यशास्त्रीय शब्दावली में उचित ढंग से एक 'ललित कला' कहा जा सकता है। दूसरे कुछ 'सौन्दर्यात्मक मूल्य' और 'सौन्दर्यानुभव' जैसी संकल्पनाओं को, जहाँ तक वे कोई विशिष्ट मूल्य या अनुभव होने का दावा करती हैं—मानने से इन्कार करेंगे। क्या 'सौन्दर्यानुभव' या सौन्दर्यात्मक पदार्थों और गुणों का

दूसरों से भिन्न कोई स्वायत्त क्षेत्र है जो अपने स्वरूप से ही इस तरह के अनुभव को व्यक्त करने में समर्थ हो ?

काण्ट के समय से ही अधिकांश दार्शनिक और ललित कलाओं में, जिसमें साहित्य भी सम्मिलित है, गंभीरता से रुचि लेने वाले अधिकांश लोग इस बात से सहमत रहे हैं कि इनका अपना विशिष्ट स्वरूप और मूल्य है। उदाहरण के लिए, थियोडोर ग्रीन का कहना है कि 'हम कलात्मक गुणवत्ता को दूसरे अधिक आदिम गुणों के **स्तर पर नहीं ला सकते**'; और आगे वह तर्क देते हैं : "किसी कलाकृति के विशिष्ट स्वरूप का अन्तर्ज्ञान केवल तत्काल ही प्राप्त हो सकता है, और यद्यपि इसे प्रदर्शित या सूचित किया जा सकता है पर इसकी परिभाषा देना या वर्णन करना संभव नहीं है।"

विशिष्ट सौन्दर्यानुभव की प्रकृति के विषय में दार्शनिकों में बहुत अधिक सहमति पाई जाती है। काण्ट ने अपनी पुस्तक **क्रीटक आफ जजमेण्ट** में, 'निष्प्रयोजन प्रयोजनीयता' (वह प्रयोजन जिसका लक्ष्य क्रिया नहीं होती) पर, 'संसक्त' या घटित (ऐप्लाएड) सौन्दर्य की तुलना में 'शुद्ध' सौन्दर्य की श्रेष्ठता पर, अनुभव करने वाले की निःसंगता (जो प्रत्यक्षानुभव के लिए निर्मित वस्तु को अपनाने. या भोगने या दूसरे रूपों में संवेदन या संज्ञान (कोनेशन) में परिवर्त्तित करने की इच्छा नहीं रखेगा) पर बल दिया है। हमारे समसामयिक सिद्धान्तकार इस बात से सहमत हैं कि सौन्दर्यानुभव ऐसे गुणों का प्रत्यक्षीकरण है जो आन्तरिक रूप में सुखद और रोचक होते हैं, जिनसे एक सीमान्त मूल्य या नमूना मिलता है और जो अन्य सीमान्त मूल्यों का पूर्वास्वाद करा देते हैं। इसका संबंध अनुभूति (सुख-दुख) सुखवादी (हेडोनिस्टिक अनुक्रिया) और इन्द्रियों से है; परन्तु यह अनुभूतियों को मूर्त और मुखर कर देती है—कला-कृति में अनुभूतियों को एक 'वस्तुनिष्ठ सहसम्बन्ध' मिल जाता है, और यह अपनी वस्तु के काल्पनिक ढाँचे के कारण संवेदन और संज्ञान से दूर हट जाती है। सौन्दर्यात्मक वस्तु वह है जिसमें हम स्वयं इसी के गुणों के कारण रुचि लेते हैं और जिसे हम सुधारने का, या अपना अंगभूत बनाने, अपने भीतर समाहित करने या भोगने का प्रयास नहीं करते। सौन्दर्यानुभव एक तरह का चिन्तन है, गुणों और गुणात्मक संरचनाओं की दिशा में एक प्रीतिकर अवधान है। इसमें बाधा डालने वाला तत्व है व्यावहारिकता, और दूसरा मुख्य बाधक तत्व है आदत जो व्यावहारिकता द्वारा तैयार किये गये आधार पर काम करती है।

साहित्यिक कृति सौन्दर्यानुभव का विषय होती है, और सौन्दर्यानुभव जगाने

में समर्थ होती है। क्या हम किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन निरे सौन्दर्य के मानदण्ड पर कर सकते हैं, या जैसा कि टी० एस० ईलियट ने संकेत किया है हमें साहित्य की साहित्यिकता को सौन्दर्य के मानदण्ड पर और इसकी महानता को सौन्दर्य-बाह्य मानदण्डों से परखना चाहिए? ईलियट के पहले निर्णय को दो शाखाओं में बाँटा जा सकता है। हम किसी विशिष्ट शाब्दिक रचना (वर्बल कंस्ट्रक्शन) को पहले साहित्य के रूप में वर्गीकृत करते हैं (जैसे कहानी, कविता, नाटक) और फिर यह प्रश्न करते हैं कि यह 'उत्तम साहित्य' अर्थात् उस कोटि का साहित्य है या नहीं जिसकी ओर सौन्दर्यानुभव रखने वाले व्यक्तियों को ध्यान देना चाहिए। महानता का प्रश्न हमें मानकों और आदर्शों की ओर उन्मुख करता है। आधुनिक आलोचक अपने को सौन्दर्यपरक आलोचना तक सीमित रखने वाले आलोचकों को सामान्यतः 'फार्मलिस्ट' या 'रूपवादी' कहा जाता है। यह नाम कभी-कभी तो उन्होंने स्वयं अपने लिए प्रयुक्त किया है, परन्तु कभी-कदा इसका प्रयोग उपहास के तौर पर दूसरे लोगों ने भी किया है। यह शब्द रूप (फार्म) से निकला है और 'रूप' शब्द अपने आप में भी काफी अस्पष्ट है। हम इस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग करेंगे वह है किसी साहित्यिक कृति का सौन्दर्यपरक ढाँचा—वह जो इसे साहित्य की कोटि में लाता है। हमें चाहिए कि हम साहित्य की किसी कृति को 'रूप और वस्तु' के दो खण्डों में न बाँट कर पहले विषय की बात सोचें और फिर 'रूप' की अर्थात् उस चीज की बात सोचें जो इस 'विषय' को सुरुचिपूर्ण ढंग से गठित करता है। किसी सफल कला कृति की सामग्री उसके शिल्प में पूरी तरह रच-पच जाती है : इसके पहले जो कुछ 'जगत' रहता है वह अब भाषा बन जाता है। किसी साहित्यिक कला-कृति की सामग्री एक स्तर पर तो शब्द होते हैं और दूसरे स्तर पर मानवीय आचरण और अनुभव तथा तीसरे स्तर पर मानवीय विचार और भावनाएँ। ये सभी और साथ ही भाषा भी कला-कृति के बाहर दूसरे रूपों में स्थित रहते हैं; परन्तु एक सफल कविता या उपन्यास में सभी सौन्दर्यात्मक प्रयोजन से खिंच कर एक दूसरे से अनेक रूपों में गुम्फित हो जाते हैं।

क्या केवल रूपवादी मानदण्डों के आधार पर साहित्य का सम्यक् रूप से मूल्यांकन किया जा सकता है? इसका जो एक उत्तर दिया जाता रहा है वह मोटे तौर पर इस प्रकार है।

रूसी रूपवादी जिन मानदण्डों को प्राथमिक मानते रहे हैं वे दूसरे स्थानों के सौन्दर्य-शास्त्रीय मूल्यांकन में भी पाये जाते हैं। ये हैं नवीनता और विस्मय के

मानदण्ड। पिटे-पिटाये मुहाविरों या वाक्यों को सुनकर तत्काल प्रत्यक्षानुभूति नहीं जाग्रत होती। हम शब्दों को शब्दों के रूप में नहीं सुनते, न ही उनके पारस्परिक मिलन से जो निर्देश किया जाता है उसी की ओर हमारा ध्यान जा पाता है। रूढ़ और पिटी-पिटाई भाषा के प्रति हमारी अनुक्रिया 'एक अभ्यस्त अनुक्रिया' हुआ करती है, यह या तो परिचित आदतों के अनुसार किया गया आचरण होता है, या होता है एक बोरियत। हमें शब्दों का और उस चीज का जिसके ये शब्द प्रतीक होते हैं तभी 'भान' होता है जबकि इन्हें बिल्कुल नये और विस्मयजनक क्रम में उपस्थित किया जाता है। पाठक भाषा की ओर तभी ध्यान दे सकते हैं जब कि भाषा को 'तोड़ा-मरोड़ा' गया हो, अर्थात् इसे या तो बिल्कुल आदिम या दूसरी किसी एकदम अलग दिशा में या बर्बरता की दिशा में नये ढंग से सँवारा गया हो। अतः विक्टर श्कोलोव्स्की का कहना है कि कविता 'भाषा को नया बनाती है', 'इसमें विलक्षणता लाती है।' परन्तु नवीनता का यह मानदण्ड बहुत प्राचीन है, और कम से कम स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के समय से—जिसे वैट्स-डण्टन ने 'आश्चर्यों से भरा रिनेसां' की संज्ञा दी थी—तो हम इसे पाते ही हैं।

वर्ड्सवर्थ और कोलरिज परस्पर मिलकर अपने-अपने ढंग से इसे 'विलक्षण' बनाने के प्रयत्न में लगे हुए थे और इसके परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि एक ने सुपरिचित वस्तुओं को विलक्षणता का पुट देने का प्रयास किया और दूसरे ने अद्भुत चीजों पर परिचय का रंग चढ़ाया। कविता के क्षेत्र में पिछले दिनों के भीतर सामने आये प्रत्येक 'आन्दोलन' ने यही रास्ता अपनाया है और वह है समस्त स्वतःस्फूर्त अनुक्रियाओं (रेस्पान्स) को छाँट कर अलग करना, भाषा में नवीनता लाना (शब्दों की क्रान्ति), और अनुभूति का पैनापन। स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन में बच्चों की इस अर्थ में बहुत तारीफ की गयी थी कि उनकी प्रत्यक्षानुभूति बिल्कुल नई और ताजी होती है। मैतीस ने चीजों को उस रूप में चित्रित करने के लिए बहुत श्रम किया था जिस रूप में उन्हें एक पाँच साल का बच्चा देखता है। पेटर इस बात पर बल देते थे कि सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशासन में रूढ़ आदतों को प्रत्यक्षानुभूति की विफलता माना गया है और इस तरह इन्हें वर्जित ठहराया गया है। कला का मानदण्ड है नवीनता, पर हमें यह याद रखना होगा कि नवीनता गुणता की निर्व्याज प्रत्यक्षानुभूति में होती है।

यह मानदण्ड हमें कहाँ तक ले जा सकता है? रूसियों ने इसे जिस रूप में प्रयोग में लाया है उस रूप में यह निश्चित रूप से सापेक्षतावादी है।

मुकोरोव्स्की का कहना है कि सौन्दर्यशास्त्रीय आदर्श जैसी कोई चीज नहीं होती, कारण सौन्दर्यशास्त्रीय आदर्श का सार तत्व यह है कि यह विच्छिन्न होता है। कोई भी काव्य-शैली अधिक समय तक विलक्षण नहीं रह पाती। अतः मुकोरोव्स्की का तर्क है कि कृतियों का सौन्दर्यशास्त्रीय उपयोग समाप्त हो सकता है और जब यह अति परिचित तत्व पुनः अपरिचित बन जाये तो संभवतः इनका सौन्दर्यशास्त्रीय प्रयोजन पुनः लौट सकता है। कुछ विशिष्ट कविताओं के बारे में तो हम सभी लोगों को पता है कि कुछ समय के लिए उन्हें 'चुका देने' का क्या अर्थ होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि बाद में हम फिर उन्हीं कविताओं की ओर लौट आते हैं, और कभी-कभी ऐसा लगता है कि वे पूरी तरह निःशेष हो चुकी हैं। अतः साहित्य का इतिहास ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों कुछ कवि पुनः विचित्र लगने लगते हैं और दूसरों में किसी तरह की नवीनता नहीं दिखाई देती।

परन्तु जब हम किसी कृति की ओर अपने बार-बार मुड़ने की बात करते हैं तो लगता है कि हम एक नया मानदण्ड अपना चुके होते हैं। जब हम बार-बार कोई एक ही कृति पढ़ते हैं और यह कहते हैं कि 'हम हर बार इसमें कुछ नयी बातें पाते है', तो सामान्यतः हमारा यह तात्पर्य नहीं होता कि हम हर बार एक तरह की ही कुछ और चीजें पाते हैं, अपितु यह होता है कि अर्थ के नये स्तर, साहचर्य के नये पैटर्न पाते हैं। हम पाते हैं कि वह कविता या उपन्यास अनेकानेक रूपों में गठित है। हम भी वोएज की ही तरह इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यदि कोई कृति होमर या शेक्सपियर की कृतियों की भाँति आज तक सराहना प्राप्त करती जा रही है तो उसमें अवश्य 'बहुविधता' होगी। इसका सौन्दर्यात्मक मूल्य इतना वैविध्यपूर्ण होगा कि इसकी एक या अधिक संरचनाएँ बाद के प्रत्येक काल को बहुत गहरी तुष्टि प्रदान कर सकें। लेकिन इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि इस तरह की कोई कृति इतनी समृद्ध होती है कि स्वयं लेखक के जीवन काल में ही इसके सभी स्तरों और तंत्रों का साक्षात्कार करना एक व्यक्ति के वश का काम नहीं होता अपितु इसके लिए पूरे जन-समुदाय की आवश्यकता होती है। शेक्सपियर के किसी नाटक में 'बिल्कुल मामूली किस्म के आदमी को कथानक दिखाई देता है, उससे अधिक प्रबुद्ध व्यक्ति को चरित्र और संघर्ष, उससे अधिक साहित्यिक दर्शक को शब्द और रचना, और उससे भी प्रबुद्ध और संवेदनशील दर्शक को एक ऐसा अर्थ दिखाई देता है जो अपने को क्रमशः उद्घाटित करता है।'

हमारा मानदण्ड 'कल्पनाजन्य एकीकरण' और 'एकीकृत सामग्री की मात्रा' (और वैविध्य) इन दोनों को अपने में समेटता है। सच कहें तो रूपवादी आलोचना व्यावहारिक रूप में अपने को प्रायः केवल उन्हीं कृतियों तक सीमित रखती है जिनके नियामक तत्व इतने जटिल होते हैं कि इनकी व्याख्या की आवश्यकता बनी रहती है। इस आलोचना के अनुसार किसी कविता का गठन जितना ही कसा हुआ होगा उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा। जटिलताएँ एक स्तर पर भी हो सकती हैं और अनेक स्तरों पर भी। हाप्किन्स में ये मुख्यतः शब्द-चयन, पद-विन्यास और छन्दशास्त्र से सम्बन्धित हैं। लेकिन ये साथ ही, या अकेली, बिम्ब-विधान या विषय या टोन या कथानक से सम्बन्धित जटिलताएँ भी हो सकती हैं। उच्चतम मूल्य की कृतियाँ इन ऊँचे तत्वों की दृष्टि से ही जटिल होती हैं।

सामग्री के वैविध्य से हमारा तात्पर्य विशेषतः विचारों, पात्रों, सामाजिक टाइपों और मनोवैज्ञानिक अनुभव से हो सकता है। ईलियट ने 'मेटाफिजिकल पोएट्स' में इसका विस्तृत उदाहरण दिया है जो बहुत संगत है। ईलियट यह सिद्ध करते हुए कि कवि का मस्तिष्क अलग-अलग अनुभवों को निरन्तर एक में मिलाता रहता है, यह कल्पना करते हैं कि इस तरह की समग्रता कवि के प्रेम करने, स्पाइनोज़ा का अध्ययन करने, टाइपराइटर की आवाज सुनने और रसोईघर से आती गंध को सूँघने आदि अनेक चीजों से बनती है। डा० जानसन ने इसी सम्मिश्रण को अनमेल तत्वों का मिलन (डिसकार्डिया कंकोर्स) कहा है, और यह सोच कर कि इस तरह की पद्धति सफल होने के स्थान पर निष्फल ही हो सकती है, उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि इसमें बिल्कुल असम्बद्ध विचारों को जोर-जबरदस्ती से लाकर एक-दूसरे के साथ नाथ दिया जाता है। 'मेटाफिजिकल कवियों' की आलोचना करने वाले एक दूसरे आलोचक जार्ज विलियम्सन ने अधिकांशतः इनकी सफलताओं का ही उल्लेख किया है। हमारा सिद्धान्त यहाँ यह होगा कि यदि सम्मिश्रण सच्चा हो तो कविता का मूल्य उसी अनुपात में बढ़ जायेगा जिस अनुपात में इसकी सामग्री में वैविध्य पाया जायेगा।

बोसांके ने '**थ्रीलेक्चर्स आन एस्थेटिक्स**' में सौन्दर्य के दो भेद किये हैं—सुकर सौन्दर्य (ईजी ब्यूटी) और दुःसाध्य सौन्दर्य (डिफिकल्ट ब्यूटी)। उनका कहना है कि दुःसाध्य सौन्दर्य में 'जटिलता', 'तनाव' और 'विस्तार' हुआ करता है। हम इन दोनों का भेद यह कह कर प्रकट कर सकते हैं कि एक में सौन्दर्य

की सिद्धि ऐसी सामग्रियों से होती है जिन पर आसानी से अधिकार पाया जा सकता है (यूफोनी, प्रीतिकर चाक्षुष बिम्ब; 'कविता का विषय') और दूसरे में सौन्दर्य की सिद्धि ऐसी सामग्रियों पर निर्भर करती है जो कुछ तीखे होते हैं जैसे दुखद, कुरूप, उपदेशात्मक, व्यावहारिक आदि। इन दोनों का भेद अठारहवीं शताब्दी में 'सुन्दर' और 'उदात्त' (दुःसाध्य सौन्दर्य) के बीच किये गये भेद में विस्तार से दिखाया गया था। 'उदात्त' और 'विशिष्ट' सौन्दर्य में ऐसी सामग्रियों से सौन्दर्य की सृष्टि की जाती है जो ऊपर से असुन्दर प्रतीत होती हैं। त्रासदी में दुखद को विषय बनाया जाता है और इसी की अभिव्यक्ति की जाती है; इसी तरह कामदी कुरूपता पर हावी हो जाती है। सुकर सौन्दर्य की सामग्रियाँ और उनके सुघट्य 'रूप' तत्काल सुखद प्रतीत होते हैं; दुःसाध्य सौन्दर्य अभिव्यंजित होता है।

ऐसा लगेगा कि 'दुःसाध्य सौन्दर्य' और कलात्मक 'महानता' इन दोनों को समकक्षी माना जाना चाहिए, जबकि 'परिशुद्ध' कला और 'महान' कला को समकक्षी नहीं माना जाना चाहिए। आकार या लम्बाई अपने आप में महत्वपूर्ण नहीं है, पर इसका महत्व इस बात में है कि इससे कृति में जटिलता, तनाव और विस्तार की संभावना बढ़ जाती है। कोई कृति या विधा अपने आयामों के ही कारण महत्वपूर्ण होती है यदि हम इस तत्व का विवेचन उतने सहज भाव से नहीं कर सकते जैसे नव्य क्लासिकी धारा के सिद्धान्तकारों ने किया है, तो हम इसे यूँ ही टाल भी नहीं सकते। हम यह अंकुश नहीं लगा सकते कि इसका विस्तार यथासंभव कम होना चाहिए, कि लम्बी कविता जितना स्थान घेरती है उसके बदले में उसे उससे कुछ अधिक करना होगा जितना यह पहले किया करती थी।

कुछ सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में यह आवश्यक है कि महानता का निर्णय करने के लिए सौन्दर्यशास्त्रीय मानदण्डों से इतर मानदण्डों को भी स्थान दिया जाये। इस तरह एल० ए० रीड इस मत का समर्थन करते हैं कि महानता किसी कलाकृति में **वस्तु** पक्ष से आती है, और मोटे तौर पर कहें तो कोई कला उतने ही अंशों में 'महान्' होती है जितने अंशों में यह जीवन के महान् मूल्यों की अभिव्यक्ति करती है; और टी० एम० ग्रीन 'सत्य' और 'महानता' को सौन्दर्यशास्त्र के बाहर का मानदण्ड मानते हैं, पर इन्हें कला का आवश्यक मानदण्ड बताते हैं। परन्तु व्यावहारिक स्तर पर देखें तो ग्रीन और विशेषतः रीड बोसांके के दुःसाध्य सौन्दर्य के मानदण्ड से आगे नहीं बढ़ पाये हैं। उदहहरण के

लिए 'सोफोक्लीज, दान्ते, मिल्टन और शेक्सपियर आदि महान कवियों की महान कृतियाँ विविध प्रकार के मानव-अनुभवों का संगठित रूप हैं।' सिद्धान्त या व्यवहार के किसी भी क्षेत्र में महानता के 'लक्षणों' या मानदण्डों में 'अनुपात और संगति के साथ जटिलता की पकड़' समान रूप से पाई जाती है, परन्तु महानता के ये लक्षण जब किसी कला-कृति में प्रकट होते हैं तो एक 'समन्वित मूल्य-स्थिति' (वैल्यू सिचुएशन) में एक 'आस्वाद्य और भोग्य मूर्त मूल्य' के रूप में प्रकट होते हैं। रीड यह प्रश्न नहीं उठाते कि कोई कविता इसलिए महान होती है कि यह किसी महान व्यक्ति (मेधा, या व्यक्तित्व) की रचना है, या यह एक कविता के रूप में महान है? इसकी अपेक्षा वह इसमें निहित उत्तरों के बीच तालमेल बैठाने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि वह किसी महान कविता को उसके विषय-विस्तार और निर्णय के कारण महान मानते हैं, परन्तु वह इन मानदण्डों को काव्यात्मक दृष्टि से रूपायित रचना पर घटित करते हैं न कि किसी कल्पित कविता के ऊपर।

रूपवादी विवेचन के परीक्षण के लिए दान्ते की **डिवाइन कामेडी** और मिल्टन का **पैराडाइज लास्ट** बहुत अच्छे नमूने हैं। क्रोचे ने **डिवाइन कामेडी** को एक कविता नहीं माना है, अपितु गीतात्मक टुकड़ों की एक शृंखला मानी है जिसे मिथ्या विज्ञान माना गया है। क्रोचे को 'लम्बी कविता' और 'दार्शनिक कविता' ये दोनों परस्पर विरोधी शब्द प्रतीत होते हैं। एक पीढ़ी पहले के सौन्दर्यशास्त्री जिनका एक उदाहरण लोगन पीयर्सेल स्मिथ हैं, **पैराडाइज लास्ट** को पुरातन धर्मशास्त्र और श्रुति विषयक आनन्द का मिश्रण मानते हैं—इसमें मिल्टन का योगदान यही है कि उसने इनमें अतीव संगीतात्मकता ला दी है। इसमें 'विषय-वस्तु' तो उपेक्षणीय है; रूप सर्वथा अखंड है।

हमारे विचार से इस तरह के निर्णयों को रूपवाद का सन्तोषजनक उदाहरण मान कर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। इस तरह के निर्णयों में कलाकृतियों के विषय में यह दृष्टिकोण अपनाया जाता है कि इनको अलग-अलग टुकड़ों में बाँट कर देखा जा सकता है। इसमें समूची कृति की काव्यात्मकता का अनुमान लगाने के स्थान पर अलग-अलग उपकरणों की सापेक्ष काव्यात्मकता का अनुमान लगाया जाता है। समग्र कलाकृति को ध्यान में रखने से इसके तमाम अंशों में जान आ जाती है और वे सार्थक लगने लगते हैं जिन्हें इस सन्दर्भ से अलग कर दिया जाये तो वे अनर्गल प्रलाप मालूम होंगे। दान्ते और मिल्टन दोनों ने ही कविताएँ तो लिखी ही थीं साथ ही

साथ प्रबन्ध भी लिखे थे। मिल्टन ने, जो स्वतंत्र धार्मिक विचारों के थे, लगभग उसी समय जब वह **पैराडाइज़ लास्ट** लिख रहे थे, ईसाइयत के सिद्धान्तों पर एक निबन्ध भी लिखा था। उनके काव्य के स्वरूप की व्याख्या चाहे जिस रूप में भी क्यों न की जाये (महाकाव्य, ईसाइयत से सम्बद्ध महाकाव्य, दार्शनिक और महाकाव्यात्मक कविता) इस घोषणा के बाद भी कि यह 'ईश्वरीय विधान का औचित्य सिद्ध करने के लिए' (टु जस्टिफाई द वेज़ आफ गाड) लिखा गया है इसका प्रबन्ध-रचना से अलग भी अपना उद्देश्य है। इसका स्वरूप साहित्य की परम्परा से निश्चित हुआ है, जो इसे पढ़ने के साथ ही मूर्त हो उठता है और निश्चित हुआ है मिल्टन की आरंभिक कविताओं के साथ इसके सम्बन्ध से।

पैराडाइज़ लास्ट में मिल्टन का धर्मशास्त्र कट्टर प्रोटेस्टेण्ट है या इसे इस रूप में ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु यदि कोई पाठक इस धर्म में विश्वास न करता हो तो भी इसमे कविता में कोई कमी नहीं आती। ब्लेक के समय तक यह कहा जाता था कि इस कविता का नायक शैतान है यद्यपि मिल्टन को अपने इस 'आशय' का ज्ञान नहीं है और बायरन तथा शेले एक रोमाण्टिक **पैराडाइज़ लास्ट** की बात सोचते थे जिसमें शैतान के साथ प्रामिथियस को रखा गया था। इसमें मिल्टन के ईडन में पाये जाने वाले आदिम तत्वों का बहुत सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विवेचन किया गया है जैसा कि कालिन्स ने उससे पहले ही करना शुरू किया था। साउरैट ने सिद्ध किया है इसको 'मानवतावादी' अर्थ में भी लिया जा सकता है। इस कविता के प्रवाह, इसके परिदृश्य, इसकी दृश्यावली को, जो उदासी से भरपूर या कुछ अस्पष्ट रूप में उदात्त है, इसमें पाये जाने वाले धर्मशास्त्र या इतिहास को अस्वीकार करने से ही खत्म नहीं किया जा सकता।

यह बात नितान्त सन्दिग्ध है कि यदि पैराडाइज़ लास्ट के सिद्धान्त को अलग छाँट दिया जाये तो भी यह मात्र अपनी शैली के बल पर ही एक महान् कविता बनी रह सकती है। इस तरह की दृष्टि से 'रूप' और 'अर्थ' में किसी कृति को बाँट कर देखना अपनी तार्किक परिणति पर पहुँच जाता है। यहाँ 'रूप' शैली बन कर रह जाता है और 'अर्थ' 'विचारधारा' बन जाता है। इस तरह के अलगाव में सच कहें तो पूरी कृति का ध्यान नहीं रखा जाता है। इसमें छन्दशास्त्र और शब्द चयन से 'ऊपर' के सभी तत्वों को छोड़ दिया जाता है और 'अर्थ' का जो विवरण दिया जाता है उसके अनुसार वह रूप ले लेता है जिसे एल० ए० रीड ने 'गौण विषयवस्तु' (विषय वस्तु जो कला कृति से बाहर रहती

है) को संज्ञा दी है। इसमें कथानक या कथातत्व, पात्र (या अधिक ठीक रहेगा यदि हम कहें 'चरित्रचित्रण) और 'जगत', कथानक, वातावरण और चरित्रों को एक-दूसरे से जोड़ने को 'अतीन्द्रिय स्वरूप' को (जिसे वह लोक दृष्टि या जीवन दृष्टि माना जाता है जो कृति से स्फुटित होती है, न कि कृति में या कृति के बाहर लेखक द्वारा उपदेशात्मक रूप में बयान किया गया दृष्टिकोण) अलग छोड़ दिया जाता है।

यह दृष्टिकोण विशेष रूप से आपत्तिजनक है कि कविता से उसकी संगीतात्मकता को अलग किया जा सकता है। एक सीमित अर्थ में यह माना जा सकता है कि इनमें 'औपचारिक सौन्दर्य'—ध्वन्यात्मक अनुगूंज—हुआ करता है; किन्तु साहित्य में, जिसमें कविता भी शामिल है, रूपात्मक सौन्दर्य लगभग सदा ही अभिव्यक्ति में सहायक होता है : हमें यह प्रश्न उठाना होगा कि 'संगीतात्मकता' कथानक, पात्र और विषय के लिए कितनी उपयुक्त है। मिल्टन की शैली को जब छोटे कवियों ने मामूली विषयों पर लागू किया तो वह हास्यास्पद बन गयी है, जैसा करना उनका आशय नही था।

रूपवादी आलोचना में हमारे अपने विश्वास और किसी लेखक या कवि के विश्वास में सहमति हो ही इसे आवश्यक नहीं माना जाता, कहें असंगत माना जाता है, क्योंकि अन्यथा स्थिति में हम केवल उन्हीं साहित्यिक कृतियों की प्रशंसा करेंगे जिनकी जीवन दृष्टि को हम स्वीकार करते हों। क्या जीवन-विधि का सौन्दर्यात्मक निर्णय की दृष्टि से महत्व होता है? ईलियट का कहना है कि किसी कविता में प्रस्तुत जीवन-दृष्टि ऐसी होनी चाहिए जिसे आलोचक 'संगत, परिपक्व, और जीवन के सच्चे अनुभवों पर आधारित' मान सके। ईलियट का संगति, परिपक्वता और अनुभव की सत्यता का सिद्धान्त जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उस रूप में वह रूपवाद से भी परे चला जाता है। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि संगति सौन्दर्यात्मक मानदण्ड होने के साथ ही साथ एक तार्किक मानदण्ड भी है; परन्तु 'परिपक्वता' एक मनोवैज्ञानिक मानदण्ड है, और 'अनुभव की सत्यता' का सम्बन्ध कलाकृति से बाहर की दुनिया से है और इसके लिए कला और वास्तविकता के बीच तुलना अपेक्षित है। हम ईलियट का उत्तर यह कह कर दे सकते हैं कि किसी कलाकृति में परिपक्वता का अर्थ है इसकी समाहार-शक्ति, जटिलता का इसका बोध, इसके व्यंग्य और इसके अलग-अलग तत्वों को एक दूसरे के साथ रख कर नहीं मापा जा सकता : हम पूरे औचित्य के साथ जिस चीज की तुलना कर सकते हैं वह है डिकन्स,

काफ्का, बाल्जक, या ताल्सताय के समग्र जगत की जीवन के समग्र अनुभव से या अपने चिन्तित और अनुभूत 'जगत' से तुलना। और इनकी पारस्परिक अनुकूलता के विषय में हमारा निर्णय स्पष्टता, तीव्रता, प्रतिरूपित (पैटर्न्ड) विरोध, विस्तार या गहराई, स्थिर या गतिशील आदि सौन्दर्यात्मक रूपों में प्रकट होता है। 'जीता-जागता' (लाइफ लाइक)को हम दूसरे शब्दों में 'साक्षात् कलारूप' (आर्ट लाइक) कह सकते हैं, क्योंकि जीवन और कला के बीच का पारस्परिक संबंध वहाँ पर प्रत्यक्ष हो उठता है जहाँ कला नितान्त शैलीबद्ध (स्टाइलाइज्ड) हो उठती है। डिकन्स, काफ्का और प्रूस्त जैसे लेखक अपनी रची हुई दुनिया को हमारे अपने अनुभव क्षेत्र पर आरोपित कर देते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले मूल्यांकन मुख्यतः लेखकों की कोटि और श्रेणी को—उन क्लासिकी रचनाओं को 'जिनकी सदा से सराहना होती आई है और सदा होती रहेगी'—ध्यान में रख कर किया जाता था। स्वाभाविक है कि इसके जो उदाहरण रखे जायेंगे वे प्राचीन यूनानी और रोमन लेखकों के होंगे, जिन्हें पुनर्जागरण के आगमन के साथ आप्त माना जाने लगा था। उन्नीसवीं शताब्दी तक मध्यकालीन, केल्ट, नोर्स, हिन्दू और चीनी साहित्यिक कृतियों के विशद ज्ञान के कारण इस तरह का पुरानी 'क्लासिकी प्रवृत्ति' पुरानी पड़ गयी। हम ऐसी कृतियों से परिचित हैं जो कुछ समय के लिए दृष्टि से ओझल हो जाती हैं और फिर जिनकी ओर हमारा ध्यान नये सिरे से जाता है, और परिचित हैं ऐसी कृतियों से जिनका सौन्दर्यात्मक प्रभाव समाप्त हो जाता है और फिर वे सौन्दर्यात्मक प्रभाव ग्रहण कर लेती हैं जैसे डन, लैंजलैण्ड, और पोप, मारिस स्कीव और ग्राइफियस की रचनाएँ। निरंकुशतावाद और इसके आधिकारिक आदेशों की सूची की प्रतिक्रिया में आधुनिक दृष्टि अतिवादी, अनावश्यक सापेक्षतावाद (रिलेटिविज्म) की ओर झुकी हुई है, 'रुचि की भँवरी' की बात करने की ओर झुकी हुई है।

मानवतावादी या सन्देहवादी इसे जितना उलझा हुआ सिद्ध करेंगे उससे यह मामला अधिक उलझा हुआ है।

साहित्यिक मूल्यों की तटस्थता को किसी न किसी रूप में समर्थन देने के लिए किसी ऐसे स्थिर विधि-निषेध के प्रति प्रतिबद्ध होने की आवश्यकता नहीं है जिसे कोई नया नाम नहीं दिया गया है और जिसमें किसी तरह का अन्तर नहीं आने का है। एलेन टेट ने इस मान्यता को 'भ्रम' कह कर चुनौती दी है कि 'किसी लेखक की ख्याति सदा एक जैसी ही रहती है' और इसी के साथ

लगे-जुड़े इस दावे को 'विचित्र विश्वास' कहा है कि 'आलोचना का प्रधान कार्य **लेखकों का उपदेश** नहीं है अपितु उनका कोटि-निर्धारण है। ईलियट की तरह ही टेट भी एक सृजनशील साहित्यकार हैं, और उन्हें ईलियट के इस सूत्र का स्मरण है कि वर्तमान अतीत को बदलता रहता है। उन्हें अंग्रेजी कविता के वर्त्तमान, भविष्य और अतीत में विश्वास तो होगा ही। हम कह सकते हैं कि एक वर्ग में कोटि-निर्धारण सदा प्रतियोगितामूलक और सापेक्ष होता है। जब तक नये कवियों को गणना में लिया जाता रहेगा तब तक ऐसे किसी भी कवि के आने की संभावना बनी रहेगी जो सबसे अच्छा हो; लेकिन किसी भी नये नाम को सम्मिलित करने से दूसरी कृतियों की कोटि में भी अन्तर अवश्य आयेगा, चाहे यह अन्तर कितना भी न्यून क्यों न हो। वालर और डेनहैम को पोप के स्थापित होने के साथ ही एक नया महत्व प्राप्त हुआ और साथ ही उनकी कोटि कुछ घटी—अभी तक वे अन्तर्विरोधी स्थिति में पड़े हुए थे, वे पोप के पूर्ववर्ती थे; पोप उनके अनुवर्त्ती थे, परन्तु पोप के कारण वे अपनी पहली स्थिति से कुछ नीचे भी आ गये।

विश्वविद्यालयों में और उनके बाहर कुछ लोग ऐसे हैं जो इसके विपरीत इस बात की जोरदार पुष्टि करते हैं कि बाद के कवियों के कारण पहले के कवियों की स्थिति निरन्तर बदलती रहती है। इस बात के भी उदाहरण पाये जाते हैं, जैसे काउली का—कि हर पीढ़ी की अपनी अभिरुचि होती है, जिसमें बाद की पीढ़ियों के कारण कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु इस मत को स्वीकार करने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक नहीं मालूम होती। आज से तीस वर्ष पहले स्केल्टन को इस वर्ग में रखा जा सकता था, परन्तु आज वह बहुत विदग्ध, 'ईमानदार', और आधुनिक दिखाई देते हैं। खैर, बहुत विख्यात कवि बाद की पीढ़ियों की अभिरुचियों को भी तोप देने में समर्थ रहते हैं। चासर, स्पेन्सर, शेक्सपियर, मिल्टन और यहाँ तक कि ड्राइडन और पोप, वर्ड्सवर्थ और टेनीसन की अपनी स्थिति यद्यपि बिल्कुल अटल नहीं है, पर स्थायी अवश्य है।

इन कवियों की कविताओं में पाये जाने वाले सौन्दर्यात्मक तत्व इतने जटिल और समृद्ध हैं कि ये बाद की पीढ़ियों की संवेदना को तोप दे सकते हैं। मिल्टन का एक रूप नव्य-क्लासिकी का है जिसकी प्रशंसा एडिसन, **स्पेक्टेटर** के अपने निबन्धों में, और पोप करते हैं, और दूसरा रूप स्वच्छन्दतावादी मिल्टन का है जिसकी प्रशंसा वायरन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और शैले करते हैं। शेक्सपियर का

एक रूप वह है जिसकी प्रशंसा कोलरिज ने की थी, और अब हमारे सामने उसका एक दूसरा रूप मिलता है जिसकी ओर विल्सन नाइट ने ध्यान आकृष्ट किया है। हर पीढ़ी किसी महान् कृति के कुछ तत्वों को छोड़ देती है क्योंकि वह उनका ताल-मेल पूरे से नहीं बैठा पाती है, उसे कुछ स्तर या शल्क ऐसे मिलते हैं जिनमें उसे 'सौन्दर्य' नहीं दिखाई देता या जो उसे कुरूप तक मालूम होते हैं (जैसा कि नव्य-क्लासिकी के समर्थकों को शेक्सपियर के श्लेष (पन मालूम हुए थे), फिर भी पूरी कृति उसे सौन्दर्यात्मक दृष्टि से सन्तोषजनक प्रतीत होती है।

लगता है इस समय तक हम एक ऐसे पीढ़ीवाद पर पहुँच आये हैं जो निजी मानी जाने वाली अभिरुचि की सापेक्षता को अस्वीकार करता है, लेकिन जो साहित्य के इतिहास में सौन्दर्य विषयक मानदण्डों के कुछ कम या अधिक विरोधी समूहों में किंचित् परिवर्त्तन होते पाता है (जैसा कि वुल्फलिन ने रिनेसां और बैरक काल के बीच विरोध भाव दिखाया है) और जिससे यह ध्वनित होता है कि आम सिद्धान्तों से हट कर या ऊपर किसी तरह के परिवर्त्तन नहीं हो सकते। लगता है हम इस निष्कर्ष पर भी पहुँच गये हैं कि किसी रचना में अनेक अर्थ और मूल्य हुआ करते हैं, कि अधिक समय तक जीवित रहने वाली रचनाएँ इनकी प्रशंसा करने वाली विभिन्न पीढ़ियों को विभिन्न कारणों से रुचती हैं, या यदि इन दोनों निष्कर्षों को एक साथ प्रस्तुत करें तो हम कह सकते हैं कि महत्वपूर्ण कृतियाँ, क्लासिकी रचनाएँ अपना स्थान तो बनाये रखती हैं पर यह स्थान बदलती हुई अभिरुचियों और 'कारणों' से बनाये रखती हैं। परन्तु नितान्त मौलिक और विशिष्ट कृतियाँ (जैसे डन की) और साधारण कोटि की कृतियाँ (जो उस युग की शैली की दृष्टि से अच्छी होती हैं, जैसे प्रायर और चर्चिल की रचनाएँ) उस स्थिति में विख्यात हो जाती हैं जब उस काल का साहित्य जीवन के अनुकूल सम्बन्ध बनाये रखता है, पर उनका महत्व तब समाप्त हो जाता है जब यह सम्बन्ध बिल्कुल उलट जाता है।

हम इस स्थापना से आगे बहुत कठिनाई से ही बढ़ सकते हैं, पर हम इससे आगे बढ़ सकते हैं इतना निश्चित है। क्लासिकी रचनाओं की सराहना में उनके आलोचकों ने जो कुछ कहा था उसको समेट कर पहले के युगों के लोगों ने अपने काल की क्लासिकी रचनाओं के प्रति सराहना का जो भाव रखा था उसे हमें कदापि सीमित नहीं करना चाहिए। हम इस बात को अस्वीकार कर सकते हैं कि पुराने समय की आलोचना ने अपने काल की कृतियों के साथ या यहाँ तक कि अपनी निजी सौन्दर्यानुभव के प्रति पूरा न्याय किया है। हम इस बात

की भी पुष्टि कर सकते हैं कि साहित्य का कोई ऐसा सिद्धान्त जो अपने आप में यथेष्ट हो पीढ़ीवाद के ननु-नच की उपेक्षा करेगा: इस तरह देखें तो जार्ज विलियम्सन मेटाफिजिकल कवियों की उत्कृष्टतम रचनाओं को मात्र अच्छी कविताएँ मानते हैं; इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि सभी मेटाफिजिकल कवियों की रचनाओं की सराहना की जाये या सभी की भर्त्सना की जाये, यह बात भी नहीं है कि इस सम्प्रदाय की सर्वोत्तम कवितायें 'नितान्त मेटाफिजिकल' हों। इस तरह हमारे युग में पोप की प्रशंसा—कम से कम अंशतः—एक 'मेटाफिजिकल' कवि के रूप में, अर्थात् एक अच्छे और सच्चे कवि के रूप में की गयी है, न कि मात्र 'गद्य के एक युग के कवि' के रूप में। स्पष्ट है कि **प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म** (व्यावहारिक आलोचना) के लेखक रिचर्ड्स और ब्रुक्स तथा वारेन (**अंडरस्टैंडिंग पोएट्री**) जैसे बिल्कुल भिन्न ढंग के सिद्धान्तकार कविता के लिए केवल एक मानक की बात सोचते हैं, और इस बात पर बल देते हैं कि हमें किसी कविता का गुण-दोष विचार करने से पहले उसे किसी लेखक, काल, या सम्प्रदाय के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। बेशक यह भी कहा जा सकता है कि ये ग्रन्थ-सूचीकार आलोचक एक ऐसे मानक की (जो मोटे तौर पर ईलियट का कहा जा सकता है) बात करते हैं जो बहुत से पाठकों को स्वीकार्य नहीं होगा। परन्तु इनका मानक कविता के व्यापक दायरे का औचित्य सिद्ध करता है। ये स्वच्छन्दतावादी कवियों के प्रति न्याय नहीं कर पाये हैं पर कम से कम ब्लेक और कीट्स की रक्षा कर ली है।

हमारे विचार से कोई भी साहित्यिक आलोचक न तो अपने को निरे पीढ़ीवाद पर उतार सकता है (जिसमें यह स्वीकार ही नहीं किया जाता कि सौन्दर्य का कोई मानक भी है) न ही वह 'अचल पद' (फिक्स्ड रैंक) जैसे किसी नितान्त शुष्क और शैक्षणिक अविकारवाद से अपने को जोड़ सकता है। कभी-कभी वह मात्र अतीत काल में प्रवेश करने और उस काल के किसी लेखक को किसी आधुनिक लेखक के सादृश्य में रख कर समझने की सर्वथा उपयुक्त रीति के कारण पीढ़ीवादी मालूम हो सकता है। फिर भी वह इस बात की पुष्टि करना चाहता है कि इस तरह जिस मूल्य का उद्घाटन होता है वह वास्तव में, या संभाव्य रूप में कला वस्तु में ही मौजूद है,—इसे उस पर 'लादा' या साहचर्य के आधार पर उससे जोड़ा नहीं गया है। यह अन्तर्दृष्टि के बल पर इसमें लक्ष्य किया गया है।

आलोचक को यह प्रश्न करना होगा कि सौन्दर्यात्मक मूल्यों की स्थिति

कहाँ है। यह कविता में होता है, या पाठक में या इन दोनों के सम्बन्ध में ? दूसरे का उत्तर व्यक्तिनिष्ठ है : इसमें ठीक ही यह दावा किया गया है कि जिसका मूल्य आँका जा रहा है उसका मूल्य आँकने के लिए कोई होना चाहिए, परन्तु इसमें अनुक्रिया के स्वरूप को वस्तु के स्वरूप से नहीं जोड़ा गया है। यह इस अर्थ में मनोवैज्ञानिक है कि इसमें हमारा ध्यान उस चीज से अलग हट जाता है जिसका चिन्तन या रसास्वादन किया जा रहा है और इसे हमारे 'स्व' की, यहाँ तक कि सामान्यीकृत 'स्व' की प्रतिक्रियाओं पर, भावात्मक कंपनों पर टिका दिया जाता है। कोई व्यक्ति इसका पहला उत्तर देगा या तीसरा यह उसकी व्याख्या पर निर्भर मालूम होता है। व्यावसायिक दार्शनिक के लिए इसका पहला उत्तर अनिवार्य रूप से प्लेटोवाद या निरपेक्ष मानकों की किसी अन्य प्रणाली की ओर संकेत करता है जिसको मानव आवश्यकता या बोध से सर्वथा मुक्त माना जाता है। यहाँ तक कि यदि कोई यह दावा करना चाहे, जैसा कि साहित्यिक सिद्धान्तकार करना चाहेंगे, कि कौशल से लेकर 'अर्थ' तक साहित्यिक संरचना का स्वरूप वस्तुपरक (आब्जेक्टिव) होता है, तो भी पहले उत्तर के साथ यह एक और कठिनाई आ खड़ी होती है कि **किसी भी व्यक्ति** के लिए साहित्यिक मूल्य तीन होते हैं जैसे कि ये **लालिमा** या **ठंड** के रूप में विद्यमान रहते हैं। किसी भी आलोचक ने किसी कविता के लिए इस तरह की निरपेक्ष वस्तुनिष्ठता का दावा नहीं किया है : लांगिनस और दूसरे 'शास्त्रवादी' जो हर युग और स्थान के सभी मनुष्यों के अनुमोदन की बात करते हैं, 'सभी' को बड़ी कठोरता से 'सभी सक्षम निर्णायकों' तक ही सीमित रखते हैं।

रूपवादी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि कोई कविता पाठक के 'काव्यात्मक अनुभव' का मात्र कारण या संभाव्य कारण नहीं होती, अपितु यह पाठक के अनुभव को एक विशिष्ट, और नितान्त व्यवस्थित रूप में नियंत्रित भी करती है, और वह भी इस सीमा तक कि उसका अनुभव बहुत सही ढंग से कविता का अनुभव कहा जा सकता है। किसी कविता का मूल्यांकन करने का अर्थ है किसी सक्षम पाठक के लिए किसी कविता की संरचना में पाये जाने वाले सौन्दर्यात्मक दृष्टि से मूल्यवान् गुणों और सम्बन्धों का अनुभव और साक्षात्कार। एलीसियो विवैस ने अपने 'वस्तुनिष्ठ सापेक्षतावाद' या 'परिप्रेक्ष्यगत यथार्थवाद' का विवेचन करते हुए कहा है, कि सौन्दर्य "किसी चीज का अपना स्वरूप है जो उसी में **विद्यमान** रहती है, परन्तु यह उस चीज में केवल उन्हीं

के लिए विद्यमान रहता है जिनमें ऐसी क्षमता और प्रशिक्षण हो जिसके माध्यम से ही इसका प्रत्यक्ष हो सकता है।"

मूल्य संभाव्य रूप से साहित्यिक तत्वों में विद्यमान रहते हैं : इनका अनुभव या सच कहें तो मूल्यांकन तभी हो सकता है जब इनका अवगाहन ऐसे पाठक करते हैं जो इसके लिए अपेक्षित शर्तें पूरी करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल वस्तुनिष्ठता या 'मूल्य' के किसी ऐसे दावे को अमान्य करने की प्रवृत्ति (लोकतंत्र या विज्ञान के नाम में) चल पड़ी है जिसे खुले रूप में पूर्णतः सत्यापित न किया जा सके। परन्तु किसी भी ऐसे मूल्य की बात नहीं सोची जा सकती जिसके साथ इस तरह की कोई न कोई शर्त न लगी हो।

पुरानी आलोचना पुस्तकों में प्रायः 'निष्पक्ष' आलोचना को 'प्रभाववादी' आलोचना के विरोध में रखा जाता था। इस भेद का जो नामकरण किया गया था वह बहुत भ्रामक था। इसमें पहले में ऐसे नियमों या सिद्धान्तों का अनुगमन किया जाता था जिन्हें वस्तुपरक माना जाता था; दूसरे के साथ प्रायः यह दावा किया जाता था कि इसमें दूसरे लोगों की रुचि की परवाह नहीं की जाती। अपने व्यावहारिक रूप में इनमें से दूसरा किसी विशेषज्ञ द्वारा अप्रकट गुण-दोष विवेचन है जिसकी अभिरुचि अपेक्षाकृत कम सूक्ष्म संवेदनाओं के लिए एक आदर्श बन सकती है। इसके अतिरिक्त, इस दूसरी कोटि के ऐसे बहुत अधिक आलोचक नहीं होंगे जो अपने व्यक्तिगत मन पर पड़ी छापों को नियमों में ढालने का प्रयत्न करें। रेमी डि गूरमां ने इस प्रयत्न को किसी भी सच्चे आदमी की सबसे बड़ी चेष्टा कहा है। आजकल अनेक ऐसे निबन्ध, जिन्हें 'आलोचना' का नाम दे दिया जाता है किसी विशेष कविता या लेखक का भाष्य हुआ करते हैं और इनमें उपसंहार रूप में कोई मूल्यांकन नहीं किया जाता। इस तरह के भाष्यों को 'आलोचना' कहने के ऊपर कभी-कभी आपत्ति उठाई जाती है (आलोचना के लिए ग्रीक में जो शब्द पहले प्रयोग में आता था उसका अर्थ 'निर्णय' या गुण-दोष विचार हुआ करता था)। और कभी-कभी व्याख्यापरक और 'निर्णयात्मक' आलोचना के बीच भेद किया जाता है और इन्हें आलोचना के दो अवान्तर रूप माना जाता है। और यद्यपि अर्थ के भाष्य और मूल्य निर्णय को निश्चित रूप से एक दूसरे से अलग किया जा सकता है, परन्तु यह 'साहित्यिक आलोचना में' बहुत कम ही अमल में लाया जाता है या अमल में लाने योग्य पाया जाता है। 'निष्पक्ष आलोचना' के नाम पर जो कुछ चाहा जाता या किया जाता है वह है लेखकों और कविताओं का

बड़े भोंड़े ढंग से श्रेणी-विभाजन, जिसके साथ कुछ अधिकारी विद्वानों का उद्धरण दे दिया जाता है या साहित्य-सिद्धान्त के कुछ सिद्धान्त वाक्य जड दिये जाते हैं। इतना तो निश्चित ही है कि इससे आगे बढ़ने के लिए विश्लेषण और विश्लेषणात्मक तुलना की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर किसी ऐसे लेख में, जो विशुद्ध रूप में व्याख्यात्मक प्रतीत होता है, प्रकृत रूप से ही मूल्य विषयक कुछ-न-कुछ निर्णय अवश्य जुड़ा रहता है; और यदि यह किसी कविता का भाष्य हुआ तो इसके साथ ऐतिहासिक, जीवनीमूलक, या दार्शनिक तो नहीं पर सौन्दर्यशास्त्रीय गुण-दोष विचार लगा रहता है। किसी कवि या कविता के साथ कुछ समय गुजारना और उसकी ओर ध्यान देने से स्वतः ही मूल्य विचार हो जाता है। परन्तु भाष्यपरक लेखों में से बहुत कम ही ऐसे हैं जिनमें मात्र किसी विषय को चुन कर ही गुण-दोष विचार किया जाता है। 'कविता को समझते' समय हम स्वतः ही 'इसके गुण-दोष विचार में' पहुँच जाते हैं। इसमें हम अन्तिम रूप से किसी तरह का निर्णय घोषित करने की अपेक्षा केवल इसके गुण-दोष का सविस्तार विचार करते हैं और इस तरह विचार करते समय उसका विश्लेषण करते चलते हैं। ईलियट के निबन्धों की, जो एक समय में बहुत नये समझे जाते थे, नवीनता का कारण यह था कि इनमें किसी तरह का अन्तिम सार या एक निष्कर्ष नहीं दिया गया था अपितु पूरे निबन्ध में गुण-दोष का विचार किया गया था और यह किया गया था विशिष्ट पक्षों की तुलना करके, दो कवियों को किसी विशेष गुण की दृष्टि से एक दूसरे के समीप रख कर, और साथ ही साथ जहाँ-तहाँ कामचलाऊ सामान्यकरण करके।

यहाँ ऐसा प्रतीत होगा कि हमें जिन दो चीजों में भेद करने की आवश्यकता है वे हैं निर्णय का ध्वनन और कथन। इन दोनों के भेद को चेतन और अवचेतन निर्णय के बीच का भेद नहीं मानना चाहिए। एक निर्णय संवेदना क होता है और दूसरा तार्किक, विमर्शयुक्त निर्णय। इन दोनों में विरोध होन आवश्यक नहीं है : पर्याप्त सामान्य सैद्धान्तिक कथन के अभाव में कोई संवेदन आलोचनात्मक बल ग्रहण नहीं कर सकती; और साहित्य के विषय में को तर्कपूर्ण निर्णय संवेदना का कुछ आधार लिये बिना तैयार हो ही नहीं सकत चाहे यह संवेदना प्रत्यक्ष हो या परोक्ष।



अध्याय उन्नीस

साहित्य का इतिहास

क्या साहित्य का इतिहास अर्थात् ऐसा इतिहास लिखना **संभव** है जो इतिहास होने के साथ ही साथ साहित्यिक भी हो ? हमें यह स्वीकार करना होगा कि साहित्य के अधिकांश इतिहास या तो सामाजिक इतिहास हैं, या साहित्य में प्रतिबिम्बित विचारों के इतिहास, अथवा ये अलग-अलग कृतियों से संबंधित प्रभाव और गुण-दोष विचार होते हैं, जिन्हें किंचित् कालक्रमानुसार व्यवस्थित कर दिया जाता है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास-दर्शन पर एक दृष्टि डालने पर हमारे इस दृष्टिकोण की पुष्टि हो जायेगी। टामस वार्टन ने, जिन्हें अंग्रेजी कविता का विधिवत् इतिहास लिखने वाला पहला व्यक्ति माना जाता है, प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने के कारण बताते हुए लिखा है कि 'इसमें उन कालों की विशिष्टताओं का बहुत सच्चा अंकन हुआ है, और तत्कालीन रीति-व्यवहार की चित्रात्मक और व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति हुई है', और इससे 'बाद की पीढ़ियों को तत्कालीन जीवन का बहुत खरा चित्रण मिलता है।' हेनरी मार्ली ने साहित्य की कल्पना 'राष्ट्रीय जीवन चरित' या 'अंग्रेजी मानस की कहानी' के रूप में की है। लेस्ली स्टीफेन ने इसे 'समूचे समाज रूपी जीवधारी का विशेष कार्य', सामाजिक परिवर्तन का 'एक तरह का उपोत्पाद' माना है। अंग्रेजी काव्य के विकास की एकनिष्ठ अवधारणा पर आधारित इतिहास के एकमात्र लेखक हैं डब्ल्यू० जे० कोर्टहोप और उन्होंने लिखा है कि अंग्रेजी कविता का अध्ययन प्रभावतः 'हमारे साहित्य में प्रतिबिम्बित हमारी राष्ट्रीय संस्थाओं के अविच्छिन्न विकास का अध्ययन है', और अपने विषय की अन्विति के लिए उन्होंने ठीक उसी ओर दृष्टि डाली है, जिधर राजनैतिक इतिहासकार डालता है, और वह है राष्ट्रीय जीवन।

जहाँ ये और दूसरे अनेक इतिहासकार साहित्य को राष्ट्रीय या सामाजिक इतिहास के दृष्टान्तों के लिए निरा दस्तावेज मानते हैं, वहाँ इतिहासकारों का एक दूसरा वर्ग भी है जो यह मानता है कि साहित्य प्रथमतः और मुख्यतः एक कला है, परन्तु लगता है वे इसका इतिहास लिखने में अपने को असमर्थ पाते हैं। ये अलग-अलग लेखकों पर लेखों की एक विच्छिन्न लड़ी तैयार करते हैं, जिसे 'प्रभावों' से एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा करते हैं, परन्तु ऐतिहासिक विकास की किसी सच्ची अवधारणा का उनमें अभाव पाया जाता है। एड-मयड गास ने अपनी पुस्तक **ए शार्ट हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर** (१८९७) में इस बात का निश्चित दावा किया था कि वह 'अंग्रेजी साहित्य की गति-विधि दिखायेंगे' और 'इससे यह पता चल जायेगा कि अंग्रेजी साहित्य का विकास किस तरह हुआ है', परन्तु ऐसा कह कर वह उस समय फ्रान्स से फैलने वाले एक आदर्श के प्रति मौखिक निष्ठा प्रकट कर रहे थे। व्यवहारतः उनकी पुस्तकें लेखकों और उनकी कृतियों पर आलोचनात्मक टिप्पणियों की एक शृंखला हैं, जिन्हें कालक्रमानुसार व्यवस्थित किया गया है। बाद में गास ने ठीक ही यह घोषणा की थी कि टेन में उनकी कोई रुचि नहीं है और इस बात पर बल दिया था कि वह सेण्ट बेव के ऋणी हैं जो जीवनीमूलक चित्रांकन में सिद्धहस्त थे। यह बात कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ जार्ज सेण्ट्सबरी के बारे में भी सच है जिनकी आलोचना विषयक अवधारणा पेटर के 'सराहना' के सिद्धान्त और व्यवहार से सर्वाधिक निकट पड़ती है और सच है आलिवर एल्टन के विषय में जिनके छह खण्डों में लिखे गये **सर्वे आफ इंगलिश लिटरेचर** में, जो पिछले कुछ वर्षों में इंग्लैण्ड के साहित्यिक इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है, बड़े दो टूक ढंग से यह स्वीकार किया गया है कि यह 'वस्तुतः एक समीक्षा है, एक आलोचना है' न कि इतिहास। इस तालिका को लगभग अनन्त विस्तार दिया जा सकता है; और फ्रेंच और जर्मन साहित्यिक इतिहासों की जाँच करने से भी कुछ अपवादों को छोड़ कर हम ठीक इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचेंगे। इस तरह हम पाते हैं कि टेन स्पष्टतः मुख्य रूप से राष्ट्रीय ढंग के सिद्धान्तों में और अपने वातावरण और जाति (रेस) के दर्शन में रुचि रखते थे, जुसरैण्ड ने अंग्रेजी साहित्य में चित्रित आचार-व्यवहार के इतिहास का अध्ययन किया, और कजामियाँ ने 'अंग्रेजी राष्ट्रीय आत्मा की लय के दोलनों' का एक पूरा सिद्धान्त ही गढ़ डाला था। साहित्य के अधिकांश प्रसिद्ध इतिहास या तो सभ्यता के इतिहास हैं, या लेखों के संग्रह हैं।

इनमें से एक प्रकार के इतिहास इतिहास तो हैं पर कला के इतिहास नहीं हैं; दूसरे प्रकार के इतिहासों को इतिहास नहीं कहा जा सकता।

इसका कारण क्या है कि किसी बड़े पैमाने पर एक कला के रूप में साहित्य का विकास निश्चित करने का कोई प्रयत्न ही नहीं हुआ है। इसमें एक बाधा यह रही है कि इसकी भूमिका के रूप में कला-कृतियों का सुसंगत और व्यवस्थित रूप में विश्लेषण ही नहीं किया गया। या तो हम पुराने शास्त्रीय मानदण्डों को लेकर ही सन्तोष कर लेते हैं, जो बिल्कुल सतही साधनों को ही ध्यान में रखने के कारण बिल्कुल असन्तोषजनक होते हैं, अथवा हम भावुकतापूर्ण भाषा में यह बताने लगते हैं कि किसी कला-कृति का पाठक पर क्या प्रभाव पड़ता है और इसे कुछ इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि स्वयं पुस्तक से इसका कोई सच्चा ताल-मेल बैठता ही नहीं है।

दूसरी कठिनाई यह पूर्वाग्रह है कि किसी अन्य मानवीय क्रिया-कलाप की प्रासंगिक व्याख्या दिये बिना साहित्य का इतिहास लिखना संभव ही नहीं है। एक तीसरी कठिनाई साहित्यिक कला के विकास की सम्पूर्ण अवधारणा के कारण है। बहुत कम लोग हैं जो चित्रकला या संगीत के ऐसे इतिहास के प्रति आशंका प्रकट करें जो केवल इन्हीं कलाओं तक सीमित रहे। यदि हम कुछ ऐसी आर्ट गैलरियों में घूम भर जायें जिनमें चित्रों को कालक्रम से, या 'सम्प्रदायों' के अनुसार रखा गया हो तो मात्र इतने से ही हमें पता चल जायेगा कि चित्रकारों के इतिहास या अलग-अलग चित्रकारों की सराहना अथवा गुण-दोष विचार से अलग चित्रकला का बिल्कुल एक स्पष्ट इतिहास है। कोई ऐसा कन्सर्ट जिसमें संगीत-रचनाओं को कालक्रमानुसार व्यवस्थित किया गया हो, सुन कर ही हमें पता चल जायेगा कि संगीत का एक ऐसा इतिहास भी है जिसका संगीतकारों से, या उन सामाजिक परिस्थितियों से जिनमें इनकी रचना हुई या अलग-अलग रचनाओं की प्रशंसा से कोई सरोकार नहीं है। चित्रकला और मूर्तिकला में इस तरह के इतिहास लिखने के प्रयत्न १७६४ से ही हो रहे हैं, और बर्नी के बाद से संगीत-कला के अधिकांश इतिहासों में साहित्य के इतिहास के सम्मुख भी सामाजिक इतिहास, लेखकों की जीवनियों, या अलग-अलग कृतियों के मूल्यांकन से अपेक्षाकृत अलग हट कर एक कला के रूप में साहित्य का इतिहास तैयार करने की समस्या ठीक ऐसी ही है। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यिक इतिहास का कार्य (एक सीमित अर्थ में) कुछ विशेष बाधाओं से जुड़ा हुआ है। चित्रकला की तुलना में, जिसे हम एक नजर में देख सकते हैं

किसी साहित्यिक कृति को केवल काल क्रम से ही समझा जा सकता है, और इसलिए इसे पूरेपन में समझ पाना कठिन है। परन्तु संगीतात्मक रूपों के सादृश्य से यह पता चलता है कि यदि इसे काल-क्रम से भी ग्रहण करना हो तो इसका प्रतिरूप (पैटर्न) संभव हो सकता है । इसके अतिरिक्त भी कुछ विशेष समस्यायें हैं। साहित्य में सामान्य तथ्य-कथन से नितान्त सुगठित कला-कृतियों तक एक क्रमिक संक्रमण दिखाई देता है, क्योंकि साहित्य का माध्यम, भाषा, रोजमर्रा के कार्य-व्यापार की भी भाषा है और विशेष रूप से यह वैज्ञानिक विषयों का भी माध्यम है। इस तरह किसी साहित्यिक कला-कृति की सौन्दर्यात्मक संरचना (स्ट्रक-चर) को अलग कर पाना अधिक कठिन है। इसके बावजूद चिकित्साशास्त्र की किसी पाठ्य-पुस्तक में दिया गया कोई चित्र और कोई सैनिक अभियान दो ऐसे उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि दूसरी कलाओं के साथ भी कुछ ऐसे नमूने पाये जाते हैं जिनके साथ यह समस्या खड़ी होती है कि उन्हें उनमें स्थान दिया जाये या नहीं। भाषा विषयक अभिव्यक्तियों में कला और कला-बाह्य के बीच भेद करने की कठिनाइयाँ केवल मात्रा की दृष्टि से ही बड़ी हैं।

परन्तु इस तरह के भी कुछ सिद्धान्तकार पाये जाते हैं जो यह मानते ही नहीं कि साहित्य का अपना इतिहास भी है। उदाहरण के लिए डब्ल्यू० पी० केर का तर्क यह है हमें साहित्य के इतिहास की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि इसकी वस्तुएँ सदा वर्तमान रहती हैं, 'शाश्वत' होती हैं, और इस तरह सही माने में उनका कोई इतिहास होता ही नहीं है। टी० एस० ईलियट भी किसी कृति की विगतता (पास्टनेस) को नहीं मानते हैं। उनका कहना है, 'होमर से लेकर आज तक का समूचे यूरोप का साहित्य समकालिक (साइमल्टेनियस) अस्तित्व रखता है और यह समकालिक क्रम में व्यवस्थित है।' शापेनआवर के साथ कोई यह तर्क दे सकता है कि कला सदा ही अपना लक्ष्य प्राप्त करती रही है। इसमें विकास नहीं होता, और इसे न तो अतिक्रान्त (सुपरसीड) किया जा सकता है, न ही दुहराया जा सकता है। रैंक ने ठीक ही कहा है कि इतिहास दर्शन का लक्ष्य है और कला में हमें इसका पता लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः साहित्य का इतिहास सही अर्थ में इतिहास नहीं है, क्योंकि यह तो वर्तमान का, सर्वव्यापी, अनन्त वर्त्तमान का ज्ञान है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि राजनैतिक इतिहास में और कला के इतिहास में अन्तर है। जो कुछ ऐतिहासिक और विगत है उसमें तथा उस चीज में जो ऐतिहासिक होने के साथ ही साथ किसी न किसी कदर इस समय भी वर्त्तमान हैं, फर्क तो है ही।

जैसा कि हम पहले सिद्ध कर चुके हैं, कोई कला-कृति इतिहास के दौरान अपरिवर्त्तित नहीं रहती। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी संरचना में कुछ सारभूत अभिन्नता बनी रहती है जो युग-युगान्तर तक एक जैसी बनी रहती है। परन्तु यह संरचना गतिशील होती है; यह पाठकों, आलोचकों और समानधर्मा कलाकारों के मस्तिष्क से गुजरती हुई इतिहास की पूरी प्रक्रिया में परिवर्तित होती रहती है। व्याख्या, आलोचना, और सराहना की प्रक्रिया कभी पूर्णतः अवरुद्ध नहीं हुई है और यह आगे भी चलती रहने वाली है, या कम से कम तब तक चलती रहने वाली है जब तक सांस्कृतिक परम्परा पूर्णतः अवरुद्ध न हो जाये। साहित्य के इतिहासकार का एक काम इस प्रक्रिया का वर्णन है; उसका दूसरा काम एक ही लेखक, विधा, शैली, भाषा परम्परा के अनुसार छोटे और बड़े समूहों में व्यवस्थित कला-कृतियों का विकास-क्रम निर्धारित करना, और अन्ततः सार्वभौम के भीतर उनका विकास स्थिर करना है।

परन्तु बहुत सी कला-कृतियों के विकास की अवधारणा अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है। एक अर्थ में पहली दृष्टि में प्रत्येक कला-कृति की संरचना अपने आस-पास की कृतियों से बिल्कुल अलग होती है। यह तर्क दिया जा सकता है कि एक कृति से दूसरी कृति तक कोई विकास नहीं होता। एक यह आपत्ति भी उठाई जाती है कि साहित्य का अपना कोई इतिहास होता ही नहीं, इतिहास तो साहित्य लिखने वालों का होता है। परन्तु इसी तर्क के अनुसार हमें भाषा का इतिहास लिखना भी छोड़ देना चाहिए, क्योंकि शब्दों का प्रयोग करने वाले भी आदमी ही हुआ करते हैं, और इसी तरह छोड़ देना चाहिए दर्शन का इतिहास लिखना, क्योंकि सोचने वाले भी मनुष्य ही हैं। इस तरह की घोर 'व्यक्तिवादिता' से तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि प्रत्येक कला-कृति दूसरी कला-कृतियों से पूर्णतः विच्छिन्न हुआ करती है, और व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ यह होगा कि इसे न तो सम्प्रेषित किया जा सकता है, न समझा ही जा सकता है। इसके बजाय हमें मानना चाहिए कि साहित्य कृतियों की एक पूरी प्रणाली है, जिसके आन्तरिक सम्बन्ध नयी कृतियों की रचना के साथ निरन्तर परिवर्त्तित होते जा रहे हैं, जो पूरा का पूरा एक चिर परिवर्त्तनशील जीवधारी की तरह बढ़ रहा है।

परन्तु यह तथ्य भी कि किसी समय की साहित्यिक स्थिति एक दशक या एक शताब्दी पहले से बदल गयी है, वास्तविक ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि परिवर्तन की अवधारणा किन्हीं

भी प्राकृति तत्वों पर लागू होती है। इसका अर्थ बिल्कुल नये किन्तु अर्थहीन और अबोधगम्य प्रतिरूपों में पुनर्व्यवस्थित होता रहना भी हो सकता है अतः जैसा कि एफ० जे० टेगार्ट ने **थ्योरी आफ हिस्ट्री** में कहा है मात्र परिवर्तन का अध्ययन करने से ऐतिहासिक और प्राकृतिक प्रक्रियाओं के बीच का सारा भेद मिट जायेगा, और इतिहासकार के पास प्राकृतिक विज्ञान का मुँह देखते रहने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रह जायेगा। यदि ये परिवर्त्तन एकदम नियमित रूप में घटित होते रहे तो हम नियम की उस अवधारणा पर पहुँच जायेंगे जिसकी कल्पना भौतिकीविद् करता है। फिर भी, स्पेंगलर और टायनबी के विदग्ध चिन्तनों के बावजूद, किसी भी ऐतिहासिक प्रक्रम में पूर्व कथनीय परिवर्तन नहीं खोजे जा सके हैं।

परिवर्धन का अर्थ मात्र परिवर्त्तन या नियमित और पूर्वकथनीय परिवर्त्तन नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट मालूम होता है इसका प्रयोग उस अर्थ में किया जाना चाहिए जिस अर्थ में इसका जीव-विज्ञान में प्रयोग होता है। यदि हम ध्यान से देखें तो जीव-विज्ञान में विकास की दो अवधारणाएँ पाई जाती हैं : पहली वह प्रक्रिया जिसमें कोई अण्डा बढ़ कर पक्षी की शक्ल लेता है, और दूसरी वह जिसमें मछली का मस्तिष्क बदल कर आदमी के मस्तिष्क की शक्ल में आ जाता है। यहाँ वस्तुतः मस्तिष्कों की शृंखला जैसी कोई चीज विकसित नहीं होती है, बल्कि मस्तिष्क एक अमूर्त संकल्पना मात्र होता है जिसकी व्याख्या इसके कार्यों के रूप में की जा सकती है। परिवर्धन की अलग-अलग अवस्थाओं की कल्पना इस रूप में की जाती है कि वे 'मानव मस्तिष्क के एक प्रत्ययात्मक रूप से कितना सादृश्य प्राप्त कर लेती हैं।

क्या हम इनमें से किसी अर्थ में साहित्यिक विकास की बात कर सकते हैं? फर्डिनैण्ड ब्रूनेटियर और जान ऐडिंगटन साइमण्ड्स का कहना है कि हम इसकी बात दोनों अर्थों में कर सकते हैं। उनका विचार था कि साहित्यिक विधाओं पर। उसी तरह विचार किया जा सकता है जैसे प्रकृति की स्पीशीज या जातियों पर। ब्रुनेटियर का कथन है कि साहित्यिक विधाएँ एक बार एक निश्चित पूर्णता पर पहुँच कर सूख-मुरझा और अंततः लुप्त हो जाती हैं। डार्विन के क्रम-विकास की अवधारणा में जीवकोटियों की ही भाँति साहित्यिक विधाएँ भी उच्चतर और अधिक भिन्नीकृत (डिफरेन्शिएटेड) प्रकारों में रूपान्तरित हो जाती हैं। जाहिर है कि पहले अर्थ में 'विकास' का प्रयोग एक कल्पित रूपक से अधिक कुछ नहीं है। उदाहरण के लिए ब्रुनेटियर के

अनुसार फ्रेंच त्रासदी ने जन्म लिया, विकसित हुई, ह्रास को प्राप्त हुई और फिर समाप्त हो गयी। परन्तु फ्रेंच में त्रासदी का जन्म केवल इसी अर्थ में हुआ था कि जाडेल के पहिले फ्रेंच में त्रासदियाँ नहीं लिखी गयी थीं। त्रासदी का अन्त केवल इसी अर्थ में हुआ कि वाल्तेयर के बाद एक भी ऐसी त्रासदी नहीं लिखी गयी जो ब्रूनेटियर के आदर्शों पर पूरी उतर सके। लेकिन इस बात की हर संभावना है कि फ्रेंच में आगे चल कर कोई महान् त्रासदी लिखी जा सके। ब्रुनेटियर के अनुसार रसीन की फीड्रे के समय में फ्रेंच त्रासदी अपने बुढ़ापे के आस-पास पहुँच चुकी थी और इसका ह्रास इसी के साथ आरंभ हुआ था। परन्तु यह त्रासदी रिनेसां (पुनर्जागरण काल) की त्रासदियों की तुलना में बचकानी और अधकचरी मालूम होती है, जब कि इस सिद्धान्त के अनुसार रिनेसाँ की त्रासदियाँ बचकानी होनी चाहिएँ। ब्रुनेटियर के मतानुसार क्लासिकी शताब्दियों के फ्रान्सीसी धार्मिक प्रवचनों का रूपान्तरण रोमाण्टिक गीतों में हुआ था, परन्तु यदि पहली स्थापना के पक्ष में कुछ तर्क दिये भी जा सकें तो इसके समर्थन में तो तर्कों का और भी अभाव पड़ेगा कि एक विधा दूसरी विधा में रूपान्तरित हो जाती है। इसमें किसी तरह का सच्चा 'रूपान्तरण' हुआ ही नहीं था। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि प्रवचनों में और उसके बाद गीति काव्य में एक जैसे भावों की ही अभिव्यक्ति हुई, या संभवतः इन दोनों से एक ही तरह के सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति हुई थी।

इस प्रकार हमें साहित्य के परिवर्धन के प्रक्रम और जन्म से मृत्यु तक के विकास के प्रक्रम के यह दूसरी अवधारणा अभी लुप्त नहीं हो गयी है और स्पैंग्लर और टायनबी ने अभी हाल ही में इसे फिर से उठाया है। जैविक सादृश्य को अमान्य ही करना होगा, पर 'विकास' का यह दूसरा अर्थ ऐतिहासिक विकास की सच्ची अवधारणा से अधिक निकट प्रतीत होता है। इसमें यह माना जाता है कि हमें आरंभ से ही निरी परिवर्त्तनों की शृंखला की बात मान कर नहीं चलना चाहिए, अपितु परिवर्त्तनों की शृंखला का कोई लक्ष्य ध्यान में रखना चाहिए। इस शृंखला के अनेक भाग इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए एक आवश्यक शर्त होने चाहिएँ। किसी विशिष्ट लक्ष्य (जैसे मानव-मस्तिष्क) की ओर विकास की अवधारणा परिवर्त्तनों की शृंखला को आदि और अन्तवाली एक वास्तविक सुसम्बद्ध शृंखला बना देती है। लेकिन सच्चे अर्थों में कहें तो इस दूसरे अर्थ में जैव विकास और 'ऐतिहासिक विकास' में एक महत्वपूर्ण भेद है। जैव विकास और ऐतिहासिक विकास का भेद समझने के लिए, हमें किसी न किसी तरह

ऐतिहासिक घटनाओं की वैयक्तिक विशिष्टता को बनाये रखना होगा, और साथ ही ऐतिहासिक प्रक्रम को अनुक्रमिक परंतु असंबद्ध घटनाओं का संग्रहमात्र मानने से बचना होगा।

इसका समाधान यह है कि ऐतिहासिक प्रक्रम को किसी मूल्य या आदर्श से जोड़ा जाये। ऐसा करने पर ही ऊपरी तौर पर अर्थहीन लगने वाले घटना-क्रम को इसके सारभूत और निःसार तत्वों में तोड़ा जा सकेगा। केवल उसी स्थिति में हम ऐतिहासिक क्रम-विकास की बात कर सकेंगे जिसमें किसी एक घटना की वैयक्तिक विशिष्टता अक्षुण्ण रह सकती है। किसी विशिष्ट वास्तविकता का किसी सामान्य मूल्य से संबंध दिखा कर हम किसी विशिष्ट को सामान्य अवधारणा का एक निरा नमूना बना कर नहीं छोड़ देते हैं, अपितु इससे विशिष्ट को महत्व प्रदान करते हैं। इतिहास सामान्य मूल्यों को केवल विशिष्ट नहीं बनाता है (न ही यह एक विच्छिन्न और अर्थहीन धारा है) अपितु ऐतिहासिक प्रक्रिया में निरन्तर ऐसे नये मूल्य पैदा होते रहे हैं, जो अब तक मालूम नहीं थे और जिनका पूर्वकथन नहीं किया जा सकता। इस तरह मूल्यों के किसी मानदण्ड से किसी विशेष कृति का संबंध इसकी वैयक्तिक विशिष्टता का आवश्यक सहसम्बन्ध ही है। विकास की शृंखला का निर्माण मूल्यों या आदर्शों की योजना के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है, परन्तु स्वयं मूल्य भी इस प्रक्रिया के चिन्तन से ही प्रकट होते हैं। यही स्वीकार करना होगा कि यहाँ एक तार्किक चक्र है: ऐतिहासिक प्रक्रिया की परख मूल्य से की जाती है, जब कि मूल्यों का मान-दण्ड स्वयं इतिहास से ग्रहण किया जाता है। परन्तु यह अपरिहार्य प्रतीत होता है, क्योंकि अन्यथा या तो हमें परिवर्त्तन के अर्थहीन प्रवाह की धारणा से सन्तोष करना होगा या कुछ साहित्येतर—निरपेक्ष, और साहित्य की प्रक्रिया से बाहर के मानदण्ड लागू करने होंगे।

साहित्य के विकास की समस्या की चर्चा अनिवार्य रूप से अमूर्त रही है। इसमें यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि साहित्य का विकास जैव विकास से भिन्न है, और किसी एक शाश्वत नमूने की ओर अविकल प्रगति की धारणा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इतिहास मूल्यों की परिवर्त्तनीय योजनाओं के सन्दर्भ में ही लिखा जा सकता है, और इन योजनाओं को स्वयं इतिहास से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस धारणा का दृष्टान्त साहित्य के इतिहास के सामने आने वाली कुछ समस्याओं के सन्दर्भ में ही दिया जा सकता है।

कला-कृतियों के बीच सबसे स्पष्ट सम्बन्धों, स्रोतों और प्रभावों—का

विवेचन प्रायः किया जाता रहा है और यह परम्परागत पाण्डित्य की एक शाखा रहा है। यद्यपि इसे संकीर्ण अर्थ में साहित्य का इतिहास नहीं कहा जा सकता, परन्तु लेखकों के बीच साहित्यिक संबंध स्थापित करना इस तरह का साहित्यिक इतिहास लिखने के लिए एक नितान्त महत्वपूर्ण तैयारी रहा है। उदाहरण के लिये, यदि हम अठारहवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता का इतिहास लिखना चाहें तो स्पेन्सर, मिल्टन और ड्राइडन से अठारहवीं शताब्दी के कवियों का ठीक-ठीक सम्बन्ध जानना बहुत आवश्यक होगा। रेमण्ड हैवेन्स की **मिल्टन्स इन्फ्लुएन्स आन इंग्लिश पोएट्री** जैसी पुस्तक में, जो मुख्य रूप से एक साहित्यिक अध्ययन है, न केवल अठारहवीं शताब्दी के कवियों द्वारा मिल्टन के विचारों की स्वीकृतियों को एकत्र करके, अपितु पुस्तकों का अध्ययन करके और साम्यों तथा समानान्तर उक्तियों का विश्लेषण करके, मिल्टन के प्रभाव के बहुत प्रभावोत्पादक साक्ष्य जुटाये गये हैं। कुछ दिनों से मिलती-जुलती उक्तियों की खोज करने की बहुत व्यापक पैमाने पर निन्दा की जाने लगी है। विशेषतः जब कोई अनुभवी अध्येता ऐसा करने का प्रयास करता है तो इससे कुछ बहुत स्पष्ट खतरे उत्पन्न हो जाते हैं। पहली बात तो यह कि मिलती-जुलती सभी उक्तियाँ सच्चे अर्थों में मिलती-जुलती होनी चाहिएँ, न कि धुंधले साम्य जिन्हें निरी आवृत्ति के आधार पर प्रमाण मान लिया जाता है। यदि 'नहीं' का चालीस बार प्रयोग किया जाये तो भी वह 'नहीं' ही रहता है। इसके अतिरिक्त, साम्य ऐसे होने चाहिएँ कि एक को दूसरे में समाहित किया जा सके; अर्थात् इस बात का पक्का निश्चय होना चाहिए कि ये दोनों एक ही स्रोत से नहीं लिये गये हैं। इसका निश्चय तभी हो सकता है जब इसकी पड़ताल करने वाले को साहित्य का विशद ज्ञान हो या जब साम्य मात्र इक्के-दुक्के 'आशय' या शब्द का न हो अपितु इसका प्रतिरूप (पैटर्न) बहुत जटिल हो। ऐसी कृतियाँ जिनमें इन बुनियादी बातों की भी उपेक्षा की गयी है, न केवल संख्या में अधिक हैं अपितु इनके लेखक कभी-कभी बहुत प्रख्यात विद्वान् रहे हैं, जिन्हें किसी काल में सामान्य रूप से प्रचलित बातों—रूढ़ मुहावरों, घिसे-पिटे रूपकों, समान विषय के कारण उत्पन्न सादृश्यों—को पहचानने में समर्थ होना चाहिए था।

परन्तु इस पद्धति के चाहे जो भी दुरुपयोग क्यों न किये गये हों, यह एक उचित पद्धति है और इसे पूरा का पूरा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन उद्धरणों में, अपना बना कर कही हुई दूसरों की उक्तियों की निरी प्रति-

ध्वनि ही एकदम नीरस मालूम होती हैं : इनसे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि इन दोनों के बीच सम्बन्ध है, परन्तु स्टर्न और बर्टन जैसे भी कुछ लेखक हैं जिन्हें मालूम है कि उद्धरणों का कलात्मक रूप में कैसे उपयोग किया जा सकता है। परन्तु साहित्यिक सम्बन्धों के अधिकांश प्रश्न इससे कहीं अधिक जटिल हुआ करते हैं, जिनके समाधान के लिए विश्लेषण की आवश्यकता होती है। इसके लिए साम्य ढूंढ़ना मात्र एक साधन ही है। इस तरह के अनेक अध्ययनों का दोष वस्तुत: यह है कि इनमें इस सत्य की उपेक्षा कर दी गयी है : सिर्फ एक लक्षण ढूंढ़ने के प्रयत्न में इनमें पूरी कला-कृति को अलग-अलग टुकड़ों में तोड़ दिया जाता है। दो या अधिक साहित्यिक कृतियों के बीच सम्बन्धों की चर्चा का पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है, जब हम साहित्यिक विकास की योजना में इन्हें इनके ठीक स्थान पर रख कर देखें। कला-कृतियों के पारस्परिक सम्बन्धों से दो समग्र कृतियों, दो गुम्फित रचनाओं की तुलना करने की टेढ़ी समस्या खड़ी होती है, जिन्हें आरंभिक अध्ययन के अतिरिक्त उनके नियामक तत्वों में नहीं तोड़ा जाना चाहिए।

जब इस तुलना को दो पूर्ण कृतियों पर केन्द्रित किया जाता है, तो हम साहित्यिक इतिहास की एक मूलभूत समस्या के निष्कर्षों पर पहुँचते हैं और वह है मौलिकता की समस्या। आज हमारे युग में मौलिकता का एक गलत अर्थ लगाया जाता है कि यह परम्परा का उल्लंघन है, या इसे गलत स्थान में मात्र किसी कला-कृति की सामग्री में या निरे आधार में—परम्परागत कथानक, परम्परागत ढाँचे में—तलाशा जाता है। प्राचीन काल में साहित्यिक सर्जना के स्वरूप को आज से अधिक अच्छी तरह समझा जाता था, उस समय किसी मौलिक कथानक या विषयवस्तु मात्र की मौलिकता का कलात्मक महत्व बहुत अधिक नहीं था। रिनेसां (पुनर्जागरण) और नव्य-क्लासिकी युगों में अनुवाद को, विशेषत: कविता के अनुवाद को, और उस अर्थ में 'अनुकरण' को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था जिस अर्थ में पोप ने होरेस के व्यंग्यों का और डा० जानसन ने जुवेनल का अनुकरण किया था और यह ठीक भी था। अर्नेस्ट राबर्ट कर्टिस ने अपनी पुस्तक **यूरोपियन लिटरेचर एण्ड द लैटिन मिडिल एजेज** (१९४८) में बड़े तर्कपूर्ण ढंग से उन थोथी बातों, रूढ़ विषयों और बिम्बों की दोषपूर्ण भूमिका सिद्ध की जो पुरातन काल से लैटिन मध्यकाल को होती हुई आज के समूचे यूरीपीय साहित्य में व्याप्त हो गयी थीं। कोई भी साहित्यकार इस कारण अपने को छोटा या अमौलिक नहीं मानता था कि वह परम्परा से

प्राप्त और प्राचीन काल से मान्य विषयों और बिम्बों का प्रयोग करता, उनमें अपने को सिद्धहस्त बनाता और उनका परिष्कार करता था। इस तरह की अनेक कृतियों में, जैसे सर सिडनी ली के एलिज़बेथकालीन सानेटों पर किये गये अनेक अध्ययनों में कला की प्रक्रिया के विषय में बहुत भ्रान्त धारणाएँ पायी जाती हैं। इन अध्ययनों से यह सिद्ध होता है कि इनमें परम्परागत रूप का पूरी तरह पालन किया गया है, परन्तु इससे सानेटों में अनुभूति की कमी और घटियापन सिद्ध नहीं होता, जैसा कि सिडनी ली सिद्ध करना चाहते हैं। किसी निश्चित परम्परा में काम करने और इसके कौशलों को अपनाने को भावात्मक शक्ति और कलात्मक मूल्य की कमी का संकेत नहीं माना जा सकता। किसी परम्परा में प्रत्येक कृति की सही स्थिति निश्चित करना साहित्यिक इतिहास का पहला काम है।

दो या अधिक कला-कृतियों के सम्बन्धों का अध्ययन साहित्यिक इतिहास में इससे आगे भी कुछ समस्यायें खड़ी करता है। कलात्मक कृतियों में सबसे पहली और सबसे प्रकट शृखला एक लेखक द्वारा लिखी गयी कृतियों की है। यहाँ मूल्यों की व्यवस्था, लक्ष्य का निर्धारण सबसे आसान होता है। हम किसी एक कृति या कृतियों के समूह को उसकी परिपक्वतम रचना मान सकते हैं, और शेष कृतियों पर इस दृष्टि से विचार कर सकते हैं कि वे इस टाइप की कृति या कृतियों से कितने निकट पड़ती हैं। इस तरह के अध्ययन का प्रयास एक लेखक को लेकर लिखे गये अनेक निबन्धों में पाया जाता है, हालाँकि इस तरह के अध्ययन बहुत कम हुए हैं जिनमें इसमें आने वाली समस्याओं का पूरा ध्यान रखा गया है और प्रायः इनमें लेखक की निजी जिन्दगी को समस्याओं को भी मिला दिया गया है।

दूसरी तरह का विकास-क्रम किसी कला-कृति में से कोई निश्चित विशेषता अलग करके और किसी आदर्श टाइप (चाहे यह अस्थायी आदर्श ही क्यों न हो) इसकी प्रगति का पता लगा कर किया जा सकता है। ऐसा या तो किसी एक लेखक की कृतियों में किया जा सकता है, जैसे उस तरह का अध्ययन जो क्लीमन ने शेक्सपियर के बिम्बविधान के विकास को लेकर किया था, या किसी काल या किसी राष्ट्र के समग्र साहित्य को लेकर किया जा सकता है। उस तरह की पुस्तकों में, जिस तरह की पुस्तकें जार्ज सेण्ट्सबरी ने अंग्रेजी छन्दशास्त्र और गद्य की रिद्म (लय) पर लिखी हैं, इस तरह के एक तत्व को अलग कर लिया जाता है और इसके इतिहास की खोज की जाती है।

हालाँकि सेण्ट्सबरी की पुस्तकें बहुत महत्वाकांक्षा से लिखी गयी हैं पर इनका सबसे बड़ा दोष यह है कि इन्हें छन्द और रिद्म (लय) की अस्पष्ट और पुरानी अवधारणाओं के आधार पर लिखा गया है और इनसे यह प्रमाणित किया गया है कि पर्याप्त सन्दर्भ योजना के बिना कोई विधिवत इतिहास नहीं लिखा जा सकता। इसी तरह की समस्या अंग्रेजी कविता के शब्दचयन के सिलसिले में खड़ी होगी, जिसके लिये हमें केवल जोजेफाइन माइल्स का सांख्यिकी अध्ययन उपलब्ध है, या उपस्थित होगी अंग्रेजी काव्य के बिम्ब-विधान के इतिहास में, जिस पर अभी अध्ययन करने का प्रयास भी नहीं किया गया है।

इस तरह के अध्ययनों में हैम्लेट, या डान जुआन या वांडरिंग जिऊ जैसे विषयों और आशयों को लेकर किये गये अध्ययनों को भी रख सकता है, लेकिन वास्तव में ये कुछ दूसरे किस्म की समस्याएँ हैं। किसी कहानी के अनेक संस्करणों में इस तरह का आवश्यक सम्बन्ध या सातत्य नहीं पाया जाता जैसा छन्द और शब्द-चयन में पाया जाता है। समूचे साहित्य में मेरी क्वीन आफ स्काट्स की त्रासदी जैसी किसी रचना के सभी अलग-अलग रूपों का पता लगाना राजनीतिक भावनाओं के इतिहास के लिए एक रोचक समस्या हो सकता है, और निश्चय ही इससे प्रसंगतः पसन्द या अभिरुचि के इतिहास का—यहाँ तक कि त्रासदी की बदलती हुई अवधारणाओं का भी पता चलेगा। परन्तु इसमें स्वतः ही कोई संगति या तर्कबद्धता नहीं है। इससे न तो कोई एक समस्या सामने है और न कोई आलोचना की समस्या ही स्पष्ट होती है।

साहित्यिक विधाओं और रूपों के इतिहास से कुछ और समस्याएँ पैदा होती हैं। परन्तु ये समस्यायें ऐसी नहीं कि इनका कोई समाधान ही न हो। हालाँकि क्रोचे ने विधाओं की इस पूरी अवधारणा की ही भर्त्सना करने का प्रयत्न किया, पर इसके बावजूद हमें ऐसे अनेक अध्ययन उपलब्ध हैं जो इस तरह के सिद्धान्त की भूमिका तैयार कर सकते हैं और इनसे उस तरह की सैद्धान्तिक अन्तर्दृष्टि की भी झलक मिलती है जो किसी स्पष्ट इतिहास का पता लगाने के लिए आवश्यक है। विधाओं के इतिहास की समस्या समूचे इतिहास की समस्या है; अर्थात् सन्दर्भ की किसी क्रमबद्ध योजना (इस मामले में, विधा) का पता लगाने के लिये हमें इतिहास का अध्ययन करना होगा, परन्तु अपने मस्तिष्क में चुनाव की किसी क्रमबद्ध योजना को ध्यान में रखे बिना हम इतिहास का अध्ययन नहीं कर सकते। परन्तु व्यवहारतः

हमारा तर्क-चक्र ऐसा नहीं है जिससे पार न पाया जा सके। सानेट जैसे कुछ मामलों में वर्गीकरण की किसी स्पष्ट बाह्य योजना (एक निश्चित प्रतिरूप के अनुसार लय रखने वाली चौदह पंक्तियों की कविता) का एक आवश्यक प्रस्थान-विन्दु मिल जाता है; शोकगीत (एलेजी) और ओड जैसे दूसरे मामलों में यदि हमें यह सन्देह हो कि एक जैसी भाषाओं से अधिक भाषाओं में जो एक ही वर्ग के अन्दर आती है, इस प्रभेद का कोई एक जैसा इतिहास है भी या नहीं तो इसे अनुचित नहीं कहा जायेगा। बेन जानसन की 'ओड टु हिमसेल्फ', कालिन्स की 'ओड टु इवनिंग' और वर्ड्सवर्थ की 'इन्टिमेशन्स आफ इम्मार्टेलिटी' में बहुत कम अतिव्याप्ति मालूम होती है। परन्तु कोई पैनी नजर वाला व्यक्ति यह देख सकता है कि ये सभी होरेस और पिंडर की ओडों से निकली हुई हैं, और इस तरह वह विच्छिन्न परम्पराओं और युगों के बीच सम्बन्ध-सूत्र, सातत्य का भाव निश्चित कर सकता है।

'रूपात्मक' (मार्फोलाजिकल) विधि को बहुत बड़े पैमाने पर लोक साहित्य पर घटित किया जा सकता है और किया जाना चाहिए जहाँ प्रभेद बाद के कला-साहित्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और अधिक प्रकट हैं, और जहाँ यह पद्धति कम से कम उतनी ही महत्वपूर्ण प्रतीत होती है जितनी साहित्यिक रूढ़ियों और कथानकों के इधर से उधर जाने मात्र के अध्ययन जिन्हें सामान्यतः अधिक पसन्द किया जाता है। इस दिशा में, विशेषतः रूस में, काफी अच्छे अध्ययन होने शुरू हुए हैं। जब तक क्लासिकी प्रभेदों की और साथ ही उन नये प्रभेदों की जो मध्यकाल में उत्पन्न हुए, बहुत अच्छी पकड़ न हो, तब तक कम से कम स्वच्छन्दतावादी विद्रोह तक के आधुनिक साहित्य को समझा ही नहीं जा सकता। १५०० से लेकर १८०० तक इनका मिश्रण और दूषण और संघर्ष ही साहित्य के इतिहास के अधिकांश भाग में पाया जाता है। सचाई तो यह है कि स्वच्छन्दतावादी युग ने भेदों को मिटाने और मिश्रित विधाओं का आरंभ करने की दृष्टि से जो कुछ भी क्यों न किया हो, विधाओं की अवधारणा की शक्ति को कम करके बिल्कुल हाल के साहित्य को देखना एक भूल होगी। ब्रुनेटियर और साइमण्ड्स के साहित्यिक विधाओं के इतिहासों का दोष यह है कि उनमें जैव साम्यों पर बहुत अधिक भरोसा रखा गया है। परन्तु पिछले कुछ दशकों में कुछ ऐसे अध्ययन देखने में आये हैं जिनमें अधिक सावधानी बरती गयी है। इस तरह के अध्ययनों का खतरा यह है कि ये प्रभेदों के वर्णन या अलग-अलग विवेचनों की असंबद्ध शृंखला बन कर रह जाते हैं।

अनेक ऐसी पुस्तकों की, जिन्हें नाटक या उपन्यास का इतिहास घोषित किया गया है, यही नियति रही है। परन्तु कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जिनमें किसी साहित्यिक प्रभेद के विकास की समस्या से जी नहीं चुराया गया है। शेक्सपियर तक के अंग्रेजी नाटक का इतिहास लिखते समय इसकी उपेक्षा नहीं ही की जा सकती है जिसके भीतर मिस्टिरीज़ (रहस्य-रूपक) और मारेलिटीज़ (नैतिक उपदेशों के नाटक) जैसे प्रभेदों के क्रम और आधुनिक नाटक के उत्थान की खोज **बेल कीकिंग जान** नामक मिश्रित विधा में की जा सकती है। डब्ल्यू० डब्ल्यू० ग्रेग की पुस्तक **पैस्टोरल पोएट्री एण्ड पैस्टोरल ड्रामा** यद्यपि अपने उद्देश्य की दृष्टि से केवल इसी विषय पर केन्द्रित नहीं है पर यह किसी विधा के इतिहास का बहुत अच्छा आरंभिक उदाहरण है। और इसके बाद में आकर सी० एस० लेविस की अपनी पुस्तक **ऐलिगरी आफ लव** विकास की एक सूझ-बूझ से भरी योजना का अच्छा नमूना है। जर्मनी में कम से कम दो बहुत अच्छी पुस्तकें हैं, कार्ल वीयेटर की पुस्तक **हिस्ट्री आफ द जर्मन ओड** और गन्थर मूलर की **हिस्ट्री आफ द जर्मन सांग**। इन दोनों लेखकों ने जिन समस्याओं को लिया है उन पर बहुत पैने ढंग से विचार किया है। वीयेटर तार्किक चक्र को अच्छी तरह समझते हैं, पर इससे खौफ नहीं खाते; उनका विचार है कि इतिहासकार को अन्तःप्रज्ञा से, यद्यपि तात्कालिक रूप से ही, उस विधा की अनिवार्य बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, जिसका वह विवेचन कर रहा है, और इसके बाद यह देखने के लिए कि क्या उसकी परिकल्पना सही है, उसे उस विधा के उद्गम की ओर लौटना चाहिए। यद्यपि इतिहास में उस विधा का उदाहरण अलग-अलग कृतियों में ही मिलेगा परन्तु इसकी व्याख्या में किसी कृति में पाये जाने वाले समस्त लक्षणों को नहीं लिया जायेगा। हमें विधा की कल्पना एक 'नियामक' अवधारणा के रूप में एक मूलभूत प्रतिरूप, एक रूढ़ि के रूप में करनी होगी जो वास्तविक अर्थात् प्रभावशाली हो, क्योंकि यह वस्तुतः ठोस कृतियों के लेखन को एक साँचे में ढाल देती है। इतिहास के लिए इस अर्थ में किसी विशिष्ट लक्ष्य पर पहुँचने की आवश्यकता नहीं होती कि इससे आगे किसी विधा का सातत्य नहीं बना रहेगा या भिन्नन (डिफरेन्शियेशन) नहीं होगा, बल्कि सही अर्थों में इतिहास लिखने के लिये हमें अपने मस्तिष्क में किसी कालबद्ध लक्ष्य या प्रभेद को रखना होगा।

किसी काल या आन्दोलन के इतिहास से भी बिल्कुल ऐसी ही समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। विकास के विवेचन से इस बात का पता चल गया होगा कि हम

हमारा तर्क-चक्र ऐसा नहीं है जिससे पार न पाया जा सके। सानेट जैसे कुछ मामलों में वर्गीकरण की किसी स्पष्ट बाह्य योजना (एक निश्चित प्रतिरूप के अनुसार लय रखने वाली चौदह पंक्तियों की कविता) का एक आवश्यक प्रस्थान-विन्दु मिल जाता है; शोकगीत (एलेजी) और ओड जैसे दूसरे मामलों में यदि हमें यह सन्देह हो कि एक जैसी भाषाओं से अधिक भाषाओं में जो एक ही वर्ग के अन्दर आती है, इस प्रभेद का कोई एक जैसा इतिहास है भी या नहीं तो इसे अनुचित नहीं कहा जायेगा। बेन जानसन की 'ओड टु हिमसेल्फ', कालिन्स की 'ओड टु इवनिंग' और वर्ड्सवर्थ की 'इन्टिमेशन्स आफ इम्मार्टेलिटी' में बहुत कम अतिव्याप्ति मालूम होती है। परन्तु कोई पैनी नजर वाला व्यक्ति यह देख सकता है कि ये सभी होरेस और पिंडर की ओडों से निकली हुई हैं, और इस तरह वह विच्छिन्न परम्पराओं और युगों के बीच सम्बन्ध-सूत्र, सातत्य का भाव निश्चित कर सकता है।

'रूपात्मक' (मार्फोलाजिकल) विधि को बहुत बड़े पैमाने पर लोक साहित्य पर घटित किया जा सकता है और किया जाना चाहिए जहाँ प्रभेद बाद के कला-साहित्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और अधिक प्रकट हैं, और जहाँ यह पद्धति कम से कम उतनी ही महत्वपूर्ण प्रतीत होती है जितनी साहित्यिक रूढ़ियों और कथानकों के इधर से उधर जाने मात्र के अध्ययन जिन्हें सामान्यतः अधिक पसन्द किया जाता है। इस दिशा में, विशेषतः रूस में, काफी अच्छे अध्ययन होने शुरू हुए हैं। जब तक क्लासिकी प्रभेदों की और साथ ही उन नये प्रभेदों की जो मध्यकाल में उत्पन्न हुए, बहुत अच्छी पकड़ न हो, तब तक कम से कम स्वच्छन्दतावादी विद्रोह तक के आधुनिक साहित्य को समझा ही नहीं जा सकता। १५०० से लेकर १८०० तक इनका मिश्रण और दूषण और संघर्ष ही साहित्य के इतिहास के अधिकांश भाग में पाया जाता है। सचाई तो यह है कि स्वच्छन्दतावादी युग ने भेदों को मिटाने और मिश्रित विधाओं का आरंभ करने की दृष्टि से जो कुछ भी क्यों न किया हो, विधाओं की अवधारणा की शक्ति को कम करके बिल्कुल हाल के साहित्य को देखना एक भूल होगी। ट्रुनेटियर और साइमण्ड्स के साहित्यिक विधाओं के इतिहासों का दोष यह है कि उनमें जैव साम्यों पर बहुत अधिक भरोसा रखा गया है। परन्तु पिछले कुछ दशकों में कुछ ऐसे अध्ययन देखने में आये हैं जिनमें अधिक सावधानी बरती गयी है। इस तरह के अध्ययनों का खतरा यह है कि ये प्रभेदों के वर्णन या अलग-अलग विवेचनों की असंबद्ध शृंखला बन कर रह जाते हैं।

अनेक ऐसी पुस्तकों की, जिन्हें नाटक या उपन्यास का इतिहास घोषित किया गया है, यही नियति रही है। परन्तु कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जिनमें किसी साहित्यिक प्रभेद के विकास की समस्या से जी नहीं चुराया गया है। शेक्सपियर तक के अंग्रेजी नाटक का इतिहास लिखते समय इसकी उपेक्षा नहीं ही की जा सकती है जिसके भीतर मिस्टिरीज़ (रहस्य-रूपक) और मारेलिटीज़ (नैतिक उपदेशों के नाटक) जैसे प्रभेदों के क्रम और आधुनिक नाटक के उत्थान की खोज **बेल कीकिंग जान** नामक मिश्रित विधा में की जा सकती है। डब्ल्यू० डब्ल्यू० ग्रेग की पुस्तक **पैस्टोरल पोएट्री एण्ड पैस्टोरल ड्रामा** यद्यपि अपने उद्देश्य की दृष्टि से केवल इसी विषय पर केन्द्रित नहीं है पर यह किसी विधा के इतिहास का बहुत अच्छा आरंभिक उदाहरण है। और इसके बाद में आकर सी० एस० लेविस की अपनी पुस्तक **ऐलिगरी आफ लव** विकास की एक सूझ-बूझ से भरी योजना का अच्छा नमूना है। जर्मनी में कम से कम दो बहुत अच्छी पुस्तकें हैं, कार्ल वीयेटर की पुस्तक **हिस्ट्री आफ द जर्मन ओड** और गन्थर मूलर की **हिस्ट्री आफ द जर्मन साँग**। इन दोनों लेखकों ने जिन समस्याओं को लिया है उन पर बहुत पैने ढंग से विचार किया है। वीयेटर तार्किक चक्र को अच्छी तरह समझते हैं, पर इससे खौफ नहीं खाते; उनका विचार है कि इतिहासकार को अन्तःप्रज्ञा से, यद्यपि तात्कालिक रूप से ही, उस विधा की अनिवार्य बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, जिसका वह विवेचन कर रहा है, और इसके बाद यह देखने के लिए कि क्या उसकी परिकल्पना सही है, उसे उस विधा के उद्गम की ओर लौटना चाहिए। यद्यपि इतिहास में उस विधा का उदाहरण अलग-अलग कृतियों में ही मिलेगा परन्तु इसकी व्याख्या में किसी कृति में पाये जाने वाले समस्त लक्षणों को नहीं लिया जायेगा। हमें विधा की कल्पना एक 'नियामक' अवधारणा के रूप में एक मूलभूत प्रतिरूप, एक रूढ़ि के रूप में करनी होगी जो वास्तविक अर्थात् प्रभावशाली हो, क्योंकि यह वस्तुतः ठोस कृतियों के लेखन को एक साँचे में ढाल देती है। इतिहास के लिए इस अर्थ में किसी विशिष्ट लक्ष्य पर पहुँचने की आवश्यकता नहीं होती कि इससे आगे किसी विधा का सातत्य नहीं बना रहेगा या भिन्नन (डिफरेन्शियेशन) नहीं होगा, बल्कि सही अर्थों में इतिहास लिखने के लिये हमें अपने मस्तिष्क में किसी कालबद्ध लक्ष्य या प्रभेद को रखना होगा।

किसी काल या आन्दोलन के इतिहास से भी बिल्कुल ऐसी ही समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। विकास के विवेचन से इस बात का पता चल गया होगा कि हम

दो अतिवादी दृष्टिकोणों से सहमत नहीं हो सकते, चाहे यह पारभौतिक (मेटाफिजिकल) दृष्टिकोण हो कि काल एक ऐसी सत्ता है जिसके स्वरूप को अन्तःप्रज्ञा से जाना जा सकता है या यह घोर नौमिनलिस्टिक दृष्टिकोण कि काल (पीरियड) वर्णन के लिये समय के किसी विचारणीय खण्ड का निरा भाषागत लेबल है। अतिवादी नौमिनलिज्म में यह मान लिया जाता है कि काल किसी सामग्री पर यादृच्छिक (आर्बिट्रेरी) रूप में ऊपर से लादी हुयी एक चीज है जो वस्तुतः एक दिशाहीन अविच्छिन्न प्रवाह है, और इस तरह इससे एक ओर तो हम ठोस घटनाओं की अव्यवस्था में पड़ जाते हैं और दूसरी ओर हमारे पास विशुद्ध आत्मपरक लेबल रह जाते हैं। इस दृष्टिकोण को मान लेने पर इस बात का सवाल ही नहीं रह जाता कि हम इस यथार्थ के बीच से जो अपने अपार वैविध्य के बावजूद मूलतः एक रूप है, कहाँ से विभाजन-रेखा खीचें। तो क्या इस बात का कोई महत्व ही नहीं है कि हम कालों की किस योजना को, चाहे वह कितनी भी यादृच्छिक क्यों न हो, स्वीकार करें? हम कैलेण्डर की शताब्दियों, दशकों या वर्षों के अनुसार विश्लेषणात्मक ढंग से इतिहास लिख सकते हैं। हम उस तरह का भी कोई मानदण्ड अपना सकते हैं जिसे आर्थर साइमन्स ने **द रोमाण्टिक मूवमेण्ट इन इंग्लिश पोएट्री** पर लिखी गयी अपनी पुस्तक में अपनाया है। उसने केवल उन्हीं लेखकों की चर्चा की है जिनका जन्म १८०० से पहले और मृत्यु १८०० से बाद हुई थी। इस तरह देखें तो काल एक सुविधाजनक शब्द है, किसी पुस्तक या विषय के चुनाव के लिए एक आवश्यक उपविभाजन है। यद्यपि इस दृष्टिकोण को जान-बूझ कर नहीं अपनाया जाता है; परन्तु ऐसी पुस्तकों में जिनमें शताब्दियों के बीच एक निश्चित काल-सीमा का पालन किया जाता है या जिनमें किसी विषय की बिल्कुल ठीक सीमाएँ (जैसे १७००-१७५०) निर्धारित कर ली जाती हैं, जिनका औचित्य किन्हीं सीमाओं की व्यावहारिक आवश्यकता को छोड़ कर अन्य किसी भी आधार पर सिद्ध किया ही नहीं जा सकता, यही तरीका अमल में लाया जाता है। कैलेण्डर की तिथियाँ विशुद्ध ग्रंथसूचियाँ तैयार करने की दृष्टि से बिल्कुल उचित है, जहाँ इससे उसी तरह की अभिमुखता आ जाती है जो डयूई दशमलव प्रणाली से पुस्तकालय में आ जाती है। परन्तु इस तरह के काल विभाजनों का साहित्य के इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है।

फिर भी अधिकांश साहित्यिक इतिहासों में कालों का विभाजन राजनीतिक परिवर्तनों के अनुसार किया जाता है। इस रूप में यह कल्पना कर ली जाती

है कि साहित्य का निश्चय पूरी तरह किसी राष्ट्र की राजनैतिक और सामाजिक क्रान्तियों से होता है, और कालों के निर्धारण की समस्या को राजनैतिक और सामाजिक इतिहासकारों को सौंप दिया जाता है, जिनके विभाजन और काल प्रायः और निर्विवाद रूप से बाहर से लिये हुए होते हैं। यदि हम अंग्रेजी साहित्य के इतिहासों पर दृष्टि डालें तो पायेंगे कि या तो ये सांख्यिकीय विभाजनों के अनुसार लिखे गये हैं या मात्र राजनैतिक मानदण्डों के अनुसार—अंग्रेजी शासकों के शासनकाल के अनुसार। यह सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं है कि यदि हम अंग्रेजी साहित्य के बाद के इतिहास को राजाओं की मृत्यु की तिथियों के अनुसार बाँटें तो यह कितना भ्रामक होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल के साहित्य को कोई जार्ज तृतीय, चतुर्थ और विलियम चतुर्थ के शासन कालों में विभाजित करने की बात ही नहीं सोचता; परन्तु इसके बावजूद एलिजबेथ, जेम्स प्रथम, और चार्ल्स प्रथम के शासनकालों के इतने ही कृत्रिम विभाजन आज तक चलते जा रहे हैं।

यदि हम अंग्रेजी साहित्य के अधिक हाल में लिखे गये इतिहासों पर दृष्टि डालें तो पायेंगे कि कैलेण्डर की शताब्दियों और राजाओं के शासनों में विभाजन करने का पुराना ढंग लगभग पूर्णतः लुप्त हो गया है और इनका स्थान ऐसे कालों ने ले लिया है जिनका नामकरण मानव मस्तिष्क के विविध क्रियाकलाप के आधार पर किया गया है। यद्यपि हम आज भी 'एलिजबेथ' काल और 'विक्टोरिया काल' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, परन्तु शासनकालों के बीच पुराने विभाजन यदि आज बने भी हुए हैं तो उन्होंने बौद्धिक इतिहास की एक नयी योजना के भीतर एक नया अर्थ ग्रहण कर लिया है। हम इन्हें आज भी बनाए हुए हैं, क्योंकि हम ऐसा महसूस करते हैं कि ये दोनों रानियाँ अपने-अपने काल की विशिष्टताओं की प्रतीक हैं। हम अब उस तरह के कठोर कालक्रम पर आधारित 'काल' पर बल नहीं देते जिसका निश्चय किसी शासक के राज्यारोहण और मृत्यु से होता है। हम 'एलिजबेथ काल' का प्रयोग इस रूप में करते हैं कि इसमें थियेटरों के बन्द होने से पहले (१६४२) के लेखकों को समेटा जा सके, जो इस रानी की मृत्यु के लगभग चालीस वर्ष बाद पड़ता है; और दूसरी ओर यद्यपि आस्कर वाइल्ड का जीवन विक्टोरिया के शासन काल की सीमा में पूरी तरह सिमट आता है पर हम शायद ही उसकी चर्चा विक्टोरिया युगीन लेखक के रूप में करते हों। वे शब्द जो राजनीतिक उद्गम रखते थे, अब बौद्धिक और यहाँ तक कि साहित्यिक इतिहास में एक नया

और निश्चित अर्थ ग्रहण कर चुके हैं। इसके बावजूद हमारे वर्तमान नामों की बहुरंगी व्युत्पत्ति किंचित् विक्षोभजनक है। 'रिफार्मेशन' (सुधारवाद) धार्मिक इतिहास का शब्द है; 'ह्यूमैनिज्म' (मानवतावाद) मुख्यतः पाण्डित्य के क्षेत्र का शब्द है; 'रिनेसां' (पुनर्जागरण) कला के इतिहास से लिया गया है; 'कामनवेल्थ' और 'रेस्टोरेशन' विशिष्ट राजनैतिक घटनाओं से लिये गये हैं। 'अठारहवीं शताब्दी' शब्द एक पुराना सांख्यिकीय शब्द है, जिसने 'आगस्टन' और 'नियो-क्लैसिक' (नव्य क्लासिकी) जैसे साहित्यिक शब्दों का कुछ अर्थ ग्रहण कर लिया है। 'प्री-रोमैण्टिसिज्म' (स्वच्छन्दतावाद से पूर्व) और 'रोमैण्टिसिज्म' (स्वच्छन्दतावाद) मुख्यतः साहित्यिक शब्द हैं, जबकि 'विक्टोरियन', 'एडवर्डियन' और 'जार्जियन' राजाओं के शासन काल से लिये गये शब्द हैं। इसी तरह की भ्रामक तस्वीर लगभग किसी भी दूसरे साहित्य में देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए अमरीकी साहित्य में 'कोलोनियल पीरियड' (उपनिवेश काल) एक राजनीतिक शब्द है, जबकि 'रोमैण्टिसिज्म' और 'रीयलिज्म' (यथार्थवाद) साहित्यिक शब्द हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि शब्दों के इस गड्ड-मड्ड के लिए यह तर्क किया जा सकता है कि यह भ्रान्ति स्वयं इतिहास के कारण उत्पन्न हुई है। साहित्य के इतिहासकार की हैसियत से सबसे पहले हमें स्वयं लेखकों के विचारों और संकल्पनाओं की ओर ध्यान देना होता है, उनके कार्यक्रमों और नामों की ओर ध्यान देना होता है, और इस तरह उन्हीं के अपने विभाजनों को अपना कर ही सन्तोष करना होता है। सचेतन रूप में तैयार किये गये कार्यक्रमों, और दलों और साहित्य के इतिहास में आत्म-विवेचन से उपलब्ध मूल्यों के महत्व को कम नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु 'आन्दोलन' शब्द को उस तरह के आत्म-सजग और आत्मालोचन की क्रियाओं के लिए सुरक्षित रखा जाना चाहिए जिनका वर्णन उस तरह से किया जा सके जैसे हम किसी ऐतिहासिक घटनाओं और घोषणाओं की शृंखला का करते हैं। परन्तु इस तरह के कार्यक्रम केवल उस काल के अध्ययन के लिए सामग्री मात्र होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे आलोचना का समूचा इतिहास साहित्य के किसी इतिहास के लिए एक चलती हुई कमेण्टरी का काम दे सकता है। इनसे हमें सुझाव और संकेत मिल सकते हैं, परन्तु हमारी पद्धतियों और विभाजनों का निर्धारण उनके द्वारा नहीं होना चाहिए। इसका यह कारण नहीं है कि हमारे दृष्टिकोण उनके दृष्टिकोणों से अनिवार्य रूप से अधिक अन्तर्भेदी हैं, अपितु यह है

कि हमें यह सुविधा मिली हुई है कि हम अतीत को वर्तमान के प्रकाश में देख सकें।

इसके साथ ही यह भी कहना होगा कि बिल्कुल भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आये हुए ये शब्द अपने समय में स्थापित नहीं हुए थे। अंग्रेजी में "ह्यूमेनिज्म" शब्द का प्रयोग पहली बार १८३२ में, 'रिनेसां' का १८४० में, 'एलिजबेथन' का १८१७ में, 'आगस्टन' का १८१९ में और 'रोमैण्टिसिज्म' का १८४४ में हुआ था। ये तिथियाँ आक्सफोर्ड डिक्शनरी के आधार पर रखी गयी हैं, जो संभवतः बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि 'आगस्टन' शब्द का एक अवसर पर १६९० तक में प्रयोग हुआ है; कार्लाइल ने 'रोमैण्टिसिज्म' शब्द का प्रयोग १८३१ में किया था। परन्तु इनसे इतना तो जाहिर होता है कि ये जिन कालों के लिए प्रयुक्त हुए हैं उनमें और इन शब्दों के प्रयोग के बीच समय का फर्क है। जैसा कि हम जानते हैं, रोमैण्टिक कवि अपने को कम से कम इंग्लैण्ड में 'रोमैण्टिसिस्ट' (स्वच्छन्दतावादी) नहीं कहते थे। लगभग १८४९ से ही कोलरिज और वर्ड्सवर्थ जाहिरा तौर पर स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से संलग्न हुए थे और शैले, कीट्स तथा बायरन के साथ उनका नाम लिया जाने लगा था। श्रीमती ओलिफैण्ट ने अपनी पुस्तक **लिटरेरी हिस्ट्री आफ इंग्लैण्ड बिटविन द एण्ड आफ द एटीन्थ एण्ड द बिगिनिंग आफ द नाइनटीन्थ सेंचुरी** (१८८२) में कहीं इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है, न ही वह 'लेक' पोएट्स, द 'काकनी' स्कूल, और 'सैटेनिक' बायरन की एक आन्दोलन के रूप में कल्पना करती हैं। अतः आजकल अंग्रेजी साहित्य के जिन कालों को सामान्यतः स्वीकार किया जाता है उनके लिए कोई ऐतिहासिक औचित्य नहीं है। अब तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने को बाध्य हैं ही कि ये शब्द राजनैतिक, साहित्यिक और कलात्मक नामकरणों के गड्ड-मड्ड रूप हैं, जिनके समर्थन में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता।

परन्तु यदि हमारे पास ऐसे भी कुछ काल होते जो मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास को—राजनीति दर्शन और अन्य कलाएँ आदि—साफ-साफ उपविभाजित कर सकते तो भी साहित्य के इतिहास को उन कालों को स्वीकार करके जो अलग-अलग लक्ष्यों को ध्यान में रखकर अलग-अलग सामग्रियों के आधार पर तैयार किये गये हैं, सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। हमें साहित्य की राजनैतिक, सामाजिक और यहाँ तक कि मनुष्य के बौद्धिक विकास का मात्र निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं समझ लेना चाहिए। अतः साहित्यिक कालों का निश्चय विशुद्ध रूप से साहित्यिक मानकों के आधार पर किया जाना चाहिए।

यदि हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं वे राजनैतिक, सामाजिक, कला विषयक तथा बौद्धिक इतिहासकारों से मेल खाते हैं तो इसमें कोई आपत्ति नहीं। परन्तु हमारा प्रस्थान-विन्दु हर हालत में साहित्य के रूप में साहित्य का विकास होना आहिए। इस तरह देखने पर काल किसी सार्वभौम विकास का एक उपखण्ड है। इसका इतिहास मूल्य की परिवर्तनीय योजना के सन्दर्भ में ही लिखा जा सकता है, और मूल्यों की यह योजना स्वयं इतिहास से ही ग्रहण की जा सकती है। इस तरह काल समय का एक खण्ड है, जिसमें साहित्यिक आदर्शों, मानकों और रूढ़ियों की एक व्यवस्था का बोल-बाला रहता है, और जिसके आरंभ, फैलाव, विविधरूप धारण, एकीकरण और लोप का पता लगाया जा सकता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम आदर्शों की इस व्यवस्था को अपने लिए बाध्यकर रूप में स्वीकार करें। हमें इसे स्वयं इतिहास से ही निकालना होगा; हमें वहाँ इसकी खोज वास्तविकता में उतर कर करनी होगी। उदाहरण के लिए, 'स्वच्छन्दतावाद' कोई एक अखंड गुण नहीं है जो छूत या महामारी की तरह फैले, न तो यह मात्र एक शाब्दिक लेबल है। यह एक ऐतिहासिक वर्ग है, या यदि कोई काण्ट की शब्दावली में कहना चाहे तो कह सकता है कि एक 'नियामक विचार' (अथवा कहें, विचारों का एक पूरा तंत्र है) जिसकी सहायता से हम ऐतिहासिक प्रक्रिया का अर्थ लगाते हैं। परन्तु विचारों की यह पूरी योजना हमें स्वयं इस प्रक्रिया में ही मिली है। 'काल' शब्द की इस तरह की अवधारणा उससे भिन्न है, जिसका हम प्रायः प्रयोग करते हैं, जो इसका विस्तार करके इसे एक मनोवैज्ञानिक टाइप बना देती है, जिसे ऐतिहासिक सन्दर्भ से अलग किया जा सके। इस तरह के मनोवैज्ञानिक या कलागत टाइपों के नामों जैसे स्थापित ऐतिहासिक शब्दों के प्रयोग को अनिवार्य रूप से भर्त्सना किये बिना ही, हमें यह देखना चाहिए कि साहित्य का इस तरह का प्रकार-भेद हमारे विचारणीय विषय से बिल्कुल भिन्न है—कि यह संकीर्ण अर्थ में साहित्य के भीतर नहीं आता है।

इस तरह काल एक टाइप या वर्ग नहीं है, अपितु ऐतिहासिक प्रक्रिया में निहित आदर्शों द्वारा परिभाषित और इससे अविच्छेद्य काल-खण्ड है। रोमैण्टिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) की परिभाषा करने के जो व्यर्थ प्रयत्न किये गये हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि काल तर्क के किसी वर्ग की तरह की कोई संकल्पना नहीं है। यदि यह ऐसा होता तो सभी कृतियों को इसके अन्तर्गत

लिया जा सकता था। परन्तु यह बिल्कुल असंभव है, इतना तो जाहिर ही है। कोई विशिष्ट कला-कृति किसी वर्ग का एक उदाहरण नहीं है, अपितु यह उसका एक ऐसा अंग है जो अन्य सभी कृतियों के साथ मिल कर उस काल की अवधारणा को निश्चित करती है। इस तरह यह स्वयं भी पूरे की अवधारणा को कुछ परिष्कृत करती है। अलग-अलग स्वच्छन्दतावादों के बीच, जिनकी अनेकशः परिभाषाएँ की गयी हैं, विभेद गलत सैद्धान्तिक आधारों पर मालूम होता है, भले ही ये परिभाषाएँ उस योजना की जटिलता के लक्षण के रूप में कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हों, जिनका हमें हवाला मिलता है। यह बात स्पष्ट रूप से समझ ली जानी चाहिए कि कोई काल एक आदर्श टाइप, या एक अमूर्त प्रतिरूप, या संकल्पनाओं के एक वर्ग का अनुक्रम, नहीं है, बल्कि समय का एक खण्ड है जो आदर्शों की एक व्यवस्था से प्रभावित रहता है, जिसे कोई कलाकृति पूर्णतया उपलब्ध नहीं कर सकती। किसी काल के इतिहास में आदर्शों की एक प्रणाली से दूसरे की ओर होने वाले परिवर्तनों का पता लगाया जाना चाहिए। जहाँ कोई काल समय का एक ऐसा खण्ड होता है जिसे किसी न किसी तरह की अखण्डता प्रदान कर दी जाती है, वहाँ इतना तो जाहिर ही है कि यह अखण्डता भी सापेक्ष हो सकती है। इसका अर्थ केवल यह है कि इस काल विशेष में आदर्शों की केवल एक विशेष योजना को ही पूरी तरह उपलब्ध किया जा सका है। यदि किसी एक काल की अखण्डता निरपेक्ष होती तो दो काल एक दूसरे के पास-पास बिना विकास के सातत्य के पत्थर के खण्डों की तरह रहते। इस लिए आदर्शों की एक पूर्ववर्ती योजना की अतिजीविता और आगे आने वाली योजना की प्रत्याशाएँ अपरिहार्य हैं।

किसी एक काल का इतिहास लिखने की समस्या पहले वर्णन की समस्या होगी —हमें किसी एक रूढ़ि के ह्रास और दूसरे के उत्थान को ध्यान से देखना होगा। किसी रूढ़ि में किसी विशेष क्षण में ही परिवर्तन क्यों आया, यह एक ऐसी ऐतिहासिक समस्या है जो सामान्यतः समाधान से परे है। इसका एक समाधान यह दिया जाता है कि साहित्य के विकास में एक ऐसी अवस्था आती है जब सब कुछ चुक जाता है और यहाँ एक नयी संहिता के उत्थान की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। रूसी रूपवादियों ने इस प्रक्रिया को 'आटोमेटाइजेशन' की प्रक्रिया कहा है, अर्थात् जो कवि-कौशल अपने समय में प्रभावशाली रहते हैं, वे इतने सामान्य और रूढ़ हो जाते हैं कि नये पाठक उनके आदी हो जाने पर इस बात की लालसा करने लगते हैं कि इससे कोई भिन्न

चीज आये, कोई ऐसी चीज जो पिछली चीज से बिल्कुल विपरीत हो। विकास की योजना परिवर्तन-चक्र की तरह चलती है, यह क्रान्तियों की एक शृंखला होती है जो शब्दचयन, विषयों और अन्य सभी साधनों के नये यथार्थीकरण या प्रयोगों की ओर निरन्तर बढ़ती रहती है। परन्तु इस सिद्धान्त से यह बात साफ नहीं होती कि विकास ने एक विशेष दिशा ही क्यों ली। इस प्रक्रिया की पूरी जटिलता को बयान करने के लिए निरे परिवर्तन-चक्र की व्याख्या अपर्याप्त है, इतना तो स्पष्ट ही है। उस विशेष दिशा में होने वाले परिवर्तनों की एक व्याख्या में इसका भार बाहरी हस्तक्षेपों और सामाजिक माहौल के दबावों पर लादा जाता है। साहित्यिक रूढ़ि में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन एक नये वर्ग या व्यक्तियों के एक नये समुदाय के उत्थान से पैदा होता है, जो अपनी एक अलग कला का निर्माण करता है। रूस में १९१७ से पहले के वर्ग से बिल्कुल भिन्न वर्ग आये जिनके सामाजिक लगाव बिल्कुल भिन्न किस्म के थे, और वहाँ सामाजिक और साहित्यिक परिवर्तनों के बीच निकट संबंध स्थापित किया जा सकता है। इस तरह का सहसम्बन्ध पश्चिम में इसकी अपेक्षा बहुत कम स्पष्ट है और जैसे ही हम नितान्त स्पष्ट सामाजिक भेदों और ऐतिहासिक आपदाओं से आगे बढ़ते हैं, यह सम्बन्ध टूट जाता है।

इसकी दूसरी व्याख्या यह दी जाती है कि ऐसा नयी पीढ़ी के उत्थान के साथ होता है। कूनों ने विचारों के आन्दोलनों के विषय में तर्क-वितर्क को विषय बना कर जब से अपनी पुस्तक प्रकाशित कराई (१८७२) उसके बाद से इस सिद्धान्त के अनेक बहुत कट्टर अनुयायी रहे हैं, और विशेषत: जर्मनी में पीटर्सन और वेचस्लर ने इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है। परन्तु इसके विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि यदि पीढ़ी को एक जैव सत्ता मान लें तो इससे कोई भी समाधान नहीं निकलता। यदि हम यह मान कर चलें कि एक शताब्दी में तीन पीढ़ियाँ होती हैं अर्थात् १८००-३३, १८३४-६९, १८७०-१९०० तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि पीढ़ियों की बिल्कुल इसी के समान एक दूसरी शृंखला १८००-१८३४, १८३५-७०, १८७१-१९०१ आदि, आदि भी हैं। जीव-वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर ये दोनों शृंखलाएँ बिल्कुल समान हैं; और इस बात का कारण हमें जीव-विज्ञान से बाहर कहीं और ढूंढ़ना होगा कि क्यों १८०० में पैदा होने वाली कोई पीढ़ी १८१५ के लगभग पैदा होने वाली पीढ़ी की अपेक्षा साहित्य को प्रभावित करने में अधिक समर्थ रही है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि साहित्य के इतिहास में कुछ क्षणों में परिवर्तन लाने वाले

नौजवान लगभग एक उम्र के ही रहे हैं। जर्मन स्ट्रम एण्ड ड्रंग या स्वच्छन्दतावाद इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। इस तरह के कुछ सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्यों से कुछ पीढ़ियों में एक ऐसी खास तरह की एकता पैदा हो जाती मालूम होती है कि किसी प्रभावशाली अवस्था में एक निश्चित आयु के लोग ही फ्रान्सीसी क्रान्ति या दोनों विश्व-युद्धों जैसी महत्वपूर्ण घटनाओं को अनुभव कर सकें। परन्तु यह तो केवल एक बहुत शक्तिशाली सामाजिक प्रभाव का मामला रहा। दूसरे मामलों में हम इस विषय में शायद ही शंका कर सकें कि साहित्यिक परिवर्तन पर बूढ़े साहित्यकारों की परिपक्व रचनाओं का बहुत गहरा असर पड़ा है। कुल मिला कर मात्र पीढ़ियों या सामाजिक वर्गों का परिवर्तन साहित्यिक परिवर्तनों की व्याख्या करने के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है। यह एक जटिल प्रक्रिया है जो हर अवसर पर बदलती रहती है। कुछ अंशों में यह आन्तरिक है और पिछले साहित्य के चुकने तथा परिवर्तन की आकांक्षा से उत्पन्न होती है, परन्तु साथ ही यह बाह्य भी है और सामाजिक, बौद्धिक व दूसरे समस्त सांस्कृतिक परिवर्तनों से उत्पन्न होती है।

आधुनिक साहित्य के प्रमुख कालों को लेकर ऐसा विवाद होता रहा है जो कभी खत्म ही न हो। 'रिनेसां', 'क्लैसिसिज्म', 'रोमैण्टिसिज्म', 'सिम्बलिज्म', और अभी हाल में 'बैरक' शब्दों की व्याख्यायें और पुनर्व्याख्यायें भी होती रहती हैं और उन पर विवाद चलता रहा है। तब तक इस विषय पर सहमति की कोई आशा नजर नहीं आती जब तक वे सैद्धान्तिक प्रश्न, जिनका स्पष्टीकरण करने की कोशिश की गयी है, स्वयं उलझे रहते हैं, जब तक इस चर्चा में उलझे हुए लोग वर्गीय अवधारणाओं से परिभाषाएँ करने पर बल देते रहेंगे, 'काल' सूचक शब्दों को 'टाइप' सूचक शब्दों से गड्ड-मड्ड करते रहेंगे, इन शब्दों के अर्थ-विकास के इतिहास को शैली में होने वाले वास्तविक परिवर्त्तन समझते रहेंगे। ए० ओ० लवज्वाय और दूसरे आलोचकों ने 'रोमैण्टिसिज्म' जैसे शब्दों का परित्याग करने की सिफारिश करके बहुत बुद्धिमानी का परिचय दिया है। परन्तु किसी भी काल पर की जाने वाली चर्चा से कम से कम साहित्यिक इतिहास से सम्बन्धित हर तरह के प्रश्न खड़े होंगे : शब्द विशेष का इतिहास और वास्तविक शैलीगत परिवर्तन के साथ ही साथ आलोचनात्मक कार्यक्रम; उस काल का मनुष्य के दूसरे सभी क्रिया-कलाप से सम्बन्ध; उसी काल का दूसरे देशों से सम्बन्ध। एक शब्द के रूप में रोमैण्टिसिज्म इंग्लैण्ड में बहुत बाद में आया था परन्तु वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के सिद्धान्तों में एक

नया कार्यक्रम है। जिस पर वर्ड्सवर्थ और कोलारिज तथा अन्य समकालीन कवियों के सन्दर्भ में चर्चा करनी बाकी है। इनकी शैली नयी है जिसके पूर्वरूप अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में ढूंढे जा सकते हैं। हम अंग्रेजी रोमैण्टिसिज्म की तुलना फ्रांस और जर्मनी के स्वच्छन्दतावादों से कर सकते हैं और ललित कलाओं में समानान्तर प्रवृत्तियों या तथाकथित समानान्तर प्रवृत्तियों का अध्ययन कर सकते हैं। ये समस्यायें हर काल और स्थान में भिन्न-भिन्न होंगी। इनके विषय में सामान्य नियम स्थिर करना असंभव प्रतीत होता है। कज़ामियाँ की कल्पना कि कालों का फेर-बदल आज तक तेज से तेजतर होता गया है और दोलन स्थिर होता गया है, निश्चित रूप से भ्रान्त है, और इतना ही भ्रान्त मतान्धता-पूर्ण ढंग से यह कहने का प्रयत्न है कि अमुक कला नयी शैलियों के समारंभ में दूसरों से आगे रहती है या अमुक राष्ट्र इस दृष्टि से अमुक राष्ट्र से आगे रहता है। जाहिर है कि हमें कालों के लेबल मात्र से बहुत अधिक अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। एक शब्द दर्जनों अर्थ-ध्वनियाँ लेकर नहीं चल सकता। परन्तु ऐसा सन्देहवादी निष्कर्ष भी जो इस समस्या को बिल्कुल छोड़ दे, उतना ही भ्रान्त है, क्योंकि काल की अवधारणा ऐतिहासिक ज्ञान का एक मात्र प्रमुख साधन है।

इससे भी आगे और इससे भी अधिक व्यापक समस्या है एक पूरे राष्ट्र के साहित्य का इतिहस लिखने की, जिसका सामना करना और भी कठिन है। एक कला के रूप में किसी पूरे राष्ट्र के साहित्य का इतिहास लिखना ऐसी स्थिति में बहुत कठिन है जब कि इस पूरे ढाँचे के लिए ऐसे सन्दर्भों की आवश्यकता होती है जो मूलतः गैर-साहित्यिक होते हैं। राष्ट्रीय आचार और राष्ट्रीय विशिष्टताओं के बारे में ऐसी अटकलबाजियाँ करनी होती हैं जिनका साहित्य की कला से कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। अमेरिका के मामले में, जहाँ एक दूसरे राष्ट्र के साहित्य से भाषागत भेद है ही नहीं, ये कठिनाइयाँ कई गुना बढ़ जाती हैं, क्योंकि अमरीका में साहित्य की कला का विकास अनिवार्य रूप से अपूर्ण है और आंशिक रूप में एक अपेक्षाकृत पुरानी और अधिक सशक्त परम्परा पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि साहित्य की कला का कोई राष्ट्रीय विकास एक ऐसी समस्या उपस्थित करता है जिसकी कोई भी इतिहासकार उपेक्षा नहीं कर सकता, हालाँकि इसकी जाँच-पड़ताल शायद ही कभी विधिवत् रूप में की गयी होगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अनेक साहित्यों के इतिहासों का लेखन इससे भी दूर का आदर्श है। इसके जो उदाहरण पाये

जाते हैं, जैसे जान मैकाल का **सैल्वानिक लिटरेचर्स** या लियोनार्दो ओल्सकी का मध्यकाल के समूचे रोमान्स साहित्यों का इतिहास लिखने का प्रयत्न, वे बहुत सफल नहीं हुए हैं। विश्वसाहित्य के अधिकांश इतिहास ग्रीस और रोम के एक ही स्रोत से उद्भूत होने वाले यूरोपीय साहित्य की मुख्य परम्परा का पता लगाने के प्रयत्न रहे हैं, परन्तु इनमें से कोई भी वैचारिक सामान्यताओं और सतही उलझावों से आगे नहीं जा सका है। श्लेगेल बन्धुओं ने संभवतः इस विषय पर बहुत विदग्धतापूर्ण रेखाचित्र खींचे हैं, लेकिन वे भी हमारी आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते। अन्ततः समूची साहित्यिक कला का एक सामान्य इतिहास इससे भी कठिन आदर्श है। इस दिशा में जो प्रयत्न हुए हैं वे या तो जान ब्राउन के **हिस्ट्री आफ द राइज एण्ड प्रोग्रेस आफ पोएट्री** जिसे १७६३ से शुरू किया गया है, की तरह नितान्त चिन्तनपरक और योजनापरक हैं या चाडविक के **द ग्रोथ आफ लिटरेचर** के तीन खण्डों की तरह अवरुद्ध ढंग के मौखिक साहित्य की समस्याओं से ग्रस्त रहे हैं।

जो भी हो, अभी तो हमने यह सीखना आरंभ ही किया है कि किसी कलाकृति का उसकी समग्रता में विश्लेषण कैसे किया जाना चाहिए। हमारी पद्धतियाँ अभी बहुत ही भोंड़ी हैं, और इनका सैद्धान्तिक आधार अभी निरन्तर बदलता जा रहा है। इस तरह अभी हमारे सामने बहुत कुछ पड़ा हुआ है। न यह बात किसी खेद का विषय है कि साहित्यिक इतिहास का अतीत तो है ही साथ ही साथ इसका एक भविष्य भी है, एक भविष्य जो मात्र पुरानी पद्धतियों से खोजी गयी योजनाओं के बीच की खाइयों को ही भरे या भरना चाहे। हमें साहित्यिक इतिहास के एक नये आदर्श और नयी पद्धतियों का सविस्तार विवेचन करना चाहिए, जिससे इसकी सिद्धि संभव हो सके। जिस आदर्श की रूपरेखा यहाँ दी गयी है यदि वह साहित्यिक कला के इतिहास पर जोर देने के कारण अनावश्यक रूप से 'शुद्धतावादी' प्रतीत हो तो हम यह कह सकते हैं कि दूसरे किसी तरीके को बेकार नहीं समझा गया है और पिछले दशकों में साहित्यिक इतिहास जिस विस्तारवादी आन्दोलन के दौर से गुजरा है उसके लिए केन्द्रीकरण एक आवश्यक प्रतिकार प्रतीत होता है। कोई व्यक्ति यदि चाहे तो अनेक पद्धतियों को अपनी मर्जी से मिला सकता है, परन्तु पद्धतियों के पारस्परिक सम्बन्धों की एक योजना की स्पष्ट चेतना, अपने आप में मानसिक विभ्रम की एक दवा है।

खण्ड पाँच | अकादमिक स्थिति

अध्याय बीस

कालेजों में साहित्य का अध्ययन

कम से कम पिछली एक पीढ़ी से साहित्यिक रुचि रखने वाले अमरीकियों के मन में विश्वविद्यालयों के भीतर और बाहर सर्वत्र एक बेचैनी-सी मालूम हो रही है। नौजवान सामान्यतः अंग्रेजी में डाक्टरेट की खोज में यह आशा लेकर विश्वविद्यालयों में जाते रहे हैं कि वे साहित्य का गंभीर अध्ययन कर सकेंगे। कुछ ने अनुसंधान-कार्य से अपने को विरत कर लिया; दूसरे कुछ ने अनुसंधान-कार्य का कड़वा अनुभव तो किया पर उन्होंने अपना काम बीच ही में छोड़ दिया; शेष कुछ लोगों ने सामग्री का संकलन किया पर अपनी सही दिशा से भटक गये और बहुत विलम्ब से जाकर ही उन्होंने अपने को साहित्यिक दृष्टि से अनुशासित किया, जिसका आरंभ में उनमें अभाव था।

हमारे यहाँ साहित्य के 'उच्च अध्ययन' को हो क्या गया है? क्या हमारे पास 'ऐतिहासिक पद्धति' (जो साहित्य के इतिहास से भिन्न चीज है) और अधकचरे साहित्य-प्रेम में से किसी एक को चुनने के अलावा और कोई चारा ही नहीं रह गया है? क्या यह स्थिति केवल अमरीका में ही है?

यदि हम व्याहारिक रूप से विशेषतः अपनी स्थानीय स्थितियों के विवेचन में लगाने से पहले संक्षेप में दोनों विश्व-युद्धों के बीच फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड और रूस की स्थितियों की तुलनात्मक समीक्षा कर लें तो यह परिप्रेक्ष्य हमारे लिए काफी लाभकर रहेगा।

इंग्लैण्ड में पी-एच० डी० की उपाधियों का बड़े पैमाने पर वितरण खतरे की चीज नही है, क्योंकि वहाँ विश्वविद्यालयों की संख्या आज भी अपेक्षाकृत थोड़ी है और वे अपना काम बहुत कम अध्यापकों से ही चलाते हैं। फिर भी वहाँ निरी पुरातनवादिता का ही बोलबाला है। सुना जाता है कि एक प्रभावशाली

प्रोफेसर ने कहा था कि साहित्यिक गवेषणा का भविष्य 'ग्रन्थसूची' तैयार करने में, अर्थात् उस तरह के पाठालोचन में है जिसे डब्ल्यू० ड ल्यू० ग्रेग और डोवर विल्सन ने अमल में लाया था। परन्तु इससे भी अधिक प्रभावशाली और प्रधान है वह 'फैशनेबल' परम्परा जिसमें उत्तरदायित्वहीन, लालबुझक्कड़ी और प्रभाववादी निबन्ध लिखने की हिमायत की जाती है। कुछ ऐसे प्रतिष्ठित लोग भी हैं जो हर सिद्धान्त और प्रणाली को, प्रत्येक आधुनिक और समकालीन चीज को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जिनके सबसे अच्छे उदाहरण संभवतः मैगडालेन के कुलपति डा० जार्ज गोर्डन कहे जा सकते हैं। यद्यपि ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी के किसी छात्र की शिक्षा अधिकांश अमरीकी विश्व-विद्यालयों की तुलना में अधिक साहित्यिक हो सकती है, पर किसी व्यवस्थित सिद्धान्त की तो बात ही दूर रही, हम यह भी नहीं कह सकते कि इससे उसे आलोचनात्मक प्रशिक्षण तक प्राप्त होता है। इंग्लैण्ड में बहुत कम अकादमिक प्रकाशन ऐसे हैं जो एक ओर तो विशुद्ध पुरातनवादिता से और दूसरी ओर शुद्ध साहित्यिक निबन्ध-लेखन से बच पाते हों। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वहाँ ज्योफ्री टिलटसन की तरह, जो अंग्रेजी साहित्य के इतिहास के विद्वान हैं और सैद्धान्तिक रूप में नितान्त सापेक्षतावादी होने के बावजूद काव्यशास्त्र में गहरी रुचि लेते हैं, या स्क्रुटिनी के सम्पादक एफ० आर० लेविस की तरह के, जो आलोचना के एक विशेष दल के नेता के रूप में अकादमिक फैशनपरस्ती का बहुत ओजस्वी ढंग से विरोध करते रहे हैं, या लेविस के सुयोग्य सहकारी एल० एस० नाइट जैसे कुछ लोग रहे हैं, जो परिवर्तन का आगे बढ़ कर समर्थन करते रहे हैं। ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों की यह एक बहुत बड़ी सुविधा रही है कि इनमें पढ़ने के लिए जो विद्यार्थी आते हैं वे सुसंस्कृत परिवारों के होते हैं, जिन्हें क्लासिकी भाषाओं में पहले से ही प्रशिक्षण प्राप्त रहता है। परन्तु सिद्धान्त के विषय में व्याप्त सन्देह और प्रचलित फैशनपरस्ती दोनों के मिल जाने के कारण उच्च स्तर का आलोचनात्मक अध्ययन संभव नहीं हो पाता। इसमें बहुत पहले ही सुधार हो जाना चाहिए था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक जर्मनी 'वैज्ञानिक पद्धति' और परिशुद्ध अनुसंधान का आदर्श और केन्द्र बना हुआ था। दोनों विश्व-युद्धों के बीच इसकी प्रतिक्रिया अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। हमारे मन में यह कहने का लोभ जाग्रत होता है कि जहाँ इससे पहले जर्मनों का आधार तथ्य और केवल तथ्य हुआ करता था, वहाँ वे कल्पनाओं, अटकलबाजियों, और कठोर सिद्धान्तों

पर पहुँच गये' जिसे अमरीकी मानवतावादी आज भी 'जर्मन पाण्डित्य' माने बैठे हैं, उसके विरुद्ध सर्वप्रथम प्रतिक्रिया दिखाने वाले जर्मन ही थे। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें डिल्थे और अंगर जैसे संयत और विख्यात विचारक भी थे जिन्होंने पद्धति की समस्याओं का विवेचन किया और प्रमाणवाद विषयक समस्याओं का स्पष्टीकरण किया। परन्तु विशेषतः अपने बाद के विकास में जर्मन विद्वानों ने ऐसे शानदार सिद्धान्त तैयार किये और ऐसे शब्दाडम्बर का प्रयोग किया जिनका न तो ठोस कला-कृतियों से कोई सम्बन्ध है और न ही इन्हें उन पर घटित किया जा सकता है। यहाँ तक कि नाजियों से पहले भी जर्मन सिद्धान्तकारों ने जर्मन मनस्विता और इसके रूपान्तरणों की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना आरंभ कर दिया था। परन्तु प्रमुख लेखकों, राजनैतिक विचारों को छोड़कर अन्य दृष्टियों से उनका आलोचनात्मक विश्लेषण बहुत कम ही हुआ है और सचाई तो यह है कि राष्ट्रवादी और जातिवादी मानदण्डों से बाहर जर्मन साहित्यिक पाण्डित्य नितान्त सापेक्षतावादी है। 'तुलनात्मक साहित्य' के क्षेत्र में किये गये अध्ययन कुछ अर्थों में सक्रिय हैं, पर इन पर जर्मन संस्कृति और जर्मन 'मनस्विता' हावी है। यद्यपि नाजी शासन अब समाप्त हो चुका है परन्तु उन बारह वर्षों के समय ने उन लोगों के मन पर भी अपना गहरा असर छोडा होगा जो प्राविधिक दृष्टि से इस 'आन्दोलन' से संलग्न नहीं रहे हैं। इस आन्दोलन का जातिवादी सिद्धान्त, शेष जगत से श्रेष्ठता का ऐसा भाव, जो किसी उन्मादी को ही शोभा दे सकता है, और प्रधान रूप से राजनैतिक दृष्टि-कोण जर्मनी के साहित्यिक चिन्तन में आज भी व्याप्त है और इसी से इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि आज इसे पुनः बिल्कुल एक नये आधार पर खड़ा किया जाये।

फ्रान्स में आलोचनात्मक गवेषणा की परम्परा बहुत सशक्त रही है; और अन्य किसी भी स्थान की अपेक्षा फ्रान्स की साहित्यिक गवेषणा के लिए अपने सच्चे कर्म से च्युत होने का खतरा बहुत कम रहा है। परन्तु फ्रान्स की एक खास बात यह है कि यहाँ इस तरह की शोध-ग्रन्थों की बाढ़ सी आ गयी थी। पृथुलकाय शोध-ग्रन्थों के कारण निरे शब्दाडम्बर, आलंकारिकता या सामग्री की छान-बीन किये बिना उनके प्रस्तुतीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला है और जहाँ कोई पुस्तक किसी विदेशी लेखक के विषय में लिखी गयी है, वहाँ इसमें एक-एक शब्द के अक्षरशः अनुवाद रखे गये हैं। ऐसा प्रतीत होगा कि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद फ्रान्स जर्मनी की सुव्यवस्थित अध्य-

यन-विधि से बाजी मारना चाहता था : इस प्रसंग में हमारा ध्यान रैंबले जैसे क्लासिकी फ्रेंच लेखकों की कृतियों के विस्तृत और सश्रम तैयार किये हुए संस्करणों या डैनिएल मार्ने के 'समन्वित' साहित्यिक इतिहास की ओर चला जाता है जिसमें, 'मामूली और यहाँ तक कि नगण्य लेखकों के अध्ययन की भी हिमायत की गयी है। अत: वेलरी लार्बो जैसा आलोचक भी यह प्रस्ताव रखता है कि पण्डितों को पुस्तकें लिखने की मनाही होनी चाहिए और उन्हें अपने को अपनी मूल्यवान कुंजियाँ, अपने नोट और प्रश्नावलियाँ ही छपाने तक सीमित रखना चाहिए। फ्रान्सीसियों ने व्यवस्थित साहित्यिक सिद्धान्त बहुत कम ही तैयार किये हैं और कुल मिला कर उन्होंने पद्धति विषयक चर्चा से बचना चाहा है। परन्तु इन्हीं कुछ खामियों से यह प्रमाणित होता है कि ट्यूटन अतिवाद के प्रति उनके मन में अरुचि तो थी ही, साथ ही फ्रेंच परम्परा सामान्यत: काफी स्वस्थ थी। फ्रान्स के विश्वविद्यालय आज भी माध्यमिक विद्यालयों में मानविकी में दिये जाने वाले प्रशिक्षण को अत्यावश्यक मानते हैं : वह प्रशिक्षण जो विस्तार और रुचि की दृष्टि से सीमित है, पर जिसमें व्याकरण, अलंकार, साहित्यिक अंशों की व्याख्या भी शामिल की जाती है। परन्तु अन्य देशों की ही तरह फ्रान्स में भी अनुसंधान और आलोचना का अलगाव बढ़ता जा रहा है।

रूस में, प्रथम वि-व युद्ध के ठीक पहले, रूपवादियों ने, जो पहले भाषा-वैज्ञानिकों का एक दल था, साहित्यिक अध्ययन की कार्यविधि का स्पष्टीकरण करने की दिशा में काफी काम किया, और गद्य तथा कविता के बहुत उत्कृष्ट विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं। साहित्य का साहित्य के रूप में अध्ययन करने का उनका संकल्प सराहनीय था, परन्तु साथ ही हम यह कहने को भी बाध्य हैं कि उन्होंने आलोचनात्मक समस्याओं से किनारा किया है। 'ऐतिहासिक काव्य-शास्त्र' और विकास पर बल देते हुए वे एक ऐसे नये सापेक्षतावाद पर पहुँचे हैं जिसके अनुसार साहित्यिक कृतियों का निर्णय मात्र इस आधार पर किया जाना चाहिए कि वे किस सीमा तक वर्त्तमान काव्यशास्त्र में संशोधन करती हैं, किस सीमा तक साहित्य की धारा को मोड़ने में सफल होती हैं।

आज-कल एक आन्दोलन के रूप में रूपवाद दब चुका है। इसके अधि-कांश हिमायती ऐतिहासिक उपन्यास और जीवनियाँ लिखने में लग गये हैं। साहित्यिक गवेषणा के क्षेत्र में मार्क्सवादी दृष्टिकोण हावी है। परन्तु साथ ही मार्क्सवादी विश्वासों को (जिनमें बीच-बीच में मार्क्स और लेनिन की पंक्तियाँ साक्ष्य रूप में पेश की जाती हैं) न केवल पर-परावादी ऐतिहासिक गवेषणा से

अपितु ऐसे विचारों के भी समन्वित क ने की संभावना है –इसके लिए नयी सोवियत अकादमी के रूसी, फ्रेंच, इंग्लिश और अमरीकी साहित्य के इतिहासों को देखा जा सकता है––जिनका आविर्भाव रूपवादियों ने किया था और जिनकी पद्धति भी वही है। कुल मिलाकर कहें तो सोवियत साहित्यिक गवेषणा अमरीकी साहित्यिक गवेषणा की अपेक्षा कम पुरातनवादी है और साथ ही यह जर्मन साहित्यशास्त्र की तुलना में कम सैद्धान्तिक और धुंधला है; परन्तु इसका एक दोष यह है कि यह सामाजिक उपयोगिता की संकीर्ण धारणा से ग्रस्त और साथ ही यह मूलतः या प्रधानतः 'साहित्यिक' नहीं है।

अभी इस बात की पूर्वकल्पना नहीं की जा सकती कि यूरोप की साहित्यिक गवेषणा को किस तरह पुनर्गठित किया जायेगा। इस बात की कुछ संभावना अवश्य नजर आती है कि इसका नेतृत्व खिसक कर संयुक्त राज्य में चला आया है। यहाँ का भौतिक आधार कमजोर नहीं होने पाया है, यहाँ ज्ञान के साथ ही साथ आलोचना पद्धति और आलोचनात्मक चिन्तन में अनुराग रखने वाले यूरोपीय विद्वानों को यहाँ जुटाना भी संभव रहा है; और यहाँ आलोचना का एक स्वतंत्र आन्दोलन फूटने लगा है जो दूसरे स्थानों में भी महसूस किया जाने लगा है। यहाँ इस बात का भी सुयोग है––यद्यपि यह सुयोग ऐसा है जिससे हम अपने को वंचित कर सकते हैं या जिसका दुरुपयोग कर सकते हैं––कि हम साहित्यिक गवेषणा को अधिक आलोचनात्मक आधार पर खड़ा कर सकें––निरे पुरातनवादी ज्ञान को गौण स्थान दे सकें, जो ही इसका सही स्थान है, राष्ट्रवादी और भाषावादी आंचलिकता को तोड़ सकें, गवेषणा और समकालीन साहित्य के बीच सक्रिय सम्बन्ध स्थापित कर सकें, साहित्यिक गवेषणा को सैद्धान्तिक और आलोचनात्मक अवबोध से भर सकें।

अमरीकी की साहित्यिक गवेषणा की वर्तमान हैसियत को प्रायः बहुत गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके विरुद्ध प्रायः जो आक्षेप उठाये गये हैं वे हैं बहुत सारे अकादमिक प्रकाशनों की तुच्छता, व्यर्थता, जीवन और साहित्य से उनका अलगाव; मुख्यतः परिमाणसूचक मानकों का ग्रहण; अब तक के अज्ञात और अप्रकाशित ग्रन्थों की, चाहे उनका आन्तरिक मूल्य कुछ भी क्यों न हो, भूरि-भूरि प्रशंसा; निरा तथ्यपरक परिशुद्धता से ही परितोष। विश्वविद्यालयों के लोग, बेशक, इन आरोपों को घोर शुद्धतावादी या द्वेषजनित मान कर उड़ा देते हैं। आधुनिक प्रकाशनों का समर्थन वे अनेक आधारों पर करते हैं। कभी-कभी तो वे यह तर्क तक देते हैं कि किसी भी तरह का श्रम

निरी काहिली, या बागबानी करने, गोल्फ खेलने, काकटेल पार्टियों में शरीक होने आदि जैसे निरे कालयापन के धन्धों से अधिक श्रेयस्कर है। वे यह तर्क भी देते हैं—और इस तर्क में प्रायः कुछ सच्चाई भी होती है—कि जो कुछ एक सतही जानकारी रखने वाले व्यक्ति को तुच्छ प्रतीत हो सकता है वही किसी ऐसे विशेषज्ञ को उपयुक्त लग सकता है जो इसके पूरे सन्दर्भ से अवगत है। वे दावा कर सकते हैं कि ज्ञानवर्धक तथ्यों के संग्रह (ज्ञान भंडार) से जो भय किया जा रहा है वह तो पराकाष्ठा पर पहुँच गया है—या बिल्कुल व्यर्थ है।

हमारे विचार से इस तरह की दलीलों में वास्तविक समस्या से किनाराकशी की जाती है। इस व्यवसाय का संकट इसकी गवेषणा के कारण, या इस तरह की अपरिहार्य तकनीकी बातों के कारण नहीं है जिनको देखकर बाहर का कोई आदमी इनका मखौल उड़ाता है। इसकी अपेक्षा हमें एक विशेष स्थिति से निबटना है और वह है साहित्य का अध्येता; और हमारे ख्याल से इसका निराकरण इस व्यवसाय के भीतर से ही हो सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस बात के कुछ आशाजनक लक्षण दिखाई दे रहे हैं। पिछले पच्चीस वर्षों में जो लोग इस तरह के सुधार की आवश्यकता महसूस करते रहे हैं उनकी संख्या बढ़ती चली गयी है। शिकागो विश्वविद्यालय में एक पूरे ग्रैजुएट कार्यक्रम को नये सिरे से ऐतिहासिक से आलोचनात्मक दिशा में अभिमुख किया गया है; आयोवा विश्वविद्यालय में नार्मन फास्टर के अधीन, स्कूल आफ लेटर्स ने आलोचना में एक व्यापक और आनम्य अनुसंधान-कार्य का आरंभ किया है; लगभग प्रत्येक स्थान में एक ही दिशा में कुछ न कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुए हैं। विश्वविद्यालयों में इन नये दृष्टिकोणों को अपनी अभिव्यक्ति और प्रेरणा उन नये विषयों में मिलती है जिन्हें माडर्न लैंग्वेजज एसोशिएसन के सम्मेलन में 'विशेष विषयावली' के रूप में संयोजित किया गया था। पहले विभागों को एतिहासिक कालों के अनुसार अलग अलग अनुभागों में बाँटा जाता था, इसके स्थान पर आज आलोचना को आधार बनाकर हमारे यहाँ ऐसे अनुभाग हैं जिनमें काव्यशास्त्र और सामान्य-सौन्दर्य-शास्त्र, साहित्य और समाज साहित्य और ललित कलाओं का अध्ययन किया जा रहा है। सिद्धान्त और पद्धति के ग्रन्थन की इसी चिर अनुभूत आवश्यकता से प्रेरित होकर इंग्लिश इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई है, जिसकी अब तक छह बैठकें हो चुकी हैं।

व्यावसायिक पत्रिकाओं की दुनिया में इसी तरह के परिवर्तन दिखायी दे रहे हैं। 'गवेषणात्मक पत्रिकाओं' में, जिनमें पी० एम० एल० ए० भी शामिल है,

ऐसे लेखों को अधिकाधिक स्थान दिया जाने लगा है (सिद्धान्त, साहित्यिक आलोचना, ज्वायस, प्रूस्त, और टी० एस० ईलियट जैसे समसामयिक लेखकों के अध्ययन) जिन्हें या तो पहले लौटा दिया गया होता, या ये लेख इन्हें भेजे ही नहीं गये होते। अभी हाल में स्थापित हुए कुछ पत्रों ने, विशेषतः **जर्नल हिस्ट्री आफ आइडियाज़** और **जर्नल आफ इस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म** ने बौद्धिक परिशुद्धता और शैलीगत सावधानी के नये स्तर कायम किये हैं। परन्तु 'साहित्यिक गवेषणा' की हमारी पत्रिकाओं में आलोचनात्मक और सृजनात्मक त्रैमासिक—विगत **क्राइटेरियन** और **सदर्न रिव्यू**, वर्त्तमान **स्क्रूटनी**, **सेवानी रिव्यू**, **केन्यन रिव्यू**, **पार्टिजन रिव्यू** और **एक्सेण्ट** पत्रिकाएँ भी हैं।

जो प्रकट शक्तियाँ आज पहले से चली आ रही व्यवस्था को बनाये रखने के लिए क्रियाशील हैं, उनमें सबसे प्रधान निष्क्रियता की शक्ति है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। दूसरी शक्तियों का स्वरूप संस्थागत है। अमरीकी विश्वविद्यालय ऐसे बहुत विशाल उद्यमों का रूप ले चुके हैं जिनमें अंग्रेजी और आधुनिक भाषा के अध्यापकों के बहुत बड़े स्टाफ की आवश्यकता है। इस तरह के अध्यापकों के वर्गीकरण और कोटि-निर्धारण का सबसे आसान तरीका यह है कि उन्हें मानकित उपाधियों से युक्त मानकित शिक्षा दी जाय, इसके बाद की उनकी उपलब्धियों को इस बात से मापा जाय कि गवेषणात्मक पत्रिकाओं में उन्होंने कितने लेख लिखे हैं; और इस पद्धति के स्थान पर इससे किसी कम यांत्रिक पद्धति को रख पाना, जाहिर है, बहुत कठिन पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के अतिशय प्रसार के कारण अंग्रेजी के अध्यापक बहुत अधिक संख्या में तैयार होने लगे हैं। इतिहास की ही तरह साहित्य भी बहुधा इसे व्यक्तियों द्वारा पढ़ाया जाता है, जिनका अपना कोई विशिष्ट पेशा नहीं है, वे व्यक्ति जो अध्यापक बनने के बजाय व्यापारी, वकील या उपदेशक बन सकते थे। जिस तरह आज भी दर्शन के अध्यापक से इस बात की आशा की जाती है कि वह मात्र दर्शन का इतिहासकार न होकर, स्वयं भी दार्शनिक हो, उसी तरह साहित्य के अध्यापक को भी साहित्यिक आदमी होना चाहिए। चाहे वह कवि हो, या उपन्यासकार या एक आलोचक या सिद्धान्तकार, पर उसे एक ऐसा आदमी होना चाहिए जिसे साहित्य का अनुभव हो और जो साहित्य को एक कला के रूप में मूल्यवान समझता हो। परम्परागत अर्थ में उसे साहित्य का हिमायती होना चाहिए। आज दूसरे विषय—जैसे समाजशास्त्र, मनोचिकित्सा—अपने दावे बढ़ा रहे हैं और अपने सिद्धान्तों के प्रयोग

को व्यापक बना रहे हैं। साहित्य के प्रोफेसर को साहित्यिक सिद्धान्त, दर्शन, मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धों से पूरी तरह परिचित होना चाहिए। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे विषयों के प्रतिनिधियों के सम्मुख साहित्य के स्वरूप और मूल्य के लिए तार्किक आधार प्रस्तुत कर सके। प्रख्यात फ्रेंच आलोचक अलबर्ट थाइबो ने यह सुझाव दिया है कि जिस तरह दर्शन के पीठ हैं उसी तरह साहित्य के सामान्य सिद्धान्त से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के समाधान के लिए 'साहित्य' का भी अपना पीठ होना चाहिए। यह सुझाव बहुत अच्छा है। परन्तु हम अमरीकियों को इससे भी अधिक कुछ करना चाहिए : हमें चाहिए कि हम अपने अंग्रेजी के प्रोफेसरों को साहित्य का प्रोफेसर बनाने का प्रयत्न करें।

पुरातनपन्थी लोग इसका जवाब बेशक यह देंगे कि कोई भी एक आदमी पूरे अंग्रेजी साहित्य का अधिकारी विद्वान् नहीं हो सकता, साहित्य की तो बात ही दूर रही। साहित्यिक पांडित्य में विभेद आँकड़ों की स्पष्ट सीमा निर्धारित करके ही किया जा सकता है—दर असल समय और स्थान की सीमा (एक काल, एक राष्ट्र, एक लेखक)। मानक अंग्रेजी विभागों में आज भी चासर, शेक्सपियर और मिल्टन पर और पचास या सौ वर्षों के एक काल पर एक मान्य विशेषज्ञ हुआ करता है।

गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन की वृद्धि के साथ ही साथ बिना परिप्रेक्ष्य को हानि पहुँचाये शेक्सपियर का विशेषज्ञ पण्डित बना रहना अधिक कठिन होता जाता है। ई० ई० स्टोल शेक्सपियर पर उन गिने-चुने विशेषज्ञों में से एक हैं जो इसके साथ-ही साथ एक विद्वान् भी हैं। शेक्सपियर पर हाल के सबसे व्यापक अध्ययन रखने वाले व्यक्ति स्वर्गीय ग्रैनविल-बार्कर, एक नाटककार और नाट्यसंयोजक थे, न कि एक प्रोफेसर।

परन्तु हमारा विश्वास है कि किसी विभाग में किस आधार पर विभेद होते हैं इस विषय में आजकल प्रचलित अवधारणाएँ बेहद संकीर्ण और सतही हैं। विश्वविद्यालयों को अध्यक्ष के पद पर ऐसे अच्छे से अच्छे आदमियों को ही नियुक्त करना चाहिए जो बौद्धिक और साहित्यिक दृष्टि से असाधारण पण्डित हों। कोई आवश्यकता नहीं कि मिल्टन के विशेषज्ञ के स्थान पर मिल्टन के ऊपर विशेषज्ञता प्राप्त व्यक्ति को, अर्थात् ऐसे व्यक्ति को जिसने मिल्टन पर पुस्तकें और निबन्ध प्रकाशित करा रखे हैं, ही नियुक्त किया जाये। आज कल यह मान लिया जाता है कि कोई व्यक्ति केवल तभी अध्यापन कर

सकता है जब कि उसने अपने पाठ्य-विषय से सम्बद्ध लेखक पर पुस्तक या निबन्ध प्रकाशित करा रखे हों। परन्तु हम इसके स्थान पर यह तर्क दे सकते हैं कि उसे अपना पाठ्य विषय तभी तक पढ़ाना चाहिए जब तक कि उसने उस विषय पर पुस्तकें नहीं प्रकाशित कराई हैं। उसके विचारों के विकसित हो जाने और उनके पुस्तकाकार छप जाने के बाद उन्हीं विचारों को बार-बार दुहराते रहने और व्याख्यानों में उड़ेलते रहने से कोई लाभ नहीं है।

साहित्य के एक प्रोफेसर के लिए यह संभव होना चाहिए कि वह अपनी भाषा-सीमा के भीतर उपयुक्त तैयारी करने के बाद किसी भी काल या लेखक पर लिख और पढ़ा सके। इस तरह की बहुमुखी विदग्धता के उदाहरण हैं डब्ल्यू० पी० केर, एच० जे० सी० ग्रियर्सन, और मैरियो प्राज़। स्वस्थ आलोचना लिखने के लिए 'तथ्यपरक' अनुसंधान आवश्यक नहीं है। अध्यापक आलोचक के लिए वह पकड़ अवश्य जरूरी है जो साहित्यिक अनुसंधान की पद्धतियों में प्रशिक्षित होने से उपलब्ध होती है और वह है किसी प्रकाशित शोध-प्रबन्ध की सामान्य विश्वसनीयता को परख सकने की योग्यता, अन्य साहित्यिक पण्डितों की मान्यताओं और तर्कों का विश्लेषण कर सकने की योग्यता, किसी कविता, उपन्यास या नाटक का विश्लेषण कर सकने की योग्यता।

अपने विभागों 'शेक्सपियर के विशेषज्ञों' और 'वर्ड्सवर्थ के विशेषज्ञों' को भरने के स्थान पर हमें अधिक अच्छी प्रतिभा रखने वाले और अलग-अलग पद्धतियों में प्रशिक्षित व्यक्तियों को रखना चाहिए। क्या हम व्याख्या-विश्लेषण और व्यावहारिक आलोचना में दक्ष किसी व्यक्ति को रखें? हम किसी साहित्यिक सिद्धान्तकार को रखें? हम किसी ऐसे आदमी को रखें जो दर्शन में गहरी रुचि रखता हो और दार्शनिक के रूप में प्रशिक्षित हो, ताकि सह 'विचारों के इतिहास' में दर्शन और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण कर सके? किसी कवि को रखें? या किसी ऐसे अध्यापक को रखें जो साहित्यकार होने के साथ ही साथ सामाजिक और राजनैतिक मसलों में सक्रिय रुचि लेता हो? या किसी 'कैथोलिक बुद्धिजीवी' को रखें? या किसी ऐसे आदमी को रखें जो आधुनिक मनोविज्ञान और मनोचिकित्सा में निष्णात हो? या ऐसे लोगों को रखें जो नाटक, उपन्यास, कविता आदि साहित्यिक विधाओं के सहानुभूतिप्रवण प्रतिनिधि हों?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हमारे विभाग अंग्रेजी के प्रोफेसरों की अपनी अवधारणा में परिवर्त्तन लावें तो उस विशेष विश्वविद्यालय के और

दूसरे विश्वविद्यालयों के बूढ़े लोग यह शिकायत करेंगे कि शिक्षा का स्तर या तो गिर गया है या बिल्कुल ही समाप्त हो गया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस तरह के सारे पछतावे तथ्यपरक नहीं होते अपितु मूल्यगत निर्णय हुआ करते हैं। यदि १९३० में किटरेज कार्यविरत हुए होते और उनके स्थान पर टी० एस० ईलियट को नियुक्त किया गया होता तो संभवतः हार्वर्ड के अधिकांश पी-एच० डी० के छात्रों ने यही शिकायत की होती कि हार्वर्ड का स्तर गिर गया है। जाहिर है कि स्तर बदला तो होता ही। जब प्रोफेसरों के विषय में हमारे मानक अधिक साहित्यिक होंगे तो हमें ऐसी बहुत सी चीजों का बलिदान करना होगा जिन्हें आज तक अपरिहार्य समझा जाता रहा है, परन्तु इसके साथ ही हम उनसे कुछ नये ढंग की माँग भी करने लगेंगे।

अब हम अध्यापकों की नियुक्ति और पदोन्नति से आगे बढ़ कर भावी अध्यापकों के प्रशिक्षण की बात करेंगे, जो इसी से जुड़ा हुआ प्रश्न है और एक निश्चित सीमा तक इसकी पहली शर्त है। हम पी-एच० डी० के उम्मीदवारों के प्रशिक्षण में बहुत व्यापक सुधार पर बल देते हैं। मोटे तौर पर इसके दो उपाय संभव लगते हैं। पहली बात तो यह कि अध्यापक और अध्येता में स्पष्ट भेद कर लेना होगा। छोटी और मामूली ढंग की संस्थाएँ—संभवतः अधिकांश कालेज—आज जिस 'पाण्डित्यपूर्ण अनुसंधान' का दावा करते हैं, उसे वे छोड़ देंगे। डाक्टरेट —या कम से कम पी-एच० डी०—में जो कुछ प्रस्तुत करने का दावा किया जाता रहा है, उसे सच्चे अर्थों में प्रस्तुत किया जा सकेगा। इस उपाधि से विभूषित लोग ऐसे विशेषज्ञ होंगे जिन्हें पुस्तकालयों की सुविधाएँ प्राप्त होंगी, और जो प्राथमिक शिक्षण कार्य से मुक्त हो अपना समय अपने निजी अध्ययन में और अपने उत्तराधिकारियों के प्रशिक्षण में लगायेंगे।

यह नया 'उच्च' पी-एच० डी० फ्रेंच **डाक्टर एस लेटर्स** या **हैबिलिटेशन** या जर्मन **प्राइवेटडोजेण्ट** से मिलती-जुलती चीज होगा। इसके अतिरिक्त 'अध्यापन' की भी एक उपाधि होगी, जो साफ शब्दों में कहें तो उपयोगितावादी उपाधि होगी, जिसे कालेज के भावी अध्यापन के लिए उपयोगी बातों को ध्यान में रखते हुए दिया जायेगा, और संभव है इसके लिए शिक्षाशास्त्र का या संभवतया 'व्यावहारिक अध्यापन' का पाठ्यक्रम भी पूरा करना जरूरी हो। हालाँकि इससे वर्तमान स्थिति की कुछ बुराइयाँ दूर हो जायेंगी, पर यह समाधान सन्तोषजनक नहीं होगा, और संभावना तो इस बात की भी है कि इससे शिक्षा और साहित्य के बीच की दूरियाँ और भी बढ़ जायें। 'उच्च'

पी-एच० डी० अधिक तकनीकी और पुरातनवादी उपाधि बन जायेगी; अध्यापन की उपाधि शुद्ध व्यावसायिक और नितान्त कठोर बन जायेगी।

दूसरा उपाय जो इसके ठीक विपरीत है, परन्तु जो भी लोकतांत्रिक है, इससे अधिक निरापद प्रतीत होता है। इसमें पी-एच० डी० की दिशा इस तरह बदल दी जाये कि इससे विभूषित व्यक्ति किसी एक काल का विशेषज्ञ नहीं रहेगा, अपितु एक सुपठित पेशेवर व्यक्ति होगा, एक ऐसा व्यक्ति जो अंग्रेजी और अमरीकी साहित्य पढ़ाने के अतिरिक्त साहित्य-सिद्धान्त की भी जानकारी रखता हो, गवेषणा और आलोचना के रूपों से भी अवगत हो, जो प्रभाववाद और 'व्यक्तिगत आस्वाद' की आड़ लिये बिना अपनी कक्षा में पुस्तकों का विश्लेषण कर सके और उन पर विचार-विमर्श कर सके। स्नातकोत्तर अध्ययन का इस तरह का कार्यक्रम धीरे-धीरे आरंभ किया जा सकता है। इसके लिए उपयुक्त साधन जुटते चले जा रहे हैं।

भाषा विषयक अपेक्षाओं में आमूल परिवर्तन किया जाना चाहिए। हमारे विचार से आधुनिक भाषाओं की मध्यकालीन अवस्थाओं की और लैटिन की जो आम तौर से बेमन की शिक्षा प्राप्त की जाती है उसका आधुनिक साहित्यों के छात्र के लिए कोई विशेष महत्व नहीं है। परन्तु इसका मतलब क्लासिकी भाषाओं में सचमुच गहन अध्ययन को हतोत्साहित करना नहीं है, न ही इसका आशय प्राचीन फ्रेंच या प्राचीन नार्स और साथ ही साथ लैटिन के महत्व को मध्यकालीन साहित्य और संस्कृति में विशेषज्ञता प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए घटाना है। बेशक हमें भाषाविज्ञान के वैज्ञानिक मूल्य में कोई सन्देह नहीं है, जिसका अपना अलग तार्किक आधार और अपनी समस्यायें हैं और जिसे विद्यार्थियों को अपनी पद्धति की शिक्षा देनी चाहिए। परन्तु हमें ऐसा लगता है कि यह नये ढंग का पी-एच० डी० यदि एक या दो आधुनिक भाषाओं से अच्छी तरह परिचित रहें तो उसे अधिक लाभ होगा। फ्रेंच और जर्मन में आजकल जो परीक्षाएँ ली जाती हैं उनमें अंग्रेजी साहित्य से सम्बन्धित गद्य का कुछ अंश पढ़ने की योग्यता देखी जाती है। यह धारणा निश्चय ही निन्दनीय है कि जर्मन और फ्रेंच रसायनी और भौतिकीविद की ही तरह विद्वानों के लिए भी आवश्यक विषय हैं, कि ये वैज्ञानिक संचार का माध्यम हैं।

आज हमारी भाषा विषयक अपेक्षाएँ बहुत आसान, बहुत एकरूप हैं और ये यथेष्ट रूप में साहित्यिक नहीं हैं। साहित्य के हमारे छात्र को फ्रेंच या जर्मन या इटालवी या यहाँ तक कि स्पेनी या रूसी भाषा इतनी अच्छी तरह आनी

चाहिए कि वह इनमें से एक या दो भाषाओं की कविताएँ और कहानियाँ साहित्यिक समझ-बूझ के साथ पढ़ सके। यदि वह रसीन और बादलेयर, या गेटे और रिल्के से परिचित हैं—जिसका बेशक यह अर्थ हुआ कि वह दूसरे जर्मन और फ्रेंच कवियों का अध्ययन करने में समर्थ हैं—तो अंग्रेजी कविता की उसकी समझदारी काफी बढ़ जायेगी (यह ज्ञान-वृद्धि 'स्रोतों' और 'प्रभावों' के रूप में नहीं अपितु साम्य और वैषम्य के रूप में होगी) और आधुनिक साहित्यिक आन्दोलनों के सीधे सम्पर्क में आ जायेगा, जिन्हें न तो किसी एक-एक भाषा के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए, न तो समझा ही जा सकता है। इस तरह राष्ट्रीय साहित्यों के बीच की उन चहारदीवारियों को घटा पाना मुमकिन हो सकेगा जिनके कारण साहित्यिक इतिहास का एक साथ समग्र अवलोकन नहीं किया जा सकता, और यदि ऐसा हो जाये तो 'सामान्य साहित्य' के आदर्श की काफी हद तक सिद्धि हो जायेगी।

हमारी वर्त्तमान ग्रैजुएट पाठ्यचर्या में दो तरह के पाठ्यक्रम रखे जाते हैं—एक कालों से सम्बन्धित और दूसरा लेखकों से सम्बन्धित, और ये दोनों (व्यवहारतः) साहित्यिक इतिहास की शिथिल परिकल्पना के उदाहरण हैं और हमारे यहाँ प्रमुख कालों और लेखकों से सम्बन्धित एक अनिवार्य पाठ्यक्रम की बात सोचने की भी प्रवृत्ति है। शिक्षा के इस पाठ्यक्रम-सिद्धान्त के साथ ही साथ 'ऐतिहासिक पद्धति' के एकान्तिक नियम इन दोनों को चुनौती दी जानी चाहिए। ग्रैजुएट स्कूल इसलिए बने हैं कि वे साहित्यिक दृष्टि से गंभीर छात्रों को साहित्यिक अध्ययन के लक्ष्यों और पद्धतियों से अवगत करा सकें और उनके अध्ययन और लेखन का आलोचनात्मक पर्यवेक्षण कर सकें। इस तरह की अवधारणा में 'गवेषणा' और 'आलोचना' जिस अर्थ में (अमरीकी आमतौर से इन दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं) दोनों को शामिल किया जाता है और बीसवीं शताब्दी से पहले के साहित्य और 'समकालीन साहित्य' के अध्ययन की विधियों में यह फर्क नहीं किया जाता।

पाठ्यचर्या की अपेक्षाओं को ध्यान में रख कर हमें अनेक 'तरह' के पाठ्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। इनमें से एक किसी काल से सम्बन्धित पाठ्यक्रम होगा जिसे किसी एक ही साहित्य तक सीमित करने की आवश्यकता नहीं है। 'बौद्धिकता का युग', या 'स्वच्छन्दतावादी युग' में कम से कम फ्रान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड और अमरीका का सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। विशेष कवि के पाठ्यक्रम में उसका गहन अध्ययन और व्याख्या होनी चाहिए—या सच

कहें तो ऐसा करना अनिवार्य समझा जाना चाहिए। परन्तु इस तरह जिन लेखकों का चुनाव किया जाये वे सदा एक ही न हों, न तो वे तीन या चार महान लेखक हो, साथ ही वे सदा बहुत प्राचीन भी न हों। एक पाठ्यक्रम विधा का होना चाहिए, जो इतना व्यापक न हो जैसे 'अंग्रेजी उपन्यास' परन्तु इसे इस रूप में भी न रखा जाये कि यह असम्बद्ध विश्लेषणों की एक शृंखला बन कर रह जाये। एक पाठ्यक्रम साहित्य-सिद्धान्त का होना चाहिए। एक ज्ञान-सत्र (सेमिनार) साहित्य को समझने की विभिन्न दृष्टियों—जीवनीपरक, समाजशास्त्रीय, और वैचारिक—का अध्ययन करने के लिए हो: इसमें साहित्य और ललित कलाओं के तथा साहित्य और दर्शन के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाये।

शोध-प्रबन्ध की परिकल्पना उतने ही लचीले ढंग से की जाये जैसे हम साहित्य की व्यावसायिक विशिष्टता की परिकल्पना करते हैं। यह किसी व्यक्ति के व्यावसायिक प्रशिक्षण का अनन्य अंग हो और इस रूप में यह अपने पाठक को—निरे औपचारिक विभागीय 'पाठक' को नहीं—इसके लेखक की बौद्धिक उत्कृष्टता का सच्चा उदाहरण प्रस्तुत कर सके। विषय देते समय ऐसा नहीं किया जाये कि प्रस्तोता प्रोफेसर व्यावसायिक रूप में जिस क्षेत्र से सम्बद्ध है उसके किसी एक विषय की रूपरेखा तैयार करके छात्र को काम करने को दे दे; इसकी अपेक्षा इसका प्रस्ताव उम्मीदवार स्वयं करे और परामर्शदाता उसमें इस तरह की काट-छाँट कर दे ताकि यह अधिक उपयुक्त और बौद्धिक दृष्टि से अधिक लाभकर हो जाये। किसी शोध-प्रबन्ध की लम्बाई और साक्ष्य-संग्रह या साक्ष्य संग्रह की मात्रा—रूढ़ नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक विषय का अपना अलग तर्क होता है, उसकी अपनी लम्बाई होती है। निरा श्रम और सहनशक्ति बौद्धिक गुण नहीं हैं; और सिर्फ उद्धरणों को जोड़-तोड़ कर ही कोई पुस्तक नहीं तैयार हो जाती।

क्या शोध-प्रबन्ध प्रकाशित भी होना चाहिए, यदि हाँ तो कब और कैसे? पूरा शोध-प्रबन्ध या इसका प्रमुख अंश उपाधि-वितरण के जल्द बाद प्रकाशित हो जाना चाहिए। यह बात वांछनीय नहीं लगती कि दस-पन्द्रह साल तक किसी शोध-प्रबन्ध को सुधारने और संवारने में ही लगा दिया जाये और इसके बाद यह उस लेखक की एक मात्र प्रकाशित रचना रह जाये। अप्रेण्टिसी को प्रौढ़ावस्था तक नहीं चलने दिया जाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति में स्वतंत्र अध्ययन और लेखन की क्षमता नहीं है तो उसे यह आत्मज्ञान नसीब नहीं होना चाहिए।

अनुसंधान करने वाले किसी छात्र की सफलता या असफलता के लिए आजकल शोधप्रबन्ध और सामान्य परीक्षा दोनों पर समान रूप से बल नहीं दिया जाता है, पर इसके लिए इन दोनों पक्षों पर समान बल दिया जाना चाहिए। सामान्य परीक्षा (मौखिक और लिखित दोनों, और यह तीन घण्टे की जगह तीन दिन में ली जानी चाहिए) पास कर लेने के बाद शोध-प्रबन्ध पर सक्रिय काम शुरू होना चाहिए। सामान्य परीक्षा तथ्यपरक और ऐतिहासिक होने के साथ ही साथ आलोचनात्मक अर्थात् व्याख्यापरक और मूल्यांकनपरक भी होनी चाहिए। कुछ विश्वविद्यालयों में इनके लिए अलग-अलग प्रश्न-पत्र, एक ऐतिहासिक और दूसरा आलोचनात्मक रखना अधिक चतुराई का काम होगा; परन्तु यदि इसका यह अर्थ लगाया जाय कि साहित्य के इतिहास और आलोचना में कोई वास्तविक विच्छेद है तो इस तरह का अलगाव गलत होगा। अन्त में जो मौखिक परीक्षा ली जाती है उसे या तो छोड़ दिया जाना चाहिए या यह शोधप्रबन्ध पर चर्चा तक ही सीमित रहनी चाहिए। इसे सामान्य परीक्षा के रूप में ग्रहण करें तो कहना होगा कि इस समय तक छात्र की अवस्था परीक्षा की नहीं रह जाती है। इसकी योजना इतने दोषपूर्ण ढंग से की जाती है कि इसमें केवल छिट-फुट जानकारियों की ही जाँच हो पाती है।

यूरोप के कुछ विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० के प्रत्येक प्रत्याशी को, चाहे वह लैटिन में अनुसंधान करना चाहता हो या रसायन-विज्ञान में, दर्शनशास्त्र की दो घण्टे की मौखिक परीक्षा (यूरोपीय दर्शन का इतिहास, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा) में उत्तीर्ण होना होता है। इसका आशय बहुत ही स्वस्थ है। विद्वान्-विशेषज्ञ को सर्वतोभावेन एक 'शिक्षित व्यक्ति' भी होना चाहिए, उसे अपने विषय के दर्शन से सम्बन्धित बातों की भी कुछ जानकारी होनी चाहिए, मानव ज्ञान, चिन्तन और सभ्यता के समूचे ढाँचे में इसका ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक स्थान क्या है इसका उसे पता होना चाहिए। साहित्यिक व्यक्तियों के लिए इसका अर्थ होगा सौन्दर्यशास्त्र और साथ ही इसका एक उपविभाजन काव्यशास्त्र। कभी-कभी (जैसे डेस्वायर के समय में बर्लिन विश्वविद्यालय में और बोमैन के समय में प्रिन्सटन विश्वविद्यालय में) पी-एच० डी० के सभी प्रत्याशियों को दर्शनशास्त्र पर एक व्याख्यानमाला सुननी होती थी जिसका आयोजन विशेष रूप से उन्हीं के लिए किया जाता था। जो भी हो, इस तरह की व्याख्यानमाला से अधिक अच्छा यह रहे कि प्रत्येक छात्र को अलग-अलग पुस्तकें पढ़ने का सुझाव दिया जाय और उसके इस अध्ययन की मौखिक जाँच

दर्शन विभाग के प्राध्यापकों द्वारा की जाय। जरूरत इस बात की नहीं है कि उन्हें मानव-ज्ञान की कल्पित एकता के विषय में उपदेश पिलाया जाय, अपितु हमारी शिक्षा के उच्चतम स्तर पर तर्कशास्त्र, प्रमाणवाद, सेमिआटिक्स में समग्र ज्ञान को एकीकृत करने के एक वास्तविक अनुशासन की आवश्यकता है। किसी विद्वान् की दूसरे विद्वान् से किसी सम्मानजनक स्तर पर अपनी बात कह पाने की भयानक असमर्थता; किसी विशेषज्ञ की अपने या किसी दूसरे क्षेत्र के विशेषज्ञ से अपने अनुसंधानों की मान्यताओं और स्वीकृतियों को बता पाने की असमर्थता : ये किसी संस्कृति के विघटन के माने हुए लक्षण हैं। यद्यपि सेमिआटिक्स या दर्शनशास्त्र के बल पर दुनिया को एक में बाँधकर नहीं रखा जा सकता, परन्तु अभी जितना विघटन होने से रह गया है, उसे वैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और मानविकी के विशेषज्ञों के बीच बौद्धिक आदान-प्रदान से काफी सीमा तक रोका जा सकता है।

अंग्रेजी की डाक्टरेट में सुधार लाने के लिए जो शिफारिशें यहाँ की गयी हैं उन्हीं को बहुत थोड़े से हेर-फेर के साथ दूसरे आधुनिक साहित्यों पर भी लागू किया जा सकता है। यहाँ तक कि यदि ग्रीक और लैटिन की पुरातनवादिता पर बहुत अधिक बल न दिया जाये और भाषा-तत्व के अध्ययन को इतना महत्व न दिया जाये तो इनमें भी नयी जान डाली जा सकती है। यदि मध्यकालीन भाषाओं और भाषा-विज्ञान की अपेक्षाओं में बहुत कमी ला दी जाये और साहित्यिक सिद्धान्त और आलोचना पर आज की अपेक्षा बल दिया जाये तो फ्रेंच (या जर्मन या स्पैनिश) साहित्य का छात्र भी इससे अधिक लाभान्वित हो सकता है, उसे अपने साहित्य के साथ एक दूसरे विषय के रूप में अंग्रेजी साहित्य का चुनाव करना चाहिए जिसके बल पर उसे पूरे यूरोपीय साहित्य को समझने और सीखने में सहायता मिल सकती है। यह अवस्था बहुत ही दोषपूर्ण है कि फ्रेंच, जर्मन और स्पेनी के अधिकांश अध्यापक अपने निजी या अपने छात्रों के देश के साहित्यों से सर्वथा अपरिचित रहते हैं। फ्रेंच और अंग्रेजी, जर्मन और अंग्रेजी, स्पेनी और अंग्रेजी के संयोग से इस बातकी कुछ आशा की जा सकती है कि इससे सांस्कृतिक आंचलिकता टूटेगी, और यहाँ तक कि इससे फ्रेंच, जर्मन और स्पेनी के अनेक अध्यापकों में जो अपनी भाषा के प्रति अतिशय मोह का भाव पाया जाता है, वह भी इससे खत्म होगा।

सुधार के हमारे प्रस्तावों में यह बात भी शामिल है कि कम से कम तुलनात्मक साहित्य की बड़ी संस्थाओं में इस बात की भी गुंजायश है कि उनको

सामान्य या अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य या मात्र साहित्य का विभाग बनाया जा सके। यहाँ अधकचरे साहित्य-प्रेम या भावुकतापूर्ण प्रसार का बहुत बड़ा खतरा है। स्थापित साहित्यों के साहित्य-व्यवसायी प्रायः यह अनुभव करते रहे हैं कि इस तरह के अध्ययनों से भाषा विशेष के भाषावैज्ञानिक, भाषाशास्त्रीय और ऐतिहासिक प्रशिक्षणों के श्रम से बचने का एक रास्ता निकल आता है। परन्तु यदि घटिया पुरातनवादिता से पलायन को साहित्यिक सिद्धान्त और आलोचना के प्रशिक्षण से पूरा किया जा सके तो इसमें कोई हानि नहीं है। उनमें भाषा विषयक बहुत अच्छे ज्ञान की माँग करके अधकचरे ज्ञान से बचाव का एक रास्ता निकाला जा सकता है। हमारा ध्यान साहित्य की ओर ही केन्द्रित होना चाहिए परन्तु इसकी परिधि के भीतर किसी छात्र से उतनी ही अधिक जानकारी की माँग की जा सकती है जितनी किसी एक साहित्य के छात्र से की जाती है। इस बात का क्या तर्क है कि जर्मन और अंग्रेजी को या अंग्रेजी और फ्रेंच को एक दूसरे से न मिलाया जा सके? रोमान्स भाषाओं के विभाग में फ्रेंच और स्पेनी या फ्रेंच और इटालवी का या यहाँ तक कि इन तीनों प्रमुख भाषाओं का अध्ययन करना संभव रहता है, यहाँ तक कि इसे आवश्यक तक माना जाता है।

तुलनात्मक साहित्य के विभागों में आधुनिक साहित्यों में आई हुई क्लासिकी परम्परा का भी अध्ययन करने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए; यह एक ऐसा विषय है जिसका बहुत विधिवत् अध्ययन किया जाना चाहिए। तुलनात्मक साहित्य के विभाग साहित्य-सिद्धान्त के अध्ययनों के, उस तरह के अध्ययनों के जिन्हें किसी एक भाषा तक सीमित नहीं किया जा सकता, विशेष संरक्षक बन सकते हैं। आलोचना के किसी भी ऐसे इतिहास को, जिसमें कम से कम अरस्तू, पुनर्जागरण काल के इटली के आलोचकों, और सत्रहवीं शताब्दी के फ्रेंच आलोचकों का हवाला ही न दिया गया हो, आलोचना का इतिहास नहीं कहा जा सकता। इसके बावजूद यदि समग्र साहित्य को अंग्रेजी साहित्य की परिधि में लिया जाये तो इसे अंग्रेजी आलोचना का इतिहास कहा जा सकता है। तुलनात्मक साहित्य का विभाग ऐसे अध्यापकों के प्रशिक्षण का भार भी अपने ऊपर ले सकते हैं जिनकी आज बहुत आवश्यकता है, और जिन्हें इस दृष्टि से तैयार किया जायेगा कि वे महान् ग्रन्थों, मानविकी के विषयों और विश्वसाहित्य की अमूल्य रचनाओं का ज्ञान अपने छात्रों को करा सकें। ये विषय अमरीका में आज भी पढ़ाये जाते हैं परन्तु इन्हें पढ़ाने वाले

अध्यापक इस काम के लिए बिल्कुल अनाड़ी हुआ करते हैं। इस तरह यह विभाग सुधार का केन्द्र बन सकता था, जो अभी मुख्यतः अंग्रेजी विभाग तथा अन्य आधुनिक भाषाओं के भीतर चलाया जा सकता था, वह सुधार जिसे संक्षेप में कहें तो अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन भाषाशास्त्र में पी-एच० डी० होने की आवश्यकता नहीं रहेगी, बल्कि मात्र साहित्य का पी-एच० डी० होना होगा।

हम इस अभिमुखीकरण की माँग किसी अस्पष्ट और सूक्ष्म आदर्शवाद के अनुसार नहीं कर रहे हैं। यदि हम उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञानवाद की कुछ अवधारणाओं को—परमाणुवाद, अतिवादी नियतिवाद, सन्देहवादी सापेक्षतावाद—अस्वीकार करते हैं तो हमारी बात भौतिक और सामाजिक विज्ञानों से मेल भी खाती है, क्योंकि इनके प्रतिरूप (पैटर्न्स), क्षेत्र (फील्ड्स) तथा गेस्टाल्ट की क्रान्तिकारी संकल्पनाओं ने परमाणुवाद की प्राचीन संकल्पनाओं को अतिक्रान्त कर दिया है, और अब इन संकल्पनाओं के साथ नियतिवाद भी सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं रह गया है। सिद्धान्त और आलोचना के अध्ययन की ओर मुड़ना न तो 'आदर्शवादी' है और न ही अमरीका की प्रकृति के विरुद्ध।

विगत कुछ वर्षों की शिक्षा इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है कि इसने समस्त गंभीर मूल्यों को विज्ञान और इसके परिणाम स्वरूप मानविकी के विषयों को कूटविज्ञान या उत्तरदायित्वहीन उदारतावाद की अवस्था में पहुँच दिया। हम न तो इस उन्नीसवीं शताब्दी की प्रमाणमीमांसा को स्वीकार करते हैं, और न ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि ललित कलाओं की ओर अब गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु हम साहित्य के प्रोफेसरों को पहले की तरह अपनी पंडितम्मन्यता और अधकचरे ज्ञान की मिली-जुली संपदा को लेकर ही तुष्ट नहीं बना रहना चाहिए। हमारे विश्वविद्यालयों में साहित्य का अध्ययन—हमारा अध्यापन और लेखन—सोद्देश्य रूप से साहित्यिक होना चाहिए। इसे 'अनुसंधान' के व्योरों में आनन्दमग्न रहने के स्थान पर अपना ध्यान साहित्यिक इतिहास और साहित्यिक सिद्धान्त की अनसुलझी समस्याओं की ओर मोड़ना चाहिए। इसे आधुनिक आलोचना और समकालीन साहित्य से—एक सजीव संस्था के रूप में साहित्य में भाग लेने से—प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए।